वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा

डाक्टर सत्यप्रकाश, डी. एस-सी.
प्रयागविश्वविद्यालय



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

सम्मेलन-भवन

पटना—३

प्रथम संस्करण वि० सं० २०१०; सन् १९५४

मूल्य ७) : सजिल्द ८)

मुद्रक

ओम् प्रकाश कपूर

ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, बनारस, ४३७६-१०

वक्तव्य

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद ।
यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

—'बृहदारण्यकोपनिषद्'

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, ज्ञान-विज्ञान के भिन्न अंगों पर मौलिक एवं अनुशीलन-परक ग्रंथों के निर्माण तथा प्रकाशन में सतत संलग्न है। परिषद् की स्थापना अगस्त, १९५० में हुई है। तब से अबतक के इस छोटे-से कार्यकाल में इसने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन अपने हाथों में लिया, जिनमें पाँच तो अबतक प्रकाशित हो चुके हैं, और अन्य पाँच, आशा है, हम शीघ्र ही साहित्यिक जगत् के सामने प्रस्तुत कर सकेंगे। हमारे लिए प्रसन्नता और गौरव का विषय है कि हमारी प्रकाशन-सम्बन्धी योजना में हिन्दी-जगत् के मननशील लेखकों और विश्रुत विद्वानों का सहयोग पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सका है।

प्रस्तुत रचना परिषद्-द्वारा आयोजित भाषणमाला के रूप में हमारे सामने आई थी। नियमानुसार परिषद्, प्रतिवर्ष, दो या तीन विशेषज्ञ विद्वानों के द्वारा, विशिष्ट विषयों पर भाषण कराती है और उसे ग्रन्थाकार प्रकाशित करती है। प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ० सत्यप्रकाश ने 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा' विषय पर पाँच भाषण १७ फरवरी से २१ फरवरी, १९५३ ई० तक दिये थे। उन्हीं भाषणों को ग्रन्थरूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रगति के क्रम में जिस अनुपात से आलोचना, उपन्यास, नाटक, कहानी, कविता आदि का निर्माण हो रहा है, उस अनुपात में वैज्ञानिक विषयों पर उच्चकोटि के ग्रन्थों का नहीं। ऐसी स्थिति में डॉ० सत्यप्रकाश के प्रस्तुत ग्रन्थ का हम विशेषरूप से स्वागत करते हैं। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के उच्चवर्गीय अध्ययनाध्यापन के लिए उपयुक्त विज्ञान-विषयक ग्रन्थों की दरिद्रता, राष्ट्र-भाषा के विकास में बाधक सिद्ध हो रही है। प्रस्तुत रचना इस अभाव की भी पूर्त्ति करने में समर्थ होगी।

विद्वान् लेखक ने अपने ग्रन्थ में वैदिककाल से आरम्भ करके भारतीय साहित्यिक निधि का मंथन कर, उसमें से विज्ञान के भिन्न-भिन्न अंगों के सम्बन्ध में प्राप्य सामग्री

का संचय किया है और उसे समन्वितरूप में हमारे सामने पिरोकर प्रस्तुत किया है। इस बहुमूल्य सामग्री के आधार पर हमें यह विश्वास होता है कि ज्यों-ज्यों अधिकाधिक मात्रा में हम अपनी प्राचीन साहित्यिक निधि का तत्त्वान्वेषण करेंगे, त्यों-त्यों हमें नित्य नवीन रत्नों की प्राप्ति होती जायगी और उनके आधार पर हम अपने प्राचीन साहित्य तथा संस्कृति का सच्चा मूल्यांकन और उसके गौरव का उद्भावन कर सकेंगे।

आशा है, डॉ० सत्यप्रकाश की 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा' न केवल 'परिषद्' के लिए गौरव का विषय बनेगी, अपितु विज्ञान सम्बन्धी मौलिक गवेषणा के क्षेत्र में जिज्ञासुओं और विद्वानों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत सिद्ध होगी।

मौनी अमावस्या, कुम्भपर्व
संवत् २०१०

धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री
परिषद्-मंत्री

विषय-सूची

दो शब्द

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् , पटना के मंत्री ने मुझे 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा' पर पाँच व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया और इसके लिए मैं परिषद् का अत्यन्त आभारी हूँ । ये व्याख्यान १७ फरवरी से २१ फरवरी १९५३ तक दिए गए । इन व्याख्यानों में मैंने यह प्रयत्न किया है कि इस देश में समुत्पन्न वैज्ञानिक प्रवृत्तियों की एक झाँकी मिल जाय । गत दो-तीन शताब्दियों का इतिहास यदि हम छोड़ दें, तो शेष शताब्दियों में तो भारत ने संसार की ज्ञान-परम्परा में अच्छा नेतृत्व किया और अन्य देशों की सहयोगिता में मानवजाति की सेवा करने का प्रयास भी किया । यूरोप में तीन-चार ऐसी खोजें हुईं, जिनके कारण गत दो शताब्दियों में वह हमसे बहुत आगे निकल गया । जैसे—रसायन में सूक्ष्म तुला, ज्योतिष में दूरदर्शक यन्त्र, भौतिकशास्त्र में रश्मिचित्रयन्त्र (स्पेक्ट्रोस्कोप), वनस्पति और प्राणिशास्त्र में अणुवीक्षणयन्त्र, शल्यचिकित्सा में सम्मूर्च्छकों (anaesthetics) और कृमिनाशकों (antiseptics) का ज्ञान ।

भारतवर्ष अब स्वतन्त्र है । हमारा अतीत यह बताता है कि विचारस्वातंत्र्य और नवीन प्रयोगों के प्रति प्रवृत्ति—ये दोनों हमारी पुरानी परम्पराएँ हैं । इस देश ने यूनान, अरब, मिस्र, फारस और चीन के साथ ज्ञान-विज्ञान का सदा आदान-प्रदान रक्खा और सबके सहयोग से रसायन, आयुर्वेद और ज्योतिष ही नहीं, समस्त शास्त्रीय विषयों की अभिवृद्धि की । यह हमारी पैतृक प्रवृत्ति आज भी हमें उत्साहित कर सकती है और देश के गौरव को उन्नत करने में अवश्य सहायक हो सकती है ।

खेद है कि इन पाँच व्याख्यानों में समस्त वैज्ञानिक विषयों का समावेश नहीं किया जा सकता था । विज्ञान के दो अंग हैं—शास्त्रीय और औद्योगिक । शास्त्रीय और दार्शनिक विचारों का विकास यहाँ कैसे हुआ, इस विषय का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से ही करना उचित हो सकता था और इसीलिए परमाणुसिद्धान्त, कार्य्यकारण-वाद, विकासवाद आदि की यहाँ चर्चा नहीं की गई । खेद है कि हम उस सामग्री का भी यहाँ उपयोग न कर सके जो साहित्य का अंग अभी नहीं बन पाई है और जो परम्परागत उद्योग-धन्धों में बिखरी पड़ी है । वास्तुविद्या सम्बन्धी ग्रन्थों में भी बहुत-से उल्लेखनीय स्थल ऐसे पाए जाते हैं जिनका आधार भी वैज्ञानिक अनुभव हैं । प्राचीन मुद्राओं और संग्रहालयों में संगृहीत अन्य भाण्ड, उपकरण, वस्त्र आदि के आधार पर भी हम अपनी वैज्ञानिक प्रवृत्तियों का छोटा-सा गौरवपूर्ण इतिहास लिख सकते हैं । चित्रकला और मूर्तिकला के रंग और प्रस्तर उस समय की औद्योगिक कला की ओर भी तो कुछ संकेत करते हैं । इस समस्त सामग्री के आधार पर हमें अपने देश की सभ्यता और संस्कृति का नया इतिहास लिखना चाहिए जिससे हमें आगे उन्नति करने की प्रेरणा मिल सके ।

—सत्यप्रकाश

बेली ऐवेन्यू ,
प्रयाग
४-२-१९५३

वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा

प्रथम अध्याय

वैदिक कालीन प्रेरणाएँ

अग्निमन्थन

वसुन्धरा पर जिस दिन अमृत-पुत्र 'मानव' ने अपने नेत्र खोले, उसी दिन से उसने अपनेको असहाय पाया। असहाय इस अर्थ में कि उसके पैरों में हिरण के बच्चे के समान दौड़ने की क्षमता न थी; पक्षियों के समान उड़ने के लिए उसे पंख नहीं दिये गये थे; मछलियों के समान तैरने की प्रतिभा उसमें नहीं थी; वह पेड़ पर बन्दरों के समान उछल-कूद भी नहीं सकता था; उसे पक्षियों के समान घोंसले भी बनाने न आता था; मधुमक्खियों को तरह के छत्ते भी वह नहीं बना सकता था; कोयल के समान उसके कण्ठ में स्वर भी न था; वह दीमक और चींटियों से भी अधिक मूढ़ और प्रतिभाहीन था; और ऐसे असहाय वेश में इस पृथिवी पर मनुष्य का अवतार हुआ। सब प्रकार से हीन इस पार्थिव प्राणी ने अपने नेत्र मूँदे और भीतर-ही-भीतर अपने अन्तःकरण में कातरता से अपनी स्थिति को समझने का प्रयत्न किया। उसके आश्चर्य की सीमा न रही, जब किसी ने उसे उत्तेजित करते हुए कहा—

द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्ष ꣳ समुद्रो योनिः।
विख्याय चक्षुषा त्वमभितिष्ठ पृतन्यतः॥[1]

"हे मर्त्य, तू अपने को छोटा मत समझ। तू विशाल है, विस्तृत द्यौ लोक तेरा पृष्ठ है, पृथिवी तेरा आश्रयस्थान है, अन्तरिक्ष तेरी आत्मा है, समुद्र तेरी योनि है। खुले हुए नेत्रों से तू देख; तू समस्त परिस्थितियों पर विजयी होगा।" हे मर्त्य, तू अग्नि है, अग्नि-पुत्र है, पृथिवी के गर्भ में से अग्नि का खनन कर; यह अग्नि तेरी विजय का एकमात्र आश्रय होगी। असहाय मानव ने अन्तःकरण की इस वाणी का स्वागत

(१) यजु० ११।२०

किया। एक व्यक्ति ने नहीं, मानवसमष्टि ने एक स्वर से घोषणा की—'वयं स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्याः'[२]—हम सब इस पृथिवी के गर्भ में से निरन्तर अग्नि का खनन करते रहेंगे—इस कार्य के लिए मानवसमष्टि में सुमति रहेगी, ऐसा आदिम प्राणियों का विश्वास था। सृष्टि के आदि में मनुष्य ने जो प्रतिज्ञा की, उसको उसने आजतक निभाया है; बार-बार ऋचा के शब्दों में मनुष्य ने कहा—'ततः खनेम सुप्रतीकमग्निम्[३], पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि'[४]। कहा जाता है कि जिस व्यक्ति ने अग्नि-खनन के इस कृत्य में नेतृत्व किया, वह अथर्वा या अंगिरस्[५] था। ऋचाओं का आदेश पाकर स्थान-स्थान पर मनुष्य ने अग्नि का खनन किया। जिस चिरस्मरणीय क्षण में उसके समक्ष अग्नि उपस्थित हुई, श्रद्धा से मनुष्य का मस्तक उसके सामने नत हो गया—सहज स्वर से उसके कण्ठ से ऋक् की पहली ऋचा के रूप में यह पहली स्तुति मानों निकली—'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देव-मृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्'[६]—अन्तःकरण में जिसकी प्रथम प्रेरणा से मनुष्य ने अग्नि का आविष्कार किया, उस आदिदेव परमपुरुष का नाम भी मनुष्य ने अग्नि रख दिया। यह भौतिक अग्नि परमश्रेष्ठ आत्म-अग्नि का दूत होने के कारण 'अग्निदूत' कहलाया, और मानव-मात्र ने 'अग्निं दूतं वृणीमहे'[७] शब्दों में उसका वरण किया—स्वागत और अभिनन्दन किया। अग्नि की सहायता से मनुष्य ने अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त की, उसने असहाय होते हुए भी अपनेको सबसे अधिक उत्कृष्ट बना डाला और धरातल के रूप को परिवर्त्तित कर दिया। मानव-प्रयासों के इतिहास में अग्नि का मन्थन अब तक चला जा रहा है—सभ्यता और संस्कृति का इतिहास इस अग्नि के खनन, मन्थन और दोहन का इतिहास है। जिस दिन अग्नि का यह यज्ञ समाप्त हो जायगा, उस दिन इस धरातल से मानव का लोप हो जायगा। अग्निहोत्र का एकमात्र अधिकारी इस सृष्टि में मनुष्य है; अन्य प्राणी बलिष्ठ, प्रतिभासम्पन्न, रूपवान् और अन्य गुणों से परिपूर्ण होते हुए भी अग्नि-खनन के अयोग्य और इस यज्ञ के अनधिकारी हैं। इस वसुन्धरा का वह स्थल धन्य है, जहाँ अंगिरस् ने प्रथम बार इस भौतिक अग्नि के दर्शन किये। विज्ञान के आविष्कारों में सबसे बड़ा आविष्कार अग्नि का आविष्कार है। हमारी यह भावना है कि यह आविष्कार भारत की भूमि में ही कहीं पर हुआ होगा, अथवा जिस किसी ने जहाँ, कहीं भी, इसका प्रथम साक्षात् किया हो, वह हमारा प्रथम पूर्व-पुरुष था और हम उसके उत्तराधिकारी हैं। जब कभी भी सोमयाग में अग्नि का मन्थन होता है, इस पूर्वपुरुष अथर्वा का ऋक् के मन्त्र से स्मरण किया जाता है—'त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य

(२) यजु० ११।२१
(३) यजु० ११।२२
(४) यजु० ११।२८
(५) पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने। यजु० ११।३२
(६) ऋक् १।१।१
(७) ऋक् १।१२।१

वाघतः ।[८] अग्नि देवताओं में सबसे छोटा[९] कहलाया और इसलिए सबसे अधिक प्यारा; यह अतिथि माना गया[१०] और इसीलिए सबसे अधिक इसका सत्कार हुआ। मर्त्यलोक के मानव के पास सबसे अधिक प्रिय वस्तु थी—घृत। मानव ने उससे इस अग्नि का समादर किया—'घृतैर्बोधयतातिथिम्; घृतेन वर्धयामसि'। ब्रह्म-सृष्टि में जो स्थान सूर्य का था, मानव-सृष्टि में वही स्थान अग्नि का रहा और इसीलिए जहाँ 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः' कहकर सूर्य का स्मरण किया, वहीं 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः'[११] भी उन्होंने कहा। अग्नि-मन्थन के सम्बन्ध में ऋक् का एक मन्त्र है—

अस्तीदमधिमन्थनमस्ति प्रजननं कृतम्।
एतां विश्पत्नीमाभराग्निं मन्थाम पूर्वथा॥ (३।२९।१)

इस मन्त्र में 'अधिमन्थनम्' का अभिप्राय ऊपरवाली लकड़ी (अग्नि उत्पन्न करने की) और उसके साथ संयुक्त दण्ड और डोरी से है। लकड़ी के सम्पर्क में आग पकड़ने के लिए थोड़ी शुष्क घास रक्खी जाती थी। [(अधिमन्थनम्) अरण्याः उपरि निधेयं मन्थनसाधनभूतं दण्डरज्ज्वादिकम्। (प्रजननम्) अग्निसाधनभूतं दर्भपिञ्जूलम्—सायण]

अन्न और खाद्य

जिस भूमि पर मनुष्य ने अपने को पाया, उसका नाम उसने वसुन्धरा रक्खा। इस भूमि से उसने अपनी उदराग्नि को शान्त करने के लिए अन्न की याचना की। आज हम बीसवीं शताब्दी के प्राणी मनुष्य के उस आविष्कार का महत्त्व अनुभव करने में सर्वथा असमर्थ हैं, जिसने मनुष्य को जंगल से निकाल कर शस्य-पूर्ण खेतों का स्वामी बनाया। आज हमारे प्रिय अन्न—गेहूँ, चावल, मक्का, ज्वार, जौ, चना आदि हैं। ये अन्न मनुष्य ने खेतों में अपने लिए तैयार किये। कहीं भी प्रकृति में इन अन्नों के जंगल नहीं पाये जाते। मनुष्य ने अपने खेत के लिए यव या धान का प्रथम बीज कहाँ से प्राप्त किया होगा, उसे गेहूँ या चने का प्रथम पौधा कहाँ से लाना पड़ा होगा, उसे कैसे यह विश्वास हुआ होगा कि छोटे-से इन पौधों के सहारे समस्त मानवजाति का भरण-पोषण होना सम्भव है? वह कौन तत्त्वदर्शी रहा होगा, जिसने अनेक असफल प्रयोगों के अनन्तर इन अन्नों की खेती में सफलता प्राप्त की? सहस्रों या लाखों वर्षों की परम्परा के बाद और इतने दिनों के अनुभवों के अनन्तर क्या हम आज अपने लिए एक नवीन अन्न की खोज कर सकते हैं? क्या यह आश्चर्य नहीं है कि सभ्यता और संस्कृति के इतने विकास के बाद भी हम अपने शस्यों की पुरातन परम्परागत सूची को किंचिन्मात्र भी विस्तृत नहीं कर पाये हैं। इन शस्यों की सबसे प्राचीन सूची हमारी परम्परा में जो प्राप्त है, वह यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में है—

---

(८) ऋक् ६।१६।१३; ऐतरेय १।१६
(९) बृहच्छोचा यविष्ठ्य, ऋ० ६।१६।११
(१०) यजु० ३।१
(११) यजु० ३।९

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मे ऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥[१२]

इस स्थल पर धान या व्रीहि, जौ या यव, माष या उर्द, तिल, मूँग या मुद्ग, खल्व, प्रियंगु, अणु, श्यामाक, नीवार, गेहूँ या गोधूम और मसूर का उल्लेख है। ग्रीफिथ ने खल्व के लिए vetches, प्रियंगु के लिए Millet, अणु के लिए Panicum Milliaceum, श्यामाक के लिए Panicum Frumentaceum और नीवार को जंगली चावल माना है। आजकल के खाद्यान्नों की सूची में सात अन्नों—गेहूँ, चावल, जौ, राई (rye), जई (oats), मिलेट (millet) और मक्का (maize)—ने जगत् के प्रमुख देशों में स्थान पाया है। हमारे देश में मक्का, ज्वार, कोदों, सावाँ आदि कुछ अन्नों का और प्रयोग किया जाता है। ऊपर दी गई सूची में मूँग, मसूर और उर्द की दालों का भी उल्लेख है। तिल न केवल तेल के लिए ही प्रयोग में आता है, इसका खाद्यान्न (खिचड़ी, लड्डू आदि) के रूप में भी अब तक प्रयोग होता है।

गेहूँ और चावल का आविष्कार, अन्नों के आविष्कार में, सबसे अधिक महत्त्व का है। कुछ लोगों का विचार यह रहा है कि हमारे देश में गेहूँ बाहर से आया; पर यह बात भ्रममूलक है। यह ठीक है कि गोधूम या गेहूँ ने याज्ञिक कृत्यों में महत्त्व का स्थान प्राप्त नहीं किया। यज्ञ-कृत्य में चावल, जौ, तिल और उर्द का प्रयोग विशेष रहा; फिर भी गेहूँ का महत्त्व इस देश में काफी रहा है। मधु, पय (दूध) और घृत—इन तीन मूल्यवान् पदार्थों के साथ गेहूँ का भी उल्लेख कभी-कभी आता रहा है—

होता यक्षत्समिधाग्निमिडस्पदेऽश्विनेन्द्रꣳ सरस्वतीमजो धूम्रो न गोधूमैः कुवलैर्भेषजं मधु शष्पैर्न तेज इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥[१३]

धानानाꣳ रूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमाः ॥[१४]

कुछ लोगों ने यह कल्पना की है कि यूफ्रेटीज और टाइग्रिस के मैदानों में गेहूँ जंगली रूप में अतिप्राचीन समय में होता था, और वहीं से अन्यत्र पहुँचा; पर विशेषज्ञ इस बात में विश्वास नहीं करते। हमारे पास इसका असंदिग्ध कोई प्रमाण नहीं है कि उक्त स्थल के जंगल में गेहूँ था भी या नहीं। जंगली गेहूँ दो-चार पुश्त से आगे जीवित ही नहीं रह सकता। कहा जाता है कि मोहञ्जदारों की खुदाई में भी पुराने गेहूँ मिले हैं। अस्तु, गेहूँ की प्राचीनता की मीमांसा करना हमारा यहाँ उद्देश्य नहीं है। जिस बात पर मैं बल देना चाहता हूँ, वह यह है कि कृषि के योग्य शस्य और अन्नों

(१२) यजु० १८।१२

(१३) यजु० २१।२९

(१४) यजु० १९।२२

को मनुष्य ने किस प्रकार बनाया, यह मानव-जाति का एक परमोत्कृष्ट आविष्कार है। अन्न, दाल और तिलहन—इन तीनों के प्रतीक हमें यजुर्वेद की इस सूची में मिलते हैं—चावल, गेहूँ, जौ, तिल, मूँग, उड़द और मसूर की हमारी अतिप्राचीन परम्परा वैदिक युग से आज तक प्रवाह के रूप में चली आ रही है।

अन्नों का आविष्कार अग्नि के योग से और भी अधिक महत्त्व का हो गया। अन्न स्वतः खाद्य तो हैं ही; किन्तु पहले ये पौधों पर पकते हैं और मनुष्य ने इन्हें दोबारा आग पर पकाने की कला का भी आविष्कार किया। मनुष्य द्वारा पकाये हुए अन्न को 'भोजन' की संज्ञा मिली। यव की खेती करनेवाले लोग 'यवमन्त' कहलाये और इन यवमन्तों ने यव-द्वारा मानव-जाति को भोजन भेंट किया। यजुर्वेद के शब्दों में—

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नम उक्तिं यजन्ति॥[15]

दूध, दही और मधु के योग से अनेक स्वादिष्ट भोजन तैयार किये गये जिनमें से सक्तु (सत्तू), करम्भ और परीवाप विशेष महत्त्व के हैं[16]। यह कहना कठिन है कि आज का सत्तू वैदिक काल के सक्तु से कितना मिलता-जुलता है; पर अपने देश की अक्षुण्ण परम्परा के आधार पर हमारा यह विश्वास है कि यह बहुत भिन्न न होगा। धानों से लावा (लाजा) तैयार करने के लिए और भुने हुए अन्न से सत्तू बनाने के लिए आर्य्यजाति ने भाड़ ऐसी कोई चीज अवश्य बनाई होगी। भाड़ और भट्टी दोनों ही 'भ्राष्ट्र' शब्द के अपभ्रंश हैं। लाजा का उल्लेख इस प्रकार है—

होता यक्षदिडेडित आजुह्वानः सरस्वतीमिन्द्रं बलेन वर्धयन्नृषभेण गवेन्द्रियमश्विनेन्द्राय भेषजं यवैः कर्कन्धुभिर्मधु लाजैर्न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥[17]

इस मंत्र से पूर्व के मंत्रों में तोक्म, नग्नहु, शष्प और मासर का कई स्थलों पर निर्देश है[18]। तोक्म संभवतः हरा जौ (भुना हुआ), शष्प (धान से तैयार कोई पदार्थ), नग्नहु (सुरा तैयार करने की कोई ओषधि—नग्नहुं ,पति१९ सुरया भेषजं०) और मासर संभवतः चावल का माँड़ है।

घी, मधु और आटे के योग से अनेक प्रकार के पकवानों के बनाने की परम्परा

---

(१५) यजु० १०।३२; १९।६

(१६) धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि। सोमस्य रूपꣳ हविष आमिक्षा वाजिनं मधु॥ (यजु० १९।२१)। इसी प्रकार—धानानाꣳ रूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमाः। सक्तूनाꣳ रूपं बदरमुपवाकाः करम्भस्य॥ यजु० १९।२२

(१७) यजु० २१।३२

(१८) यजु० २१।२९,३०,३२,४२ आदि।

भी बड़ी पुरानी है, जिसकी नींव वैदिक काल में पड़ चुकी थी। यजुर्वेद में एक स्थल पर ये वाक्य हैं—

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः[१९]॥

धान शब्द का प्रयोग भुने हुए अन्न के अर्थ में (चाहे चावल हो, जौ हो या और कोई अन्न) होता रहा है। इसके आटे में दही मिलाकर 'करम्भ' बनता है (यदि धान को चिवड़ा माना जाय, तो दही और चिवड़े के योग से बने हुए को करम्भ मान सकते हैं)। चावल या और किसी अन्न के आटे से 'अपूप' जिसे हम पूर्वा या पुआ कहते हैं, तैयार किया गया। यह पूप आजकल के पुए और 'बड़े' दोनों का अग्रज है।

यज्ञ में एक विशेष हवि पुरोडाश कहलाती है, जिसका उल्लेख अनेक स्थलों पर है (यजु० १९।२०); विशेषतया ऋग्वेद ३।२८ में (अग्ने जुषस्व नो हविः पुरोडाशं जातवेदः)। यह आटे या चावल की मोटी रोटी होती है।

पय, घृत और मधु का मैंने इस स्थल पर उल्लेख नहीं किया। हमारे साहित्य का कोई भी काल ऐसा नहीं रहा है, जिसमें इन तीनों की चर्चा न रही हो। ऊपर के एक मंत्र में पय के साथ दधि, शब्द का भी प्रयोग आया है। दूध से दही जमाना और फिर दही से घी निकालना, यह पुरानी परम्परा है। दूध से सीधे ही मक्खन निकाल लेना, यह आजकल के युग की नई विधि है। दूध से दही तैयार करना आज हमें साधारण घटना प्रतीत होती है; पर मनुष्यजाति ने अपना पहला 'जामन' कैसे प्राप्त किया होगा, किसने दही की विशेषता का अनुभव किया होगा और 'जामन' के सम्बन्ध में प्रयोग किये होंगे, इसका अनुमान लगाना कठिन है। दही के मन्थन से घी निकालना, यह भी कोई सरल कार्य्य नहीं है। 'मन्थन' विधि से दही से घी अलग हो सकता है, यह परिज्ञान कोई छोटी घटना नहीं है। हमारी सबसे पहली 'मथनी' किस प्रकार की रही होगी, इसका हम अनुमान आज नहीं कर सकते। इस प्रारम्भिक मन्थन-यंत्र ने ही आजकल के विशाल सेंट्रिफ्यूज-यंत्रों को जन्म दिया।

मधु और सरघा

मधु के सम्बन्ध में चारों वेदों में अनेक ऋचाएँ हैं। मधु ने समस्त आर्य्यजाति के जीवन को कविता दी, जिसने निम्नलिखित प्रकार के शब्दों से प्रेरणा पाई[२०]— **मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥ मधु-नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥** मधुका उल्लेख पय और सोम दोनों के साथ भी आया है। इन मंत्रों में मधु शब्द प्रत्येक स्थल पर

(१९) यजु० २०।२९; करम्भ—ऋ० १।१८७।१०; ६।५६।१; ६।५७।२। विलसन के मतानुसार 'करम्भ' भुने जौ के आटे और घी से बनाया जाता है।

(२०) ऋ०।१।९०।६-७

शहद के अर्थ में नहीं आया है। कोई भी मीठी चीज मधु कही जाने लगी, और बाद को कोई भी स्वादिष्ट पदार्थ मधु बन गया। यह सोम का भी पर्याय बना। शर्करा और ईख भी मधु और मधुवनस्पति बन गये। अलंकाररूप से .राष्ट्र के सात मधु ये हैं—ब्राह्मण, राजा, धेनु, बैल, चावल, जौ और मधु[21]।

मधुसंचय करनेवाली मधुमक्खियों का वैदिक नाम 'सरघा' है। सरघा जिस वस्तु को बनायें, वह सारघ अर्थात् मधु हुआ। ऋग्वेद के दो स्थलों पर इस प्रकार वर्णन आता है—

मध्वा संपृक्ताः सारघेण धेनवस्तूयमेहि द्रवा पिब ॥८।४।८
आरंगरेव मध्वेरयेथे सारघेव गवि नीचीनबारे।
कीनारेव स्वेदमासिष्विदाना क्षामेवोर्जा सूयवसात् सचेथे ॥१०।१०६।१०

अथर्ववेद में दो स्थलों पर 'अश्विना सारघेण मा मधुनांक्तं शुभस्पती' यह वाक्य आया है (६।६९।२ और ९।१।१९)

ग्रीफिथ ने 'मध्वा संपृक्ताः०' मंत्रभाग का अर्थ किया है कि 'दूध शहद की मक्खियों के मधु से मिलाया गया है। शीघ्र आइये और पीजिये।' विलसन ने मधु का सोम के साथ मिलाया जाना लिखा है। 'आरंगरेव०' मंत्र का अर्थ ग्रीफिथ के शब्दों में यह है—Like toiling bees, ye bring to us your honey, as bees into the hide that opens downward. (The honey-comb is compared to a water skin inverted.)

अथर्ववेद में सरघा के अतिरिक्त उसी सूक्त में (९।१) एक मंत्र में शहद की मक्खी के लिए 'मक्षाः' (९।१।१७) शब्द भी आया है—'यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि' (जैसे मक्खियाँ मधु को छत्ते में छोड़ती हैं)। अन्य स्थानों पर अथर्व में मक्षिका शब्द का प्रयोग साधारण मक्खियों के लिए ही हुआ है (११।२।२; ११।९।१०;११।१०।८)। मक्षा के अतिरिक्त मधुमक्खियों के लिए एक शब्द 'मधुकृत्' भी आया है (न कि मधुकर)—'यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि' (९।१।१६) (जैसे मधुकृत् मधुकोष में मधु भरते हैं)। इस प्रकार मधुमक्खी के लिए अथर्व में तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है—मक्ष, मधुकृत् और सरघा। मधौ + अधि का अर्थ मधुकोष है।

पात्र, भाण्ड और उपकरण

अग्नि की खोज ने भोजन की कला को प्रोत्साहन दिया और भोजन की कला ने हमारे प्रारम्भिक भाण्ड और पात्रों को जन्म दिया। भोजन-सामग्री तैयार करने, और संग्रह करने के उपकरण और उसके साथ भोजन परोसने के उपादानों का विकास हुआ। यज्ञ-कृत्यों के भी उपकरण बहुत-कुछ उसी प्रकार के बने। यज्ञ-कृत्य गार्ह-

---

(२१) यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति। ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ (अथर्व ९।१।२२)

स्थ्यजीवन के केन्द्र और प्रतीक थे अथवा छोटे-से नाटक या उसकी भूमिका थे। इस कृत्य को प्रतीक मानकर मानव-समाज ने अपने प्रारम्भिक विज्ञान की नींव डाली। यज्ञ समस्त जीवन का आधार बन गया—'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्। चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम्।'[२२] इसके आधार पर ही मनुष्य ने देवत्व और अमरत्व को प्राप्त करने की आकांक्षा की[२३]। यज्ञों के आधार पर गणित, ज्योतिष, रसायन, पशुशास्त्र और वनस्पति-शास्त्र का विकास हुआ—अध्यात्मवाद का विकास तो हुआ ही।

यज्ञ-संबंधी पात्र और भाण्ड का उल्लेख यजुः के एक मंत्र में इस प्रकार है—**स्रुच्श्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे**[२४]। स्रुच (प्याला), चमस (चमचा), वायव्य (अज्ञात कोई पात्र), द्रोणकलश (कलश या घड़े), ग्रावाण (बट्टा) और अधिषवण (सिल)—इतनी वस्तुओं का यहाँ उल्लेख है। एक अन्य स्थान पर इस प्रकार शब्द हैं—**वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोणकलशम्। कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते स्थालीभिस्थालीराप्नोति॥**[२५] यहाँ वायव्य और द्रोण-कलश के अतिरिक्त सत (टोकरी), कुम्भी (घड़ा) और स्थाली का भी उल्लेख है। स्थाली वह पात्र है जिसमें कोई चीज पकाई जाय, यह मिट्टी का हो (जैसे हाँडी) या धातु का (जैसे पतीली) अथवा यह कड़ाही जैसी भी चीज हो सकती है। (हमारे थाली और थाल शब्द भी शायद इसके अपभ्रंश हैं।) द्रोण शब्द का अर्थ प्याला और बालटी दोनों है। द्रोण-कलश समास में पानी खींचने की बालटी या कलसे का अभिप्राय अधिक जँचता है। आजकल जिसको हम 'दोना' कहते हैं और जो ढाक के पत्तों के बनाये जाते हैं, वे भी परंपरा में द्रोण हैं। आगे इसी अध्याय में स्थाली, पात्र, कुम्भ, कुम्भी, सत (टोकरी), चप्य और ग्रह (कलछुल, चिमटा या सँड़सी, इसी प्रकार का कोई पात्र) का भी उल्लेख है[२६]।

ऋग्वेद के एक मंत्र में सक्तु (सत्तू) के साथ उसे चालने की 'तितउना' अर्थात् चलनी का उल्लेख है—'सक्तुमिव तितउना पुनन्तः'[२७]। तितउ के सम्बन्ध में निरुक्त में इसी मंत्र की व्याख्या करते समय यह वर्णन है—"तितउ परिपवनं भवति। ततवद्वा, तुन्नवद्वा, तिलमात्रतुन्नमिति वा"—अर्थात् इसमें शुद्ध करने के लिए डाली हुई वस्तु छानते समय फैल जाती है। यह छिद्रोंवाली होती है और इसके 'तुन्न' अर्थात् छिद्र तिल के समान छोटे होते हैं। तितउ की सहायता से सत्तू में से भूसी अलग की जाती है। अथर्व के एक मंत्र में मुसल और उलूखल (खल-मूसल) दोनों का उल्लेख ओदन के सम्बन्ध में आया है—'चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम्'[२८], और इससे आगे ही शूर्प

(२२) यजु० ९।२१
(२३) प्रजापतेः प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम। यजु० ९।२१
(२४) यजु० १८।२१
(२५) यजु० १९।२७
(२६) यजु० २०।८६-८९
(२७) ऋ० १०।७१।२
(२८) अथर्व ११।३।२

या सूप का वर्णन है—'दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक्'[२९]; सूप से जो पछोड़े उसका नाम शूर्पग्राही है। अपाविनक् उसे कहते हैं, जो भूसी को दाने से अलग करे। अथर्व में पकते हुए अन्न को टारने के लिए 'आयवन' (Stirrer) और परोसने के लिए दर्वी (गहरे चमचे) का भी वर्णन है—'बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः'[३०]। ऋग्वेद में सोम के सम्बन्ध में उलूखल पर एक पूरा सूक्त है। यद्यपि मुसल शब्द का प्रयोग इन मंत्रों में नहीं है, परन्तु परम्परा यह बतलाती है कि इस सूक्त (१।२८) के ७-८ मंत्र का देवता उलूखल-मुसल है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में उपसेचनी (उँड़ेलने का प्याला या चमचा—ladle or cup for pouring), दर्वि और पात्र (वह बर्तन जिसमें वस्तु उड़ेल कर रक्खी जाय—receptacle) का उल्लेख है—"श्रिये ते पृश्नि रुपसेचनी भूच्छ्रिये दर्विररेपाः। यया स्वे पात्रे सिञ्चस उत्"[३१]। घी से भरे दर्वी का निर्देश अन्यत्र 'सर्पिषो दर्वी'[३२] इन शब्दों में है। अथर्व के एक 'कुन्ताप सूक्त' (२०।१३६) में उलूखल और शूर्प का संकेत है।

हमने यहाँ वैदिक साहित्य में निर्दिष्ट गृहस्थी के कुछ पात्रों का उल्लेख किया है। ये पात्र मिट्टी, लकड़ी और धातुओं के बनते थे। कलश, कुम्भ और कुम्भी के आविष्कार ने कुम्भकार के समस्त पात्रों को जन्म दिया। उलूखल, मुसल, शूर्प और तितउना—ये चार ऐसे उपकरण हैं, जिनके आविष्कारों की नींव पर आजकल के (मशीनयुग के) विशालकाय यंत्र बन सके। आज का व्यक्ति घी निकालने की मथानी या कूटने-पछोड़ने के सामान्य उपकरणों के महत्त्व को शायद न समझे; पर जिस युग में जनता ने पहली बार इनका प्रयोग करना सीखा होगा, वह युग भी तो एक नवीन संस्कृति का अग्रदूत बनने की क्षमता रखता होगा। लीवर, पेंच और गड़ारी (pully) का आविष्कार यन्त्रयुग की नींव है। दही से घी निकालने की मथानी और रज्जु सभ्यता में आविष्कृत पहली गड़ारी है। यह कहना कठिन है कि कुएँ में से गड़ारी की सहायता से पानी खींचा जाता था या नहीं। कुएँ का उल्लेख वेदों में साधारण रूप से ही आता है—कूप्याभ्यः स्वाहा[३३], नमः कूप्याय[३४], त्रितः कूपेऽवहितः[३५] और यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः[३६]। इनमें कई स्थल के कूप तो सम्भवतः बड़े गहरे गड्ढेमात्र हों। यजुर्वेद के स्थलों में कूप का सम्बन्ध जल से अवश्य है; पर कूप में से जल निकालने के लिए रज्जु तो अवश्य रही होगी, गड़ारी का सन्देह है। कूप शब्द की मनोरंजक व्युत्पत्ति निरुक्त में दी गई है—'कूपः कस्मात्? कुपानं

(२९) अथर्व ११।३।४
(३०) अथर्व ११।३।१६
(३१) ऋ० १०।१०५।१०
(३२) ऋ० ५।६।९
(३३) यजु० २२।२५
(३४) यजु० १६।३८
(३५) ऋ० १।१०५।१७
(३६) अथर्व ५।३१।८

भवति, कुप्यतेर्वा'। कोई अति प्यासा व्यक्ति किसी कुएँ पर पहुँचे, और वहाँ डोल आदि जल निकालने का साधन न हो, तो वह बड़ा कुपित होता है। निघण्टु में कूप के लिए चौदह शब्दों का प्रयोग हुआ है (३।२३)।

ऋग्वेद के एक मंत्र में उपलप्रक्षिणी शब्द का प्रयोग हुआ है[३७]। मन्त्र इस प्रकार है—'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना'—अर्थात् मैं शिल्पी हूँ, मेरा पिता (ततः, daddy) भिषक् या वैद्य है और मेरी माता (नना, mammy) उपलप्रक्षिणी है। उपलप्रक्षिणी का अर्थ निरुक्त में सक्तुकारिका अर्थात् सत्तू बनानेवाली है[३८]। उपल (बालू) और प्रक्षिणी (फेंकनेवाली) अर्थात् सत्तू बनाने के लिए अन्न को गरम-गरम बालू पर जो भूँजे, उसे उपलप्रक्षिणी कहेंगे; आजकल के शब्दों में भड़भुँजनी। दहकते कंडों को भी आज तक उपले कहते हैं। इस प्रकार इस मंत्र में 'भाड़' की ओर उपयोगी संकेत है।

कृषि का आरम्भ

जिस आदिम सभ्यता ने अग्नि और अन्न का उपयोग करना सीखा, उसने अन्न के प्रसार के लिए कृषि-कला का विकास किया। वनों को उसने ग्रामों में परिणत किया। ग्राम्य जीवन का आधार कृषि और पशुपालन है। ये दोनों ही विज्ञान के आज महत्त्वपूर्ण अंग माने जाते हैं। हम इस स्थल पर अपने उस आदिम वैज्ञानिक और शिल्पी का स्मरण करेंगे जिसने इतिहास में प्रथम बार कृषि के विभिन्न अंगों का आविष्कार किया। ऋग्वेद के आविर्भाव के समय में कृषि के जिन उपकरणों का प्रयोग होना आरम्भ हुआ था, भारत की परम्परा में वे समस्त उपकरण लगभग अपने अक्षुण्ण रूप में आज तक चले आ रहे हैं। लुडविग के कथनानुसार मानवसमाज में कृषि के प्रारम्भ होने का प्रथम संकेत ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र में है—

देवास आयन् परशूँरबिभ्रन् वना वृश्चन्तो अभिविड्भिरायन्।
निसुद्र्वं दधतो वक्षणासु यत्रा कृपीटमनु तद्दहन्ति॥ १०।२८।८

अर्थात् देवगण आये, उनके पास अपनी-अपनी कुल्हाड़ियाँ (परशु) थीं। उन्होंने जंगल काट कर साफ किये और उनके साथ उनके नौकर भी थे। उन्होंने वक्षणों में[३९] लकड़ियों को रख दिया और जहाँ कहीं घास उगी थी, उसे जला दिया। अभिप्राय यह है कि जंगल साफ करके खेत बनाने का आयोजन हुआ।

यहाँ यह तो संभव नहीं है कि वैदिक कालीन कृषि का विस्तार से वर्णन दिया जा सके। फिर भी ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल के ५७ वें सूक्त का उल्लेख अवश्य करूँगा। इसमें क्षेत्रपति अर्थात् खेत के स्वामी कृषक के लिए कहा गया है—'क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान् नो अस्तु', वह क्षेत्रपति हमारे लिए मधुमान् हो।

---

(३७) ऋ० ९।११२।३

(३८) निघंटु ४।३; निरुक्त ६।२

(३९) वक्षण=भाग या नदी; कृपीट=underwood, firewood या घास।

इस सूक्त में किसान के हलादि उपकरणों का वर्णन है—

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥४॥
शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ॥८॥

हमारे वाह (बैल) और मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक कार्य करें, हमारी क्यारियों में प्रसन्नतापूर्वक हल चलावें, हमारी वरत्राएँ (रशियाँ, चमड़े या रस्सी की) ठीक से बँधी रहें, और हमारे अष्ट्रा (चाबुक, कोड़े, हाँकनेवाले) ठीक से कार्य करें। हल के फाल भूमि को अच्छी तरह खोदें और हमारे कीनाश (हलवाहे) बैलों के साथ ठीक से चलें। पर्जन्य (मेघ) हमारे लिए मधु और दूध के साथ सुखदायक हों। हे शुनासीर ! हमें सब ऐश्वर्य प्राप्त हो।

इन मन्त्रों से हल और खेती के सभी उपकरणों के संकेत मिलते हैं। हल का प्रथम आविष्कार भारत की उर्वरा भूमि में हुआ। हल के खींचने के लिए बैलों का प्रयोग करना, इस देश ने प्रथम बार प्रचलित किया। हल में लोहे के फाल लगाना और उनकी सहायता से क्यारियाँ बनाना, यहीं आरम्भ हुआ।[४०] हल के बैलों को हाँकने के लिए अष्ट्रा अर्थात् कोड़े या चाबुकों की यहीं व्यवस्था हुई। हलों में बैल वरत्रा द्वारा बाँधे जाने लगे।

अष्ट्रा का उल्लेख ऋग्वेद में अन्यत्र भी हुआ है।[४१] एक मन्त्र में गौओं के लिए (याते अष्ट्रा गोओपशाऽऽघृणे पशुसाधनी) और दूसरे में पशुमात्र के लिए। वरत्रा का उपयोग कुएँ से पानी खींचने में भी होता था, और बालटियाँ इससे बाँधी जाती थीं—

निराहावान् कृणोतन सं वरत्रा दधातन।
सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम् ॥ ऋ० १० ।१०१।५

आहाव उस बालटी या टब को कहते हैं, जिसमें कुएँ के निकट पशुओं को पानी पिलाया जाता है। इसमें वरत्रा अर्थात् उठाने या खींचने की रस्सियाँ दृढ़ता से बाँधी जाती हैं। इस वरत्रा से आहाव को बाँधकर अवत अर्थात् कुएँ से पानी खींचकर निकाला जाता है।[४२]

इस मन्त्र के पहले ही एक दूसरे मन्त्र में[४३] हल में जोतने के लिए बैलों के कन्धों पर रक्खे हुए जुए (युग, yoke) का उल्लेख है। अंग्रेजी का yoke शब्द वैदिक

(४०) ऋ० १०।११७।७। कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।

(४१) ऋ० ६।५३।९; ६।५८।२

(४२) ऋ० १०।१०१।५। आहाव ऋ० १।३४।८—त्रय आहावाः (ये आहाव घट के समान हैं)।

(४३) ऋ० १०।१०१।४

युग शब्द का अपभ्रंश है[४४]। मन्त्र इस प्रकार है—**'सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्, धीरा देवेषु सुम्नया'**। सीर शब्द का अर्थ हल है। बैल को जुए द्वारा हल में ज़ोतने की क्रिया का नाम सीर-योग है। इस मन्त्र का अर्थ यह है कि बुद्धिमान् व्यक्ति हल में जुए के साथ (बैलों को) जोतते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि ऋक् के मन्त्रों में कृषि के समस्त आवश्यक उपकरणों का किस प्रकार स्पष्ट उल्लेख आ गया है, अतः हमारे देश में हल-बैल द्वारा जोताई करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इस देश के हल के आविष्कार ने ही संसार को वह सुख-सामग्री प्रदान की, जिसकी समता कोई आविष्कार नहीं कर सकता। हल का आविष्कार हमारे देश की उर्वरा भूमि में हुआ। हमारे आज के हल में और अत्यन्त प्राचीन काल के हल में बहुत अन्तर नहीं है। आविष्कार की दृष्टि से यह बात बहुत महत्त्व की नहीं है कि हल में फाल एक हो या अधिक, और इसमें बैल जोते जायँ या घोड़े अथवा यह पेट्रोल से चले। हल की मूल रूप-रेखा इस देश में आविष्कृत हुई और इसकी सहायता से बनैली भूमि को मनुष्य ने शस्य-श्यामला बना डाला।

मनुष्य के लिए खेती सबसे महत्त्व का व्यवसाय है। ऋक् के एक 'अक्ष-मौजवान्' सूक्त में जुआ खेलनेवाले को धिक्कारा गया है, और अन्त में उसे उत्साहप्रद शब्दों में आदेश दिया गया है—**"अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित कृषस्व, वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः। तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।"**[४५]—"हे मूर्ख, जुआ मत खेल, अपने अन्न-प्रसू खेत में खेती कर, इस धन को ही बहुत कुछ मानकर इसमें रम। हे जुआरी, इसका तो ध्यान कर कि वहाँ तेरी गौएँ हैं और वहाँ तेरी पत्नी; तुझे और चाहिए ही क्या ?"

प्राचीन भारतीय साहित्य में यदि किसी चीज के उल्लेख का अभाव प्रतीत होता है, तो वह खाद का। वैदिक साहित्य में 'गोमय' शब्द गोबर के अर्थ में भी नहीं आया।

अश्व और रथ

आर्यों की शान्तिप्रियता ने जहाँ हल का आविष्कार करके एक नई सभ्यता को जन्म दिया, वहाँ उनकी युद्ध-प्रियता ने रथ-जैसे वाहन का आविष्कार किया। हल में बैल जोते गये और रथों में घोड़े। इस समय हमारे देश (विशेषतया पश्चिमी उत्तरप्रदेश) में जो वाहन रथ कहलाते हैं, उनमें बैल जोते जाते हैं। घोड़ों वाला सबसे पुराना वाहन हमारा एक्का है। हो सकता है कि यह एक्का ही हमारे अतिप्राचीन अश्वरथ का कोई विकृत या परिष्कृत रूप हो। हो सकता है कि केवल एक घोड़े से खींचे जाने के कारण इसका नाम एक्का पड़ा हो। दो घोड़ों की बग्घियाँ और राजकीय उपयोग के अनेक वैभवसम्पन्न अनेक घोड़ोंवाले वाहन भी कभी-कभी प्रयोग में आते हैं।

---

(४४) Webster का कोष देखिए; Goth –juk, Latin–jugum, Skr.–yuga

(४५) ऋ० १०।३४।१३

युद्ध के वाहनों में आजतक घोड़ों का प्रयोग होता रहा है। पेट्रोल-युग ने इतने दिनों के बाद अब घोड़ों को मुक्ति प्रदान की है।

रथ और रथ के समान वाहनों के आविष्कार का मूल श्रेय-चक्र के आविष्कार को है। चाहे हमारा वाहन एक्का हो, चाहे मोटर या साइकिल या एयरोप्लेन; इन सब वाहनों का आधार चक्र है। यांत्रिक आविष्कार में चक्र के प्रयोग ने एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी और चक्र का प्रथम आविष्कार हमारे देश में ही हुआ। । यंत्र-विशारद ही इस चक्र के आविष्कार का वास्तविक महत्त्व समझ सकते हैं। बिजली-घर के यंत्र, छापेखाने की मशीनें और सभी कारखानों के विशालकाय आयोजनों में आप कहीं-न-कहीं चक्र का विधान पावेंगे। कल-युग को वस्तुतः हमें चक्र-युग कहना चाहिए।

अगर चक्र का आविष्कार न होता, तो थोड़ी शक्ति से अधिक कार्य्य सम्पादित करना हमारे लिए संभव न था। छोटे चक्रों के साथ बड़े चक्रों को जोड़कर थोड़ी शक्ति से हम बड़े-बड़े काम निकाल लेते हैं। चक्रों की सूक्ष्मता घड़ी के यंत्र में देखिए। यदि हमें आज उस व्यक्ति का पता चल जाता जिसने मानव-सभ्यता में प्रथम बार चक्र का प्रयोग किया, तो वह व्यक्ति हमारे आविष्कारकों में शिरमौर माना जाता। चक्र का आधार नाभि है, नाभि में दण्ड या अरा सब ओर को लगे होते हैं, और ये अरा परिधि तक पहुँचते हैं।

ऋग्वेद के तीसरे मंडल के ५३ वें सूक्त में रथांगों का जो उल्लेख है, उसे यहाँ दे देना आवश्यक है—

स्थिरौ गावौ भवतां वीळुरक्षो मेषा विवर्हि मा युगं विशारि।
इन्द्रः पातल्ये ददतां शरीतोररिष्टनेमे अभि नः सचस्व ॥१७॥

अभि व्ययस्व खदिरस्य सारमोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम्।
अक्षवीळो वीळित वीळयस्व मा यामादस्मादव जीहिपो नः ॥१९॥

रथ के पशु (गावौ=घोड़े या बैल) स्थिर होवें, अक्ष (धुरी) दृढ़ हो, रथ की ईषा दण्ड=Poleor shaft) दोषपूर्ण न हो, रथ का युग (जुआ) सड़ा न हो, जुए की दोनों खूँटियाँ नष्ट होने से बची रहें और यह वाहन गाड़ी हमारे लिए तैयार रहे।

इस याम या गाड़ी के पहिये का अक्ष खदिर-सार (कत्थे की लकड़ी) का बनाओ और फर्श शिंशप (शीशम) की लकड़ी का, और इसका अक्ष खूब दृढ़ हो।

रथ-संबंधी ऋग्वेद के दो मंत्र[४६] और दे रहा हूँ, जिसमें मरुत् के रथों का उल्लेख है—

विश्वानि भद्रा मरुतो रथेषु वो मिथस्पृध्येव तविषाण्याहिता।
अंसेष्वा वः प्रपथेषु खादयोऽक्षो वश्चक्रा समया विवावृते ॥

(४६) ऋ० १।१६६।९–१०। ये अर्थ विलसन के आधार पर हैं। अंसेषु=कंधों पर, पवि=fellies (ग्रीफिथ)। ग्रीफिथ के अनुसार 'खादि' का अर्थ ring है। पवि का उल्लेख ५।५८।६ में भी है। खादिहस्त, ऋ० ५।५८।२ भी देखो।

हे मरुत्! तुम्हारे रथों में समस्त भद्र पदार्थ हैं, तुम्हारे कन्धों पर यथोचित बल है। मार्ग के विश्रामस्थल (सराय) अर्थात् प्रपथों पर खाद्य सामग्री है। तुम्हारे रथों के चक्रों की धुरी चक्र को दृढ़ता से थामे हुए है।

भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु वक्षःसु रुक्मा रभसासो अञ्जयः।
अंसेष्वेताः पविषु क्षुरा अधि वयो न पक्षान् व्यनु श्रियो धिरे॥

हे मरुत्! तुम्हारे पुरुषोचित बाहुओं में बहुत से भद्र पदार्थ हैं। तुम्हारे वक्षस्थल पर सुवर्ण के चमचमाते आभरण हैं, कन्धों पर श्वेत मालाएँ हैं, रथ की पवियों (टायरों) में क्षुरा लगे हुए हैं। पक्षियों के समान मरुतों के भी विविध श्रृङ्गार हैं।

रथ के संबंध में चक्र, नेमि (परिधि), नाभि, अक्ष और ईषा के अतिरिक्त पवि का भी उल्लेख है, जो पहिये का टायर है। रथों के चलने के लिए पथ या सड़कों का आयोजन है और सड़क के निकट प्रपथों (सरायों) का उल्लेख यात्रियों की सुविधा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, जिनमें खाद्य सामग्री (Refreshment) का प्रबन्ध है। युद्ध के रथों के चक्रों में क्षुरा (Blades या चाकुओं) का प्रयोग भी उल्लेखनीय है।

नाभि से नेमि (परिधि) तक चारों ओर को फैली हुई दण्डिकाओं को अरा कहते हैं। ऋग्वेद के इन मंत्रों को देखिए[४७]

अरान् न नेमिः परिता बभूव
अरान् न नेमिः परिभूरजायथाः।
अग्ने नेमिरराँ इव देवाँस्त्वं परिभूरसि
रथानां न ये ऽराः सनाभयः।
अरा इवेदचरमा अहेव॥

वस्तुतः हमारे इतिहास का कोई काल ऐसा न था जब यहाँ रथ-चक्र का व्यवहार न होता हो। इस चक्र से ही बाद को चरखा निकला और सुदर्शन चक्र के समान आयुध। यह कहना कठिन है कि ऋग्वेद से परिचित और अनुप्राणित समाज में सूत कातने का चरखा किस प्रकार का था, उसमें कोई चक्र था या नहीं, क्योंकि सूत बनाने के लिए चक्र यंत्र का कहीं उल्लेख नहीं आता है।

सूत की कताई-बुनाई

आदिम सभ्यतावाले मनुष्य के चरम-उल्लेखनीय आविष्कारों में कताई और बुनाई का आविष्कार है। तन्तु (सूत्र, सूत) कपास से प्राप्त होता था या अन्य किसी वानस्पतिक पदार्थ से, अथवा किस यन्त्र से कैसे कताई होती थी, यह कहना कठिन है; फिर भी सूत की कताई का प्रथम जन्म ऋग्वेद से परिचित मानव-समूह में हुआ। हमारा ऐसा विश्वास है कि कताई का आविष्कार भारत की आर्यपरम्परा ने किया। 'तन्तुं तनुष्व', 'तन्तुमातन्वते' आदि शब्द तन्तु निकाल कर तानने के अर्थ में ऋग्वेद

(४७) क्रमशः १।३२।१५; १।१४१।९; ५।१३।६; १०।७८।४; ५।५८।५

के अनेक स्थलों में पाये जाते हैं[४८]। एक मन्त्र में 'अदामानः', 'दामन्वन्तः' आदि शब्द आये हैं। दामन् या दामा का अर्थ तन्तु से बनी डोरी है। 'तन्तुतन्वानस्त्रिवृतम्' में तीन बार एँठे हुए तन्तु का उल्लेख है (त्रिवृतम् का अर्थ सम्भवतः तीन धागे का यज्ञोपवीत भी हो)। पर यह स्पष्ट है कि ऋक् के इन स्थलों पर कताई के यन्त्र चरखे का वर्णन नहीं आया।

सूत प्राप्त करने के अनन्तर बुनाई की क्रिया आती है[४९]। सूत बुननेवाली गृहिणी का नाम 'वय्या' (२।३।६) ऋग्वेद में आया है। सूत से पट बुनने का नाम वयन है। ऋग्वेद (१०।१३०।१–२) मन्त्र इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें एक बृहत् सूत्र-यज्ञ के दृश्य का वर्णन है—

"यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते॥
पुमाँ एनं तनुत उत् कृणत्ति पुमान् वितत्ने अधिनाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उपसेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे॥

इस यज्ञ में सब दिशाओं में तन्तुओं का ताना-बाना फैला हुआ है। १०१ देवगण इस कार्य में संलग्न हैं। अनेक अनुभवी वृद्ध पितर इस कार्य का नेतृत्व कर रहे हैं और वे करघे के पास बैठे हुए आदेश दे रहे हैं—'अवय; अपवय'—आगे बुनो, पीछे बुनो। प्रथम पुरुष धागे को कभी तानता है और कभी लपेटता है। वह साम गाते हुए अपने त्रसर (तसर—Shuttles) को आगे-पीछे फेंकता है। यज्ञ और वयन कर्म का इन मंत्रों में, आलंकारिक रूपक है; फिर भी इस वर्णन से कपड़े की बुनाई पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

यजुः के एक मंत्र में टूटे हुए धागे (छिन्न) को फिर से जोड़ने का उल्लेख है—'तेषां छिन्नं सम्वेतद्धामि'।[५०] बिना टूटे धागे का नाम अच्छिन्न तन्तु है[५१]।

---

(४८) कताई—तन्तुं तनुष्व (ऋ० १।१४२।१); नव्यं नव्यं तन्तुमातन्वते (१।१५९।४); सप्ततन्तून् वितत्निरे कवय ओतवा उ (१।१६४।५); वत्सानां न तन्तयस्त इन्द्र दामन्वन्तो अदामानः सुदामन। (६।२४।४); तन्तुं तनुष्व पूर्व्यं यथा विदे (८।१३।१४); तन्तुं तन्वानमुत्तममनुप्रवत आशत। उतेदमुत्तमाय्यम् (९।२२।६); ततं तन्तुमचिक्रदः (९।२२।७); तन्तुं ततम् (९।६९।६); तन्तुर्विततः (९।७३।९); तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतम् (९।८६।३२)

(४९) बुनाई—उषासानक्ता वय्येव रण्विते, तन्तुं ततं संवयन्ती समीची (ऋ० २।३।६); मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे (२।२८।५); नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः॥ (६।९।२ और ६।९।३ भी); कवेश्चित् तन्तुं मनसा वियन्तः (१०।५।३); इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते (१०।१३०।१)

(५०) यजु० ८।६१

(५१) यजु० २०।४३—अच्छिन्नं तन्तुम्।

अथर्व के एक सूक्त में भी बुनाई के कार्य्य का अच्छा आलंकारिक वर्णन है। ऋग्वेद के समान इसमें भी खूँटियों (मयूखों–मेखों) और तसर (Shuttles) का उल्लेख है। इसमें करघे का नाम 'तन्त्र' है (वह यन्त्र जिसमें ताना-बाना हो सके)। इस तन्त्र में ६ मयूखें लगी हुई हैं। दो युवतियाँ बारी-बारी से एक-एक कर के इस करघे के पास आती हैं और बुनाई करती हैं। इनमें से एक तन्तु को निकालती है (तिरते) और दूसरी उसे लगाती है (धत्ते) ये धागे टूटते नहीं हैं (न अपवृञ्जाते)। इस कार्य्य का कोई अन्त नहीं है[५२]। ये युवतियाँ अपने कार्य्य को इतनी शीघ्रता से कर रही हैं कि नाचती-सी प्रतीत होती हैं। यह पता नहीं चलता कि उन दोनों में से कौन आगे है और कौन पीछे। वहाँ बैठा हुआ पुरुष धागे के ताने-बाने को बुनता है (वयति), और धागे को तोड़ता या विभक्त करता है (उद्गृणत्ति)। ये मयूखें द्यौस्थान तक फैली हुई हैं। बुनाई के कार्य्य के लिए साम तसरों (Shuttles) का उपयोग हो रहा है।

विवाह के समय वधू अपने पति के लिए वस्त्र स्वयं तैयार करती है। पति को उपहार दिये जानेवाले वस्त्र सुन्दर किनारियों से सज्जित और मृदु स्पर्शवाले होते हैं–

ये अन्तायावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः।
वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुपस्पृशात् ॥

इस मंत्र में दो शब्द ओतु (Woof) और तन्तु (Web) हैं। करघे के ताने (तन्तु) और बाने (ओतु) हमारे साहित्य के अति प्राचीन शब्द हैं।

कताई-बुनाई का इतना उल्लेख होते हुए भी यह आश्चर्य की बात है कि कपास या रुई का निर्देश वेदों में कहीं नहीं पाया जाता—कार्पास या तूल शब्द कहीं नहीं आते। (अथर्व में एक स्थल पर दूर्वा (दर्भ) सूक्त में मूल के अर्थ में तूल शब्द आया है)। यजुर्वेद में ऊन (ऊर्ण) के धागे से[५३] बुनाई करने का उल्लेख है— 'सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णा सूत्रेण कवयो वयन्ति।' अर्थात् कविगण ऊन के सूत से तन्त्र को बुनते हैं।

वालखिल्यसूक्त (८।५६।३) में ऊर्णावती अर्थात् ऊनवाली भेड़ का निर्देश है।

वेद में रेशम (क्षौम या कौशेय) का भी कहीं उल्लेख नहीं है। शल्मलि (सेमल

---

(५२) तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्तेअन्या नापवृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥
तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न विजानामि यतरा परस्तात्।
पुमानेनद् वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद् विजभाराधिनाके ॥
इमे मयूखा उपतस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे।
अथर्व० १०।४।७।४२–४४

(५३) यजु० १९।८०

की रुई) शब्द तो कई स्थानों पर आया है[५४], पर इस शल्मलि की रुई और उससे वस्त्र बनाने का कहीं निर्देश नहीं है।

शर्करा और ईख का प्रयोग

हम पहले यह कह चुके हैं कि वेद की ऋचाओं में मधु का विवरण अनेक स्थलों पर आता है,। मधु तैयार करने वाली सरघा, मधुकृत् या मधुमक्षी और उनके मधावधि या मधुकोष (छत्तों) के लिए भी ऋग्वेद तथा अथर्ववेद दोनों में एक मन्त्र आता है, जिसमें 'मध्वदः' मधु खानेवाले सुपर्ण (पक्षी) की ओर आलंकारिक संकेत है[५५]। पर यह मध्वद मधुसेवी मधुप या मधुकर नहीं है। मधुप शब्द का दो स्थलों पर ऋग्वेद में प्रयोग है[५६]; पर यहाँ भी केवल मीठा पीनेवाले का अभिप्राय है, न कि भौरों का। मधुधा (३।६१।५) भी इसी प्रकार सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मधु के अतिरिक्त दूसरी प्रसिद्ध मीठी चीज शक्कर है। क्या गन्ने की शक्कर प्राचीन आर्य्यजाति का आविष्कार है? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। शर्करा शब्द अथर्ववेद में प्रथम बार प्रयुक्त हुआ है—

शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा। (११।७।२१)

पर शर्करा का अर्थ कंकड़-पत्थर भी होता है और यह अर्थ सिकताः (बालू) और अश्मानः (पत्थर) के साथ सम्भवतः अधिक स्वाभाविक है। अन्य वेदों में शर्करा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

तो क्या गन्ने की शक्कर नहीं ज्ञात थी? अथर्ववेद से स्पष्ट इस बात की पुष्टि होती है कि वनस्पतियों से मधु प्राप्त होता था। अथर्ववेद के प्रथम काण्ड में एक 'मधु-वनस्पति' सूक्त है, जिसके अन्तिम मंत्र में 'इक्षु' (ईख) का भी निर्देश है[५७]। पहले ही मंत्र में इस ईख के सम्बन्ध में कहा है—

---

(५४) यच्छल्मलौ भवति...विषम् (ऋ० ७।५०।३), जो विष शल्मलि में होता है; सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपम् (ऋ० १०।८५। २०); न्यग्रोधश्चमसैः शल्मलिः वृद्ध्या (यजु० २३।१३)

(५५) यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते (ऋ० १।१६४।२२; अथर्व ९।९।२१)

(५६) वाजायेष्टे मधुपाविषे च (१।१८०।२); त्वं चिदर्णं मधुपं शयानम् (५।३२।८)

(५७) परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ अथर्व० १।३४।५
[Around thee have I girt a zone of sugarcane to banish hate.—Griffith]
यजुर्वेद (२५।१) में 'इक्षवः' शब्द सम्भवतः नीचेवाली पलकों के लिए आया है।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि ।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १।३४।१

यह पौधा मीठे से जन्मा है। मीठे से ही तुझे हम खोदते हैं; क्योंकि तू मधु के बीच में से उत्पन्न हुआ है, हमें भी मधुवान् बना।

धातु और खनिजों की परम्परा

वैदिक साहित्य में धातु शब्द का प्रयोग हिरण्य, लोह, सीस आदि के अर्थ में कहीं नहीं होता है। धातु शब्द जहाँ कहीं भी आया है, वह 'धातृ' के अर्थ में[५८]। प्राचीन समय में अयस् और लोह ये दोनों शब्द लोहे के अर्थ में भी प्रयुक्त होते थे और धातु मात्र के अर्थ में भी। धातुओं का उपयोग आभरणों, वाहनों, अस्त्र-शस्त्रों और गृहस्थी के पात्रों के बनाने में किया जाता रहा है। यह कहना कठिन है कि मानवजाति ने सबसे पहले किस धातु का प्रयोग सीखा और वह धातु पार्थिव पदार्थों से किस प्रकार प्राप्त की।

एक स्थल पर अनेक धातुओं और खनिज पदार्थों की सबसे पुरानी सूची यजुर्वेद के निम्नलिखित मंत्र में है[५९]—

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पताम्।

इस मंत्र में अश्म (पत्थर), मृत्तिका (मिट्टी) और सिकता (बालू) के अतिरिक्त हिरण्य (सोना), अयस् (लोहा अथवा काँसा), श्याम (ताँबा), लोह (लोहा), सीस (सीसा) तथा त्रपु (वंग या टिन) धातुओं का उल्लेख है। अयस् शब्द से जर्मन Eisen शब्द निकला है जिसका अर्थ लोहा है। ग्रीफिथ ने इस मंत्र में इसका अर्थ काँसा किया है और श्याम का अर्थ ताँबा। हो सकता है कि अयस्, श्याम और लोह—तीनों ही विभिन्न प्रकार के लोहे हों। यह आश्चर्य है कि इस सूची में चाँदी या रजत का उल्लेख नहीं है। भारतवर्ष में चाँदी होती भी कम है, बर्मा में ही चाँदी की अधिक खानें हैं।

ऋग्वेद की ऋचाओं में अनेक स्थलों पर अयस् शब्द का प्रयोग हुआ है[६०]; कई

(५८) ऋ० १।१९०।८; ५।४४।३; ६।४७।११; १०।११।२; १०।५६।२; १०।१८।११; यजु० २०।५०, ५४; १४।२४; २५।४; ३७।१२

(५९) यजु० १८।१३

(६०) ऋ० १।५६।३; हिरण्यचक्रानयो दंष्ट्रान् १।८८।५ (सुअर के लोहे के से दाँत); हिरण्यशृंगोऽयो अस्यपादा १।१६३।९ (लोहे के पैर); अयस्मयः ५।३०।१५; (विलसन अयस्मय का अर्थ हिरण्यमय अर्थात् सोने का करता है, ग्रीफिथ धातुमय); हिरण्यनिर्णिगयो अस्य स्थूणा ५।६२।७ (लोहे के स्थूण या स्तंभ); ५।६२।८ भी; अयसो न धाराम् ६।३।५ (तीर की लोहे की धार); धियमयसो न धाराम् ६।४७।१० (लोहे की धार ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि); अयोमुखम् ६।७५।१५ (तीर जिनके मुख लोहे के हों)।

स्थलों पर यह प्रयोग हिरण्य के साथ है, और संभवतः निम्न जाति की धातु-मात्र (baser metals) के लिए यह शब्द आया है। तीर और काटने के औजार में (चाकू, हँसिया आदि), जिनमें तेज़ धार की आवश्यकता हो, इसका उपयोग किये जाने का संकेत है। लोह शब्द ऋग्वेद में नहीं है और न इस अर्थ में अथर्व में ही।

यजुर्वेद के एक मन्त्र में अयस्ताप (iron smelter) का उल्लेख है[६१] जो लोहे के खनिज को लकड़ी-कोयला आदि के साथ तपाकर लोहा तैयार करता है। धातु को तपाकर तैयार करने की ओर संकेत अथर्व के भी एक मंत्र में है, जिसमें तीन मुख्य धातुओं—सोना (हरित), चाँदी (रजत) और लोहा (अयस्)—का नाम आया है:—'हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि[६२]।' इसी सूक्त के अगले मन्त्रों में चाँदी या रजत के लिए 'अर्जुन' शब्द का प्रयोग किया गया है।[६३] जिस प्रकार पीले यी मनोहारी रूप के कारण सोना 'हरित' कहलाता है, उसी प्रकार सफेद रूप के कारण चाँदी को अर्जुन कहा गया है—

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम्।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम्॥[६३]

रसायन-जगत् में चाँदी को अर्जेण्टम (argentum) कहा जाता है, यह शब्द रजत और अर्जुन दोनों का ही विकृत रूप है। लोहे से बन्ध-पाश (बाँधने की जंजीरें—binding fetters wrought of iron) और लोहे के द्रुपद (खम्भे या खूँटा) की ओर भी अथर्ववेद में संकेत है—

अयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान्। (६।६३।२, ८४।२)
अयस्मये द्रुपदे बेधिषे। (६।६३।३; ८४।४)

लोहे के बरछे या दुधारी तलवारें जिन्हें 'ऋष्टि' कहा जाता है, लोहे की तैयार किये जाने की ओर भी संकेत है—ऋष्टीरयस्मयीः (४।३७।८)। कुछ ऋष्टियाँ हिरण्यमयी (सुनहरी या सोने की) भी होती होंगी—ऋष्टीर्हिरण्ययीः (४।३७।९)

त्रपु (रांगा या टिन) का उल्लेख स्वर्ण, ताम्र (श्याम) और लोहित (लोहे) के साथ अथर्व में इस प्रकार है—'श्याममयोऽस्य मांसानि, लोहितमस्य लोहितम्। त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः' [इसका मांस ताम्र (श्याम) वर्ण का है, और रुधिर लोह-वर्ण का है, इसकी भस्म 'वंग' (रांगा, त्रपु) वर्ण की है, और इसका रंग हिरण्य (स्वर्ण) है (११।३।७-८)]।

सीसा धातु (सीस) का उल्लेख ऋग्वेद में तो नहीं, पर अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (दधत्वं सीसम्) में हुआ है[६४]—

---

(६१) यजु० ३०।१४ (मन्यवे अयस्तापम्)।

(६२) अथर्व० ५।२८।१; तपसा—'through the fire that was used in melting the metals'—Griffith.

(६३) अथर्व० ५।२८।९, और इसी प्रकार ५।२८।५ (वीरुद्भिष्टे अर्जुनम्)।

(६४) अथर्व १।१६।२-४

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।
सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥

वरुण, अग्नि और इन्द्र तीनों की कृपा या आशीर्वाद से सीसा धातु प्राप्त हुई है, जो शत्रुओं को दूर भगानेवाली है।...हम तुम्हें इस सीस से वेधते हैं, जिससे तुम हमारे मनुष्यों को न मार सको। ऐसा प्रतीत होता है कि सीसे के बने छर्रे (lead shots) युद्ध में शत्रुओं को वेधने में काम आते थे।

हम कह चुके हैं कि श्याम शब्द संभवतः ताँबे के लिए यजुर्वेद में प्रयुक्त हुआ है। ताँबे या ताम्र का उल्लेख ताम्रवर्ण के लिए अथर्ववेद में एक स्थान पर इस प्रकार हुआ है[६५]—

तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ।

पुरुष के शरीर में ऊपर, नीचे, तिरछे, रुधिर तीव्र गति से अरुण (लाल), ताम्र (ताँबे के रंग सा) और धूम्र वर्ण का (अथवा अरुण वर्ण का और ताम्र धूम्र वर्ण का) प्रत्येक दिशा में प्रवाहित हो रहा है। इस मन्त्र में ताम्र शब्द जहाँ महत्त्व का है, वहाँ रुधिर के प्रवाहचक्र का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। अरुण वर्ण का रुधिर और ताम्र-धूम्र वर्ण का रुधिर ये ग्रीफिथ के शब्दों में "Distinguishing arterial and venous blood" अर्थात् धमनी और शिराओं के दो प्रकार के स्वच्छ और विकृत रुधिर हैं। अथर्ववेद का यह सूक्त (१०।२) शरीर-रचना (anatomy) का सूक्त है (यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त से भिन्न यह एक पुरुष-सूक्त है)।

पारद, यशद आदि धातुओं और माक्षिक, गैरिक, गन्धक, तुत्थ, सौवीरांजन, सुवर्चिक, तुवरी (स्फटिकी, फिटकरी), अभ्रक आदि अनेक रासायनिक पदार्थ इन नामों के साथ आगे के एक युग में विख्यात हुए और साहित्य और समाज में उनका प्रयोग हुआ। अम्ल, क्षार, कषाय आदि शब्दों का भी प्रयोग ऋचाओं में नहीं हुआ। भस्म शब्द राख के अर्थ में अवश्य आता है।

ध्वनि-विज्ञान, स्वर और वाद्य

वैदिक ऋचाओं के साथ छन्द और स्वर का विशेष सम्बन्ध माना जाता है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों के अतिरिक्त षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर भी माने जाते हैं। इन सात स्वरों ने ही संगीत-शास्त्र की नींव डाली और यही आज के 'सरगम' बने। वैदिक मन्त्रों में छन्दों के गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् और जगती—इन सात छन्दों के नाम मुख्यतः आते हैं।[६६] इनके अतिरिक्त विराट्, द्विपद, ककुभ और अति-

---

(६५) अथर्व १०।२।११
(६६) यजु० १४।१८

च्छन्द[६७] का भी वर्णन है। कहीं-कहीं शक्वरी[६८] और अन्य अनेक छन्दों के भी नाम आये हैं। वेदांगों में (पिंगल के छन्दःशास्त्र और पाणिनीयम् में) स्वरों के नामों का उल्लेख है। पर यह आश्चर्य की बात है कि षड्ज से लेकर निषाद तक के सात स्वरों का नाम वेद की किसी भी ऋचा में नहीं है।

सात छन्दों के समन्वय में सात स्वरों के नाम पड़े। पाइथागोरस ने (५८५ वर्ष ई० से पूर्व) सात ग्रहों के साथ सात स्वरों का समन्वय किया था।[६९] पिंगल के छन्दः शास्त्र में इनका समन्वय सात देवताओं, सात रंगों और सात गोत्रों के साथ किया गया। आगे चलकर साहित्य में इनका सम्बन्ध सात प्राणियों के साथ भी हो गया।

स्वर	**छन्द**	**देवता**	**वर्ण**	**गोत्र**
षड्ज	गायत्री	अग्नि	सित	आग्निवेश्य
ऋषभ	उष्णिक्	सविता	सारंग	काश्यप
गान्धार	अनुष्टुभ्	सोम	पिशंग	गौतम
मध्यम	बृहती	बृहस्पति	कृष्ण	आंगिरस
पंचम	पंक्ति	मित्रावरुण	नील	भार्गव
धैवत	त्रिष्टुभ्	इन्द्र	लोहित	कौशिक
निषाद	जगती	विश्वेदेवा	गौर	वासिष्ठ

अस्तु, यह आश्चर्य की बात है कि वैदिक मन्त्रों का सम्बन्ध छन्दों के अनुसार षड्जादि सात स्वरों से कर दिया गया; पर वैदिक मन्त्रों में ऋषभ, मध्यम, धैवत, निषाद, गान्धार आदि 'स्वर' शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुए। सप्तक की खोज ध्वनि और संगीत विज्ञान की परम मौलिक और अत्यन्त उपयोगी खोज है। हमारे लिए आज उन परिस्थितियों का अनुमान लगाना कठिन है, जिनमें आर्य-जाति ने सप्तक के सात स्वरों की नींव डाली और इसके आधार पर संगीतशास्त्र की स्थापना की। छन्दों में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत की कल्पना तथा फिर उस कल्पना के साथ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों द्वारा ध्वनि का आरोह-अवरोह (जिसने आगे संगीत-शास्त्र में सम्भवतः ताल को जन्म दिया) और इनके साथ साम-स्वरों की अन्य सूक्ष्मताएँ—ये सब संगीत-प्रिय समाज की ओर संकेत करती हैं। ऋक् के निम्न-लिखित मन्त्रों से गायन-प्रियता के प्रति मानवजाति ने प्रेरणा प्राप्त की[७०]—

---

(६७) यजु० २८।२४-४५; २१।१९-२२

(६८) ऋ० १०।७१।११

(६९) Mese (middle one)-A—sun; Paramese (next to middle)-B—mercury; Paranete (next to shortest)-C—venus; Nete (lowest)-D—moon; Lichanos (forefinger string)-G-mars; Parhypate (next to highest)-F—Jupiter; Hypate (highest)-E—Saturn.

(७०) ऋ० २।४३।१-२

प्रदक्षिणिदभि गृणन्ति कारवो वयो वदन्त ऋतुथा शकुन्तयः।
उभे वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानु राजति ॥
उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि।

इन मंत्रों में पक्षियों (शकुन्ति या शकुनि) के गान की तुलना साम गानेवाले (सामगा) ब्रह्मपुत्रों या उद्गाताओं से की गई है। यज्ञ में सामगान उतना ही प्रिय लगता है जितना कि पक्षियों के तरल कण्ठ से निकला कूजित संगीत। सामगान-प्रियता ने प्रणव को आगे के साहित्य में उद्गीथ की संज्ञा प्रदान की (जैसे रामधुन में राम शब्द का मधुर-ध्वनि से गायन होता है, उसी प्रकार प्रणव या ओ३म् शब्द का जब गायन होता था, तब उसका नाम उद्गीथ पड़ा था)।

संगीत-प्रियता ने वाद्य यंत्रों को भी प्रेरणा दी। वाद्य यंत्र तीन प्रकार के विशेष होते हैं—मुँह से फूँक कर बजाये जानेवाले, जैसे—शंख, ठोंक कर बजाये जानेवाले, जैसे—ढोल, दुंदुभि, तबला, मृदंग आदि और तारों की झंकार से बजनेवाले जैसे वीणा आदि। तार की झंकार से संगीत स्वर उत्पन्न करने की सबसे पहली प्रेरणा धनुष की प्रत्यंचा की टंकार से मिली। शूरवीर योद्धा जब जल्दी-जल्दी धनुष को कानों तक खींचकर सैकड़ों तीर छोड़ता था, तब ताँत के कम्पन से युद्ध-संगीत की सृष्टि हो जाती थी। "अवस्वराति गर्गरो गोधा परिसनिष्वणत्। पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम्[७१]।" पिङ्ग धनुष की डोरी को कहते हैं। इसमें दो वाद्य यन्त्रों का उल्लेख है—गर्गर (viol, drum) और गोधा। गोधा वस्तुतः चमड़े की वह पेटी होती है जो बायें हाथ में बाँध ली जाती है, जिससे भुजा धनुष की डोरी के आघातों से बची रहे। ग्रीफिथ ने गोधा का अनुवाद lute भी किया है। गर्गर वाद्य यंत्र का उल्लेख ऋक् और अथर्व में केवल एक-एक स्थान पर आया है।

ऋग्वेद में 'गर्गर' के समान एक दूसरे वाद्य यंत्र 'कर्करी' का भी उल्लेख है[७२]—

यदुत्पतन् वदसि कर्करिर्यथा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥

अथर्व में भी 'कर्करिको निखातकः', 'क एषां कर्करी लिखत्'[७३] और 'यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति'[७४] वाक्य आये हैं जिनमें कर्करि वाद्य का उल्लेख है। इसी मंत्र में 'आघाट' नामक एक और वाद्य का उल्लेख है, जो पीट-पीटकर बजाया जाता है। दुन्दुभि भी नगाड़े के समान ही वाद्य है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों में है[७५]—स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैः (ऋ०); दुन्दुभेऽधिनृत्य वेदः (अथर्व)।

(७१) अथर्व० २०।९२।६; ऋ० ८।६९।९

(७२) ऋ० २।४३।३

(७३) अथर्व० २०।१३२।३,८

(७४) अथर्व० ४।३७।५

(७५) ऋ० ६।४७।२९; अथर्व० ५।२०।१०

वस्तुतः अथर्ववेद के ५ वें काण्ड का २० वाँ सूक्त दुन्दुभि विषयक ही है। दुन्दुभि शब्द का तो प्रयोग बहुत काफी मंत्रों में है।

• यह स्मरणीय बात है कि गर्गर, कर्करि और दुन्दुभि—ये तीनों शब्द ध्वन्यात्मक हैं। गड़गड़ाकर बोलनेवाला वाद्य गर्गर, कड़कड़ानेवाले कर्करि और दुम्-दुम्-दुम्-दुम् ध्वनि जिसमें से निकले वह दुन्दुभि है। दुन्दुभि शब्द का प्रयोग तो ऋग्वेद के समय से आज तक बराबर हमारे साहित्य में होता रहा है, गर्गर और कर्करि यंत्र अब प्रचलित नहीं हैं। कई प्रकार के वाद्य यंत्रों की एक अच्छी सूची यजुर्वेद में है[७६]—

प्रतिश्रुत्कायाऽअर्तनं घोषाय भषमन्ताय बहुवादिनमनन्ताय मूकꣳ शब्दायाडम्बराघातं महसे वीणावादं क्रोशाय तूणवध्ममवरस्पराय शङ्खध्मं वनाय वनपमन्यतोरण्याय दावपम् ॥

इस मंत्र में इतने वाद्यों के नाम आये हैं—आघात (आघाट)—ढोल या नगाड़ा; वीणा, तूणव (flute बाँसुरी), शंख। इस मंत्र के ही अगले मंत्र में ये शब्द हैं—'वीणावादं, पाणिघ्नं तूणवध्मं तान्नृत्तायानन्दाय तलवम्[७७]।' अर्थात् नृत्य के लिए वीणा बजानेवाले, हाथ से तालियाँ बजानेवाले और तूणव (बाँसुरी) बजानेवाले, इनका आयोजन हो और सामान्य आनन्द-प्रमोद के लिए 'तलव' का अर्थात् गानेवालों का। इस मंत्र में 'पाणिघ्न' शब्द महत्त्व का है। तालियों का ताल देने की ओर संकेत है। (सम्भवतः हथेली से ठोंककर बजानेवाले तबलचियों या ढोलकियों की ओर संकेत हो।)

इस प्रकार इन मंत्रों में तारवाले यंत्र जैसे वीणा, मुँह से फूँककर बजाये जानेवाले यंत्र जैसे शंख और 'तलव' तथा हाथ से ठोंककर बजाये जानेवाले वाद्य यंत्र और ढोल, आघातादि का वर्णन है। संसार के विभिन्न देशों में जितने वाद्य यंत्र विकसित हुए हैं, वे सब लगभग इन्हीं तीन जातियों के हैं। इनकी परम्परा इस देश में इतनी पुरानी है—यह हमारे लिए गौरव की बात है।

अंकों का प्रारम्भ

संसार में अंकों के प्रयोग की परम्परा बहुत ही पुरानी है। सन् १८५४ में बेबिलोन के निकट 'संकेरे' (Senkereh) में एक पट्टिका पाई गई, जो ईसा से २३००–१६०० वर्ष पूर्व की लिखी समझी जाती है। इस पट्टिका में $१^२$ से $६०^२$ तक के वर्गांक और $१^३$ से $३२^३$ तक के घनांक पाये गये हैं। मिस्र देश में ३३०० वर्ष ईसा से पूर्व तक के लेखों में गिनती का उल्लेख है और उनके लिखने की पद्धति का भी विवरण है (Hieroglyphic symbols)। मिट्टी के ऊपर लिखे हुए यूनानी अंक १५०० वर्ष ईसा से पूर्व तक के पाये गये हैं। हमारे देश में अंकों की लिखावट का सम्भवतः इतना पुराना प्रमाण तो नहीं है; पर यह निश्चय है कि अंकों का उपयोग भारत की परम्परा में ही आरम्भ हुआ। संख्या का जन्म इसी

(७६) यजु० ३०।१९

(७७) यजु० ३०।२०

देश में हुआ। एक, द्वि और बहुवचन का प्रयोग गिनती का आरम्भ है। गिनती गिनने की आवश्यकता किन परिस्थितियों में उद्भूत हुई, यह कहना कठिन है। एक और द्वि संख्या को किस प्रकार महत्त्व प्राप्त हुआ, इसका आज अनुमान नहीं लगाया जा सकता। द्विवचन क्यों बहुवचन नहीं है, यह हम आज के वातावरण में नहीं समझ सकते हैं। नौ संख्या नई संख्या क्यों मानी जाने लगी, दस संख्या में शून्य का प्रयोग है या नहीं और इसमें एक का अंक निहित है या नहीं, इसका निश्चय हम आज नहीं कर सकते। शत, सहस्र की भावना और दस से उसका सम्बन्ध—ये प्राचीन समय के गौरवपूर्ण आविष्कार हैं, जिनका हमारे पास इस समय कोई इतिहास नहीं है।

वेदों में गिनतियों का उपयोग एक साधारण बात है। ऋग्वेद में प्रयुक्त कुछ संख्यावाचक शब्द हम यहाँ देते हैं।

एक—एकः	१।७।९				
एकादश	१०।८५।४५				
एकऽशत	१०।१३०।१				
द्वि	१।५३।९	द्वितीय	१।१४१।२		
द्वादश	१।२५।८				
त्रि	१।२०।७	त्रय	१।३४।२	तृतीय	१।१४१।२
त्रिंशत्	३।९।९	त्रयःऽत्रिंशत्	१।४५।२		
त्रिंशतऽशत	६।२७।६				
चतस्र	१।१६२।६	चत्वारः	१।१२२।१५		
चतुः	१।३१।१३	चत्वारिंशत्	१।१२६।४		
चतुःऽदश	१०।११४।७	चत्वारिंशता	२।१८।५		
चतुःऽत्रिंशत्	१।१६२।१८				
चतुःऽशत	८।५५।३				
चतुःसहस्र	५।३०।१५				
पंच	१।७।९				
पंचऽदश	१०।८६।१४				
पंचऽपंच	३।५५।१८				
पंचाशत्	४।१६।१३				
पंचाशतः	१।१३३।४				
षट्	१।२३।१५				
षट्त्रिंश	१०।११४।६				
षष्टि	१।१२६।३				
सप्त	१।२२।१६				
सप्तति	१०।९३।१५				
सप्तिः	२।३१।७				



चित्र १—ई० सन् से ५० वर्ष पूर्व की स्वर्णांकित रत्नपेटिका। (पृष्ठ २०८)

अष्ट	७।८४।५	अष्टम २।५।२
नव	२।१८।१	नवम ५।२७।३
नवःऽनवः	१०।८५।१९	
नवति	१।३२।१४	
दश	१।५३।६	दशम ८।२४।२३
शत	१।२४।९	शतऽतम ४।२६।३
सहस्र	१।११।८	
षष्टिःसहस्र	१।१२६।३	
अयुत	४।२६।७	

इस सूची से ऋग्वेद में प्रयुक्त संख्याओं का कुछ अनुमान हो सकता है। संभवतः अयुत (१०,०००) से बड़ी संख्या मापक इकाईवाला नाम नहीं मिलता, यों तो षष्टि सहस्र का अर्थ ६०,००० है। लक्ष, कोटि, अर्बुद आदि संख्यावाचक शब्दों का भी प्रयोग नहीं है।

शून्य शब्द ऋग्वेद में नहीं पाया जाता। 'खे'' शब्द एक मन्त्र में तीन बार प्रयुक्त हुआ है—

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो। (ऋ० ८।९१।७)

खे अराँ इव खेदया। (८।७७।३)

'ख' का अर्थ आकाश या शून्य है और ऋक् के इन मन्त्रों में 'खे' का अर्थ 'सूराख में' इस प्रकार का है। सूराख गोल होते हैं, आकाश या शून्यवाचक 'ख' संख्या की आकृति भी इसीलिए गोल मानी गई। आगे ज्योतिष् ग्रन्थों में भी शून्य के लिए 'ख' शब्द का प्रयोग हुआ है।

यजुर्वेद में संख्यात्मक शब्दों का कुछ स्थलों पर अच्छा उल्लेख है। इसके नवें अध्याय में 'अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्' से लेकर 'सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम्' तक एक से लेकर सत्रह तक की संख्या का प्रयोग हुआ है[७८]।

एक मन्त्र में १५,१७,१९; १८,१९,२०; २२,२३,२४,२५; ३१,३३; ३४,३६ और ४८ संख्याओं का उक्त क्रम में प्रयोग हुआ है[७९]।

एक मन्त्र में प्रथम, द्वितीय, तृतीय से लेकर द्वादश तक की संख्याओं का प्रयोग हुआ है[८०]—

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीयऽआदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऽऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे। मित्रो नवमे वरुणो दशमऽइन्द्रऽएकादशे विश्वेदेवा द्वादशे॥

यह मंत्र इस दृष्टि से और महत्त्व का है कि इसमें १, २, ३ आदि से सम्बन्ध

(७८) यजु० ९।३१-३४

(७९) यजु० १४।२३

(८०) यजु० ३९।६

रखनेवाले प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि संख्यावाचक शब्दों का एक क्रम से उल्लेख है।

शत और सहस्र शब्दों का उलेल्ख अनेक स्थलों पर है, जैसे 'या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि'[८१]। एक मंत्र में असंख्य 'हजार' का भी संकेत है—'असंख्याता सहस्राणि'[८२]। यजुर्वेद के १४ वें अध्याय में चार मंत्र एक क्रम से इस प्रकार के आये हैं जिनमें एक क्रम से १ से लेकर ३३ तक की समस्त विषम गिनतियों अर्थात् १, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९, २१, २३, २५, २७, २९, ३१ और ३३ का तृतीया विभक्ति में प्रयोग हुआ है[८३]।

यजुर्वेद के एक मंत्र में १, २ और ३ के १०, २० और ३० से स्पष्ट सम्बन्ध की ओर संकेत है[८४]—'एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विंᳫशती च। तिसृभिश्च वहसे त्रिᳫशता च नियुद्भिर्वायविह ता वि मुञ्च।'

यजुर्वेद के निम्नलिखित मंत्र में संख्याओं का इस प्रकार प्रयोग हुआ है, मानों ४ का एक दर्जन तक (४×१२ तक) पूरा पहाड़ा हो[८५]—

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंᳫशतिश्च मे विंᳫशतिश्च मे चतुर्विंᳫशतिश्च मे चतुर्विंᳫशतिश्च मेऽष्टाविंᳫशतिश्च मेऽष्टाविंᳫशतिश्च मे द्वात्रिᳫशच्च मे द्वात्रिᳫशच्च मे षट्त्रिᳫशच्च मे षट् त्रिᳫशच्च मे चत्वारिᳫशच्च मे चत्वारिᳫशच्च मे चतुश्चत्वारिᳫशच्चमे चतुश्चत्वारिᳫशच्च मे ऽष्टाचत्वारिᳫशच्च मे यज्ञेन कल्पताम्॥

मैंने यह अभी पहले कहा है कि ऋग्वेद में १ से लेकर अयुत (१००००) तक के गणनासूचक शब्दों का निर्देश है। पर यजुर्वेद में एक मंत्र है जिससे हम गिनती को बहुत आगे तक ले चल सकते हैं[८६]—

इमा मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके॥

एक	–	१	अयुत	१०,०००
दश	–	१०	नियुत	१००,०००
शत	–	१००	प्रयुत	१,०००,००० (million)
सहस्र	–	१,०००	अर्बुद	१००,०००,०००

(८१) यजु० १३।२१

(८२) यजु० १६।५४

(८३) यजु० 'एकयास्तुवत प्रजा०' से 'नवदशभिरस्तुवत्' तक १४।२८-३१। इसी प्रकार 'एकाचमे तिस्रश्चमे' (यजु० १८।२४) में भी।

(८४) यजु० २७।३३

(८५) यजु० १८।२५

(८६) यजु० १७।२

न्यर्बुद	१००,०००,०००,०००
परार्द्ध	१,०००,०००,०००,००० (billion)

प्रयुत और परार्द्ध अंग्रेजी या जर्मन मिलियन और बिलियन हैं। यह गिनती हमारी वर्तमान गिनती से, जिसमें लाख, दस लाख, करोड़, दस करोड़ आदि शब्दों का प्रयोग होता है, भिन्न है। अंग्रेजी पद्धति से इसका समन्वय अधिक है। अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद और परार्द्ध शब्द छोटे और सुगम हैं।

ऋतु और संवत्सर

खगोल ज्योतिष् का आरंभ सूर्य्य, पृथिवी, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह और उपग्रहों की गति-परिज्ञान से होता है। गति-परिज्ञान के लिए देश और काल दोनों की मापों का प्रयोग आवश्यक है। ज्योतिष ज्ञान की ओर संकेत निम्नलिखित मन्त्र में स्पष्ट है[८७]—"**कोऽस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षम्। कः सूर्य्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः**'—कौन इस विश्वमंडल की नाभि को जानता है? कौन द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को जानता है? इस बृहद् सूर्य्य के जन्म-स्थान को कौन जानता है? कौन यह जानता है कि यह चन्द्रमा कहाँ से उत्पन्न हुआ? ये प्रश्न हैं जो कौतूहल के समान हमारे सम्मुख उत्पन्न हुए, और इन प्रश्नों के समाधान के प्रयास ने आज के विश्वज्योतिष् का विकास किया। इस कौतूहल के परिणाम-स्वरूप मानवजाति ने संवत्सर और ऋतुओं के साथ दिन-रात के चक्र को समझना आरम्भ किया। इस संबंध में मैं केवल एक मन्त्र दूँगा[८८]—

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताᳬं संवत्सरस्ते कल्पताम्।

इस मन्त्र में काल-मान-सूचक शब्द हैं—संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर, वत्सर, उषा, अहोरात्र, अर्धमास, मास और ऋतु। चान्द्र और सौर वर्षों का समन्वय पाँच वर्षों के एक चक्र में होता है। इन पाँच वर्षों के नाम संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर हैं। भारतीय ज्योतिष की एकमात्र यह विशेषता रही है कि चान्द्र और सौर—दोनों गतियों का जहाँतक संभव हो, समन्वय किया जाता रहे। इस समन्वय को यजुर्वेद के इस मन्त्र से प्रेरणा मिलती है। चान्द्रगति ने अहोरात्र, अर्धमास (पक्ष) और मास को जन्म दिया तथा सौर-गति ने ऋतु और वत्सरों को। दिनों का सप्ताहों में विभाजन करना इस देश की पुरानी परम्परा नहीं है। सप्ताह के रूप में विभाजन करना ज्योतिष के किसी वेध के आधार पर नहीं हो सकता। संभव है कि बाइबिल के सृष्टिक्रम में सात दिनों को जो महत्त्व मिला और जिसके आधार पर 'सैबेथ' की कल्पना की गई, उससे सम्बन्ध रहा हो। मास साधारणतया तीस दिन का होता है, और तीस के गुणनखंड—१५,६,५,१०,३,२ के आधार पर

(८७) यजु० २३।५९

(८८) यजु० २७।४५

याज्ञिक कृत्यों का आरम्भ हुआ। त्र्यह, षडह, द्वादशाह[८९] आदि कृत्य तो बने; पर सप्ताह ऐसे किसी कृत्य का हमारे वैदिक साहित्य में उल्लेख नहीं है।

काल-चक्र की कल्पना की प्रेरणा ऋक् के अनेक मन्त्रों से मिलती है। रथचक्र के समान कालचक्र भी है, और उसके उद्धरण ऋक् के प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त से ही, कुछ मन्त्रों से, देना समुचित समझता हूँ—

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥११॥

द्यौ लोक में घूमनेवाले इस काल-चक्र में कभी न क्षीण होनेवाले बारह 'अरा' लगे हुए हैं (बारह अरा=बारह राशियाँ[९०], या बारह मास)। इसमें मिथुन-भाव से अर्थात् २-२ के जोड़े में ७२० पुत्र स्थित हैं (३६० दिन में ७२० दिन-रात)।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम् ॥१२॥

जब सूर्य्य दूसरे गोलार्ध में होता है, तब कुछ लोग उसे पुरीषिण् कहते हैं। इसके पाँच पाद होते हैं और बारह आकृतियों वाला यह पितर है। जब यह इस ओर के गोलार्ध में होता है, और सात चक्रोंवाली गाड़ी में, जिनमें ६-६ अरा होते हैं, शोभित होता है, तब इसे अर्पित कहते हैं। [ये दो गोलार्ध उत्तरायण और दक्षिणायन हैं। सात चक्र सूर्य की सात रश्मियाँ हैं, छ अरा छः ऋतुएँ हैं। पंचपाद भी पाँच ऋतुएँ हैं, यदि शरद और हेमन्त को अथवा हेमन्त और शिशिर को मिलाकर एक ऋतु मान ली जाय।]

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥२॥

इस एक चक्रवाले रथ में सात (अश्व) जुते हुए हैं। वस्तुतः है तो एक ही अश्व, पर उसके सात नाम हैं। इस चक्र में तीन नाभियाँ हैं। यह चक्र न तो कभी जीर्ण होता है और न ढीला पड़ता है, और इसमें समस्त भुवन स्थित हैं। [तीन नाभियाँ = दिन की तीन सन्ध्याएँ अथवा तीन मुख्य ऋतु,—जाड़ा, गर्मी, बरसात; अथवा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान ये तीन काल। एक चक्र का रथ = एक वर्ष या सौरमण्डल; सात अश्व = सात प्रकार की किरणें।]

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥४८॥

---

(८९) **ऐतरेयब्राह्मण—महीने के तीस दिन पाँच षडह में बँटे हुए हैं। ४।३।१। तीन दिन का त्र्यह होता है, और बारह दिन का द्वादशाह।४।४।२**

(९०) Twelve spoked wheels—the twelve signs of zodiac (**सायण**). At the same time, M. Mollien has shown, that there is no reason to suppose that the zodiacal divisions were unknown to the Hindus at the probable date of the Vedas.—Wilson.

इस चक्र में १२ प्रधय हैं। चक्र एक है। तीन नाभियाँ हैं, पर कौन कह सकता है! इसमें ३६० शंकु हैं जो चल भी हैं और अचल भी। [१२ प्रधय = १२ राशियाँ; एक चक्र = वर्ष; तीन नाभियाँ = तीन ऋतुएँ और ३६० शंकु = ३६० दिन]।

ऋक् के इस सूक्त में जिस प्रकार के मन्त्र हैं, वैसे ही अनेक अन्य मन्त्र ऋक् और अथर्व में अन्यत्र भी हैं, जिनका देना यहाँ अनावश्यक है।

अथर्ववेद के एक सूक्त (१९।७) में २८ नक्षत्रों का उल्लेख है—चित्रा, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरस्, आर्द्रा, पुनर्वसू, सूनृता, पुष्य, आश्लेषा, 'मघा, पूर्वाफाल्गुनी, स्वाति, हस्त, राधस्, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, अषाढ़ा, उत्तराफाल्गुनी, अभिजित्, श्रवण, श्रविष्ठा, शतभिषक्, प्रोष्ठपदा, रेवती, अश्वयुज और भरणी।

व्यवसाय

वैदिक प्रेरणाओं से निर्मित समाज में जनता का संविभाजन विभिन्न व्यवसायों में हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक था। भिन्न-भिन्न गुणों और प्रवृत्तियों वाले व्यक्तियों ने विभिन्न व्यवसायों को अपनाया और समाज में सार्वजनिक जीवन की नींव डाली। ब्रह्मकृत्यों के लिए ब्राह्मण, राज्यकृत्यों के लिए क्षत्रिय, वणिक् और कृषि के लिए वैश्य तथा सेवा और तपस्या के लिए शूद्र[९१]—ये वर्णविभाग तो बने ही। यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में अनेक अन्य व्यवसायों का उल्लेख आया है, जिनमें से हम केवल उनकी ओर संकेत करेंगे, जिनका सम्बन्ध उद्योग से है।

कारि—शिल्पकार (३०।६)
रथकार—रथ बनानेवाला (३०।६)
तक्षाण—बढ़ई (३०।६)
कौलाल—कुम्हार का पुत्र (३०।७)
कर्मार—शिल्पकार या राज-मिस्त्री (३०।७)
मणिकार—जौहरी (३०।७)
वप—बीज बोनेवाला (३०।७)
इषुकार—वाण बनानेवाला (३०।७)
धनुष्कार—धनुष बनानेवाला (३०।७)
ज्याकार—धनुष की ज्या (ताँत) बनानेवाला (३०।७)
रज्जुसर्ज—रस्सी बनानेवाला (३०।७)
मृगयु—शिकारी या मृगों को जाननेवाला (३०।७)
श्वनिन—कुत्तों का जाननेवाला (३०।७)
पौञ्जिष्ठ—मछुआ (३०।८)
विदलकारी—बाँस चीरनेवाली स्त्री (३०।८)

(९१) ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम् (यजु० ३०।५)

कण्टकीकारी—काँटों से काम करनेवाली स्त्री (३०।८)
पेशस्कारी—कढ़ाई का काम करनेवाली स्त्री (३०।९)
भिषज—वैद्य (३०।१०)
नक्षत्रदर्श—ज्योतिर्विद् (३०।१०)
हस्तिप—पीलवान या हाथियों का रक्षक (३०।११)
अश्वप—कोचवान या घोड़ों का रक्षक (३०।११)
गोपाल—ग्वाल (३०।११)
अविपाल—भेड़ों का पालक, गड़ेरिया (३०।११)
अजपाल—बकरियों का पालक (३०।११)
कीनाश—किसान (३०।११)
सुराकार—सुरा बनानेवाला (३०।११)
गृहप—घर का रक्षक (द्वारपाल) (३०।११)
अनुक्षत्तृ—द्वारपाल का अनुचर (३०।११)
दार्वाहार—लकड़हारा (३०।१२)
अग्न्येध—आग जलाने वाला (३०।१२)
अभिषेक्तृ—अभिषेक करनेवाला (३०।१२)
पेशितृ—नक्काशी या कढ़ाई (Carving) करनेवाला मिस्त्री (३०।१२)
वासःपल्पूली—धोबिन (३०।१२)
रजयित्री—रंगरेजिन (३०।१२)
अयस्ताप—लोहार (लोहा गलानेवाला) (३०।१४)
योक्तृ—हल या रथ का जुआ लगानेवाला (३०।१४)
आञ्जनीकारी—अञ्जन बनानेवाली (३०।१४)
कोशकारी—म्यान बनानेवाली (३०।१४)
अजिनसन्ध—खाल साफ करनेवाला और खाल पकानेवाला (३०।१५)
चर्मम्न—चर्म को अन्त में नरम करनेवाला (Currier) (३०।१५)
धैवर—धीवर (मछुआ) (३०।१६)
दाश—मछुआ (३०।१६)
बैन्द—तालाब से मछली पकड़नेवाला (३०।१६)
शौष्कल—मछली बेचनेवाला (३०।१६)
मार्गार—मछली खोजनेवाला (३०।१६)
कैवर्त्त—मछली पकड़नेवाला (३०।१६)
आन्द—पानी बाँधकर मछली पकड़नेवाला (३०।१६)
मैनाल—छिछले पानी में मछली पकड़नेवाला (३०।१६)
हिरण्यकार—सुनार (३०।१७)
वाणिज्—बनिया (३०।१७)
प्रच्छिद—महीन टुकड़े करनेवाला, कुट्टी बनानेवाला (३०।१७)

वनप—जंगल की रक्षा करनेवाला (forest ranger) (३०।१९)

दावप—जंगल को आग लगने से बचानेवाला (३०।१९)

यजुर्वेद में दी गई यह विस्तृत सूची, समाज में प्रचलित व्यवसायों की ओर एक संकेत कर रही है। हम इनमें से कुछ की ओर विशेष ध्यान दिलाना चाहते हैं। 'मणिकार' शब्द यह बताता है कि मणियों के ज्ञान की परम्परा हमारे देश में पुरानी है। ये मणियाँ (हीरा, पन्ना, नीलम) क्या थीं—यह कहना कठिन है। चाहे कुछ भी हो, ये सब मूल्यवान रंगीन दुष्प्राप्य पत्थर रहे होंगी, और मणिकार वह व्यक्ति रहा होगा, जो इन मणियों को बड़ी कुशलता से काटता, तराशता और सुन्दर बनाता होगा। रज्जुसर्ज अर्थात् रस्सी बनानेवाला शब्द इसका प्रमाण है कि रस्सियाँ बटी जाने लगी होंगी और ये रस्सियाँ सम्भवतः मूँज की होंगी। सन का प्रयोग सम्भवतः किसी विशेष प्रदेश में होना आरम्भ हुआ होगा। 'वासःपल्पूली' और 'रजयित्री' ये शब्द कपड़े को धोने और रंगनेवाली महिलाओं के लिए हैं। कपड़े धोने में केवल पानी का व्यवहार होता था या और भी किसी पदार्थ का, यह कहना कठिन है। रंगने के लिए वनस्पति के प्राकृतिक रंगों में से ही किसी रंग का उपयोग होता होगा। अजिनसन्ध और चर्मम्न शब्द चर्म-कर्म की ओर संकेत करते हैं। कच्ची खाल को साफ करके किन-किन प्रतिक्रियाओं द्वारा पक्का चमड़ा तैयार किया जाता था, और इस काम के लिए बबूल की छाल, फिटकिरी या किस प्रकार के द्रव्यों का उपयोग किया जाता था, इसका विवरण तो नहीं है; पर यह चर्म-कर्म हमारे देश की अत्यन्त पुरानी परम्परा है। मृगछाला को तैयार करने की पद्धति का कब किसने आविष्कार किया और इसका विकास कैसे हुआ, इसका अनुमान लगाना भी हमारे लिए कठिन है। मरे मृगों की खाल का उपयोग वनस्थली के किसी प्रान्त में होना आरम्भ हुआ होगा। 'अयस्ताप' और 'हिरण्यकार' शब्द धातुओं से काम करनेवाले व्यक्तियों की ओर संकेत करते हैं। जिस समाज में इस प्रकार के सभी व्यवसाय हों, वह अति उन्नत और सम्पन्न समाज माना जायगा।

ग्राम्य-पशुओं का प्रयोग

वन में विचरण करनेवाले पशुओं को किस प्रकार मनुष्य ने अपने उपयोग के योग्य बनाया, इसकी कल्पना हमारे लिए आज बड़ी कठिन है। जंगल में बकरी, भेड़, घोड़े और गाय—ये पशु क्या बनैले रूप में रहते होंगे? उन्हें मनुष्य ने कैसे पालतू बनाया, इसका अनुमान करना हमारे लिए कठिन है।

यजुर्वेद के एक मंत्र में तीन प्रकार के पशुओं की ओर संकेत है[९२]—

पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥

अर्थात् वायव्य (आकाश में उड़नेवाले), अरण्य (जंगली) और ग्राम्य (पालतू) तीन प्रकार के पशु बनाये गये। ग्राम्य पशु वस्तुतः पाँच माने जाते हैं[९३]—'तवेमे पञ्च

(९२) यजु० ३१।६; अथर्व० १९।६।१४

(९३) अथर्व० ११।२।९, २१; अथर्व ६।७१।१ 'हिरण्यमश्वमुतगामजामविम् ॥' अर्थात् ऊँट, घोड़ा, गाय, बकरी और भेड़।

पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः'—अर्थात् गाय, घोड़ा, पुरुष, अजा (बकरी) और अवि (भेड़=ewe)। कहीं-कहीं सात ग्राम्यपशुओं का उल्लेख है[९४]—

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥

गो, अश्व, पुरुष, अजा, अवि, परस्वान् (गदहा) और अनड्वान (खच्चर).। अथर्ववेद में एक अविसूक्त (३।२९) है, और एक अनड्वान् सूक्त (४।११) है। इसी प्रकार प्रौढ़ बैल या साँड़ (ऋषभ) पर एक सूक्त (९।४) है, जिसमें ऋषभ को 'पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानाम्' अर्थात् बछड़ों का पिता और गौओं का पति बताया गया है[९५]। अथर्व के एक मंत्र में पशुओं का वर्गीकरण इस प्रकार है[९६]—'पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये । अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः।' अर्थात् पशु पार्थिव (पृथ्वी के जलचर, थलचर) और दिव्य (आकाश के नभचर) हैं। ये अरण्य (बनैले) और ग्राम्य (पालतू) हैं। ये पक्षवाले (पक्षी) और बिना पंख-वाले हैं।

अश्व और गर्दभ के सांकर्य से उत्पन्न जातिविशेष का नाम 'अश्वतर' पड़ा। इसका उल्लेख भी अथर्ववेद के एक मंत्र में है[९७]—'अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च।' साँड़ों के अंडकोषों को छेदन करके (बधिया बनाकर) बैल बनाने की प्रथा बड़ी पुरानी है। इस प्रथा का उपयोग घोड़ों और पुरुषों तक में किया जाता था। कोष-छेदन या तो ओषधि द्वारा होता था या पत्थर द्वारा[९८]।

मनुष्य ने ऊँट को भी पालतू बनाया। ऊँट की तेज गति की ओर ऋग्वेद में संकेत है[९९] और ऋग्वेद में यह शब्द गाय के साथ भी आया है—'शतमुष्ट्रानां ददत् सहस्रादश गोनाम्' (ऊँट और दस हजार गायें)[१००]। उष्ट्र का उपयोग सवारियों में है, एक जुए में चार जुते हुए ऊँटों का भी उल्लेख है—'उष्ट्राञ्चतुर्युजो ददत्[१०१]।' ऋग्वेद में एक स्थल पर पालतू पशुओं के बड़े समूह का उल्लेख है[१०२]—

षष्टिं सहस्राऽश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्रानां विंशतिं शता।
दशश्यावीनां शतादशत्र्यरुषीणां दशगवां सहस्रा ॥
अध यच्चारथे गणे शतमुष्ट्राँ अचिक्रदत् । अधश्वित्नेषु विंशतिंशता ॥

इन मंत्रों में ६० हजार घोड़े, १० हजार गायें, २००० ऊँट, १००० भूरी घोड़ियाँ

(९४) अथर्व० ३।१०।६
(९५) अथर्व० ९।४।२
(९६) अथर्व० ११।५।२१
(९७) अथर्व० ४।४।८
(९८) तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् । अथर्व ७।३६।३
(९९) उष्ट्रो न पीपरोमृधः (ऋ० १।१३८।२)
(१००) ऋ० ८।५।३७
(१०१) ऋ० ८।६।४८
(१०२) ऋ० ८।४६।२२,३१

आदि के दान का उल्लेख है। 'अधयच्चारथेगणे' और 'अधश्वित्नेषु' शब्द गाय और ऊँटों के विशाल समूह की ओर संकेत करते हैं।

अथर्ववेद में ऊँट के तीन नाम हैं—त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि। हिरण्यं इत्येके अब्रवीत्। द्वौ वा ये शिशवः॥ २०।१३२।१३-१५॥—अर्थात् ऊँट के तीन नाम हैं। उसने कहा, एक तो हिरण्य (अर्थात् सुनहरे रंग का), और दूसरे दो नाम संदिग्ध हैं (शक्ति और यश)। हिरण्य शब्द कई और स्थलों में भी आया है, जैसे—यो मे हिरण्यसंदशः (ऋ० ८।५।३८), और इन स्थलों में भी इसका अर्थ ऊँट किया जाना चाहिए।

कुछ विचारकों की सम्मति यह है कि गो के साथ जब उष्ट्र शब्द का व्यवहार हो तो उसका अर्थ भैंस करना चाहिए। भैंस के लिए हिरण्य नाम का तो प्रयोग नहीं हो सकता है। भैंस का विकास मानव-गृहों में किस प्रकार हुआ, यह कहना कठिन है।

अस्थि-निरूपण

अथर्ववेद के दशम काण्ड का दूसरा सूक्त पार्ष्णि-सूक्त, ब्रह्मप्रकाशन सूक्त या पुरुष-सूक्त कहलाता है। इस सूक्त का ऋषि नारायण है, यह नारायण ही प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त (सहस्रबाहुः पुरुषः०, अथर्व० १९।६) का भी ऋषि है। नारायण नाम के एक प्रसिद्ध आयुर्वेदवेत्ता का उल्लेख साहित्य में आता है, सम्भवतः ये दोनों नारायण एक ही हों[१०३]। पार्ष्णि-सूक्त के प्रथम आठ मन्त्र हम यहाँ देंगे जिनमें मानवशरीर की अस्थियों का परिगणन है—

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥१॥
कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य।
जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत॥२॥
चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम्।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव॥३॥
कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन्॥४॥
को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति।
अंसौ को अस्य तद् देवः कुसिन्धे अध्या दधौ॥५॥

(१०३) It seems probable that he is identical with the Narayana, to whom Indian medical tradition ascribes the composition of certain very ancient medical formulae.—A. F. R. Hoernle.
उसके आविष्कृत एक औषध-तैल का उल्लेख बौवर हस्तलिपि (भाग २, ३७-५३) में आता है। माधव के सिद्धयोग (३७।३८-२५) में, और दृढबल के चरक-परिशिष्ट (चिकि० १८।१२२-९) में एक चूर्ण का आविष्कारक उसे बताया गया है।

कः सप्तखानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् ।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥६॥
हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् ।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥७॥
मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥८॥

इन मन्त्रों में अस्थियों के जो नाम आये हैं, उनकी तुलना में चरक और सुश्रुत के नाम भी यहाँ दिये जाते हैं—

मंत्र संख्या	अथर्व में नाम	अंग्रेजी नाम	आत्रेय—चरक	सुश्रुत
१	पार्ष्णि	Heel	पार्ष्णि	पार्ष्णि
	गुल्फ	Ankle bone	गुल्फ, मणिक	गुल्फ
	अंगुलि	Digit	अंगुलि, नखसहित	अंगुलि
	उच्छ्लंख	Long bones	शलाका	तल
	प्रतिष्ठा	Base	अधिष्ठान (स्थान)	कूर्च
२	अष्ठीवत् (जानु)	Kneecap	जानु, कपालिक	जानु
	जङ्घ	Leg bones	जङ्घ और अरत्नि	जङ्घ
३	श्रोणि	Pelvic cavity	श्रोणि-फलक, भगसहित	श्रोणि
	ऊरु	Thigh bone	ऊरुनलक और बाहु-नलक	ऊरु
४	उरस्	Breast bone	उरस्	उरस्
	ग्रीवा	Wind pipe	जत्रु (ग्रीवा)	कण्ठनाडी (जत्रु या ग्रीवा)
	स्तन	Rib piece	पार्श्वक, स्थालकसहित, अर्बुद	पार्श्व
	कफोड	Shoulder blade	अंशफलक	अंशज या अंश-फलक
	स्कन्ध	Neck bones	ग्रीवा	ग्रीवा
	पृष्ठि	Back bones	पृष्ठास्थि	पृष्ठ
५	अंस	Collar bone	अक्षक (अंश)	अक्षक (अंश)
८	ललाट ककाटिका	Brow Central facial bone }	नासिका - गंड - कूट-ललाट	नासा, गंड, अक्षिकोष कर्ण
	कपाल	Cranium with temples	कपाल, शंखसहित	कपाल, शंख-सहित
	हन्वोःचित्य	Structure of jaws	हन्वस्थि, हनु - मूल-बन्धन सहित	हनु

शतपथब्राह्मण (१०।५।४।१२) में मानव-शरीर की हड्डियों की संख्या ३६० बताई गई है—

आत्मा ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः। तस्यास्थीन्येव परिश्रितस्ताः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि पुरुषस्यास्थीनि मज्जानो यजुष्मत्य इष्टकास्ताः षष्टिश्चैव त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि पुरुषस्य मज्जानोऽथ।

अर्थात् शरीर भी अग्निकुण्ड है। वेदी में जिस प्रकार ३६० ईंटें लगती हैं, उसी प्रकार शरीर में ३६० हड्डियाँ हैं। शरीर में जो ३६० मज्जाएँ हैं, वे ही ३६० यजुष्मती ईंटें हैं। (प्रत्येक हड्डी में मज्जा मानी गई है)।

अन्यत्र भी शतपथ (१२।३।२।३) में शरीर की ३६० हड्डियों का उल्लेख है। संवत्सर में ३६० दिन और ३६० रात होते हैं, इसी प्रकार शरीर में ३६० हड्डियाँ और उनकी ३६० मज्जाएँ हैं—

त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च। संवत्सरस्य रात्रयस्त्रीणि च शतानि षष्टिश्च पुरुषस्यास्थीन्यत्र तत्समन्त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि त्रीणि च शतानि षष्टिश्च पुरुषस्य मज्जानोऽत्र तत्समम्।

शतपथब्राह्मण में अन्यत्र (१२।२।४।९–१४) लिखा है कि 'त्रिवृत् ही इसका शिर है, इसलिए शिर त्रिविध होता है—त्वक्, अस्थि और मस्तिष्क। ग्रीवाएँ (गले की हड्डियाँ) पंचदश-वृत् हैं; क्योंकि इसमें १४ तो करूकर हैं और वीर्य्य १५ वीं है। इसी कारण अणु (छोटी) होने पर भी गर्दन गुरु-भार सहने में समर्थ होती है। इसीलिए ग्रीवा को पंचदशवृत् कहा है। उरस् सप्तदश-वृत् है क्योंकि इसमें आठ जत्रु (costal cartilage) एक ओर हैं तथा आठ जत्रु दूसरी ओर हैं, और उरस् (breast bone, sternum) सत्रहवाँ है। इसीलिए उरस् को सप्तदश-वृत् कहते हैं। उदर एकविंशवृत् है; क्योंकि उदर के भीतर २० कुन्ताप (transverse processes) हैं और उदर स्वयं २१ वाँ है। इसीलिए उदर को एकविंश-वृत् कहते हैं। पार्श्व को त्रिणव-(३×९=२७) वृत् कहा गया है; क्योंकि एक पार्श्व में १३ पर्शु (ribs) और दूसरे पार्श्व में १३ पर्शु हैं और पार्श्व स्वयं २७ वाँ है, अतः पार्श्व को त्रिणववृत् कहते हैं। अनूक (thoracic portion) को त्रयस्त्रिंशवृत् कहा गया है; क्योंकि इसमें ३२ तो करूकर (transverse processes) हैं और अनूक स्वयं ३३ वाँ है।

शतपथब्राह्मण की कल्पना कि शरीर की ३६० अस्थियाँ हैं, चरक और सुश्रुत में मान्य समझी गई। चरक के शरीरस्थान में ३६० अस्थियों की गणना इस प्रकार दी गई है—

**त्रीणि सषष्टीनि शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखेन।
तद्यथा—द्वात्रिंशद्दन्ताः, द्वात्रिंशद्दन्तोलूखलानि, विंशतिर्नखाः,
षष्टिः पाणिपादाङ्गुल्यस्थीनि, विंशतिः पाणिपादशलाकाः,
चत्वारि पाणिपादशलाकाधिष्ठानानि, द्वे पार्ष्ण्योरस्थिनी,**

चत्वारः पादयोर्गुल्फाः, द्वौ मणिकौ हस्तयोः, चत्वार्यरत्न्योरस्थीनि, चत्वारि जङ्घयोः, द्वे जानुनी, द्वे जानुकपालिके, द्वावूरुनलकौ, द्वौ बाहुनलकौ, द्वावंसौ, द्वे अंसफलके, द्वावक्षकौ, एकं जत्रु, द्वे तालुके, द्वे श्रोणिफलके, एकं भगास्थि, पंचचत्वारिंशत् पृष्ठगतान्यस्थीनि, पंचदश ग्रीवायां, चतुर्दशोरसि, द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः पर्शुकाः, तावन्ति स्थालकानि तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि, एकं हन्वस्थि, द्वे हनुमूलबन्धने, एकास्थिनासिकागण्डकूटललाटं, द्वौ शंखौ, चत्वारिशिरः कपालानीति; एवं त्रीणि सषष्टीनि शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखेनेति ॥

(चरक, शारीर० ७।६)

दन्त, दाँत के उलूखल और नखों सहित ३६० हड्डियाँ इस प्रकार हैं—

दन्त (teeth)	३२	अक्षक (collar bones)	२
दन्त-उलूखल (sockets)	३२	जत्रु (wind pipe)	१
नख (nails)	२०	तालुक (palatal cavity)	२
अंगुलि (हाथ, पैर की) (phalanges)	६०	श्रोणिफलक (hip blades)	२
शलाका (हाथ, पैर की) (long bones)	२०	भगास्थि (pubic bone)	१
शलाका के अधिष्ठान (bases)	४	पृष्ठगत अस्थि (back bones)	४५
पार्ष्णि (heels)	२	ग्रीवा (neck) की	१५
पैरों के गुल्फ (ankle bones)	४	उरस (breast) की	१४
हाथों के मणिक (wrist bones)	२	दोनों पार्श्वों की पर्शुकाएँ (ribs)	२४
अरत्नियों (forearms) की	४	पर्शुकाओं के स्थालक (sockets)	२४
जंघा (legs) की	४	स्थालकों के अर्बुद (tubercles)	२४
जानु (knee caps) की	२	हन्वस्थि (lower jaw bone)	१
जानुकपालिका (elbow pans)	२	हनुमूलबन्धन (basal tie bones)	२
ऊरु (thigh) की नलक (hollow bones)	२	नासिका गंडकूट ललाट (noses, cheeks and brows)	१
बाहु (arms) की नलक	२	शंख (temples)	२
अंश (shoulders)	२	शिर-कपाल (cranial pan bones)	४
अंशफलक (shoulder blades)	२		
	१९६		१६४

सर्वयोग = ३६०

गंगाधर ने भी कुछ परिवर्तनों के साथ इसी प्रकार ३६० हड्डियाँ गिनाई हैं।

ग्यारहवीं शताब्दि में चक्रपाणिदत्त ने ३६० की संख्या पर कुछ सन्देह प्रकट किया है[१०४] (यदि नासिका, गण्डकूट और ललाट को पृथक् माना जाय)। 'भेडसंहिता' में भी ३६० अस्थियाँ गिनाई गई हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति (३।८४—९०) में भी ठीक ३६० हड्डियाँ गिनाई गई हैं[१०५]। विष्णु स्मृति (विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं अग्नि पुराण) में भी अस्थियों की संख्या ३६० गिनाई है।

अस्थियों के तुलनात्मक विवरण के लिए हॉर्नले (Hoernle) की "Medicine of Ancient India, Pt.I, Osteology" (आक्सफोर्ड से १९०७ में प्रकाशित) देखनी चाहिए।

इस प्रकार अथर्ववेद में पाये गये उल्लेख की परम्परा शतपथ मार्ग से अग्रसर होती हुई सभी आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रवाहित हुई। पॉटर (Potter) ने Compend of Human Anatomy में २०० अस्थियाँ दी हैं।

सुश्रुत ने वेदवादिनों की संख्या से कुछ मतभेद प्रकट किया है—

त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते; शल्यतन्त्रेषु तु त्रीण्येव शतानि। तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु, सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्व-पृष्ठोरःसु, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः, एवमस्थ्नां त्रीणिशतानि पूर्यन्ते॥ (सुश्रुत, शारीर० ५।१८)

अर्थात् वेदवादी (चरक, याज्ञवल्क्य आदि) लोग अस्थियों की गिनती ३६० करते हैं; परन्तु शल्यतन्त्र में हड्डियाँ ३०० ही हैं। इनमें से १२० अस्थियाँ शाखाओं में, ११७ अस्थियाँ श्रोणि, पार्श्व, पृष्ठ और छाती में तथा ग्रीवा से ऊपर ६३ हैं। सुश्रुत ने नखों को हड्डियों में नहीं गिना है।

---

(१०४) ये तु पृथगंगानि पठन्ति तेषां नासागण्डकूटललाटानां त्र्याणां त्रीण्येवास्थीनीति न संख्यापूर्णम्।

(१०५) षडंगानि तथास्थ्नां च सह षष्ठ्याशतत्रयम्॥ याज्ञ० स्मृ० ३।८४॥

द्वितीय अध्याय

भारत में गणित और ज्योतिष की परम्परा

अंकगणित की परम्परा

विद्याओं में गणित का स्थान—

छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने कहा कि हे भगवन्! मैंने निम्नलिखित विद्याएँ पढ़ी हैं[1]—ऋग्, यजुः, साम, आथर्वण, इतिहास, पुराण, पित्र्य, राशि, देव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या और सर्पदेवजन विद्या (७।१।२)। विद्याओं की इस सूची में नक्षत्रविद्या अर्थात् ज्योतिष और राशिविद्या अर्थात् अंकगणित का नाम आना उल्लेखनीय है। अध्यात्म या पराविद्या के जाननेवालों के लिए गणित और ज्योतिष् का भी ज्ञान होना, दोनों शास्त्रों के महत्त्व का द्योतक है। जैनियों ने भी अपने अनुयोगों में गणितानुयोग और संख्यान को महत्त्व दिया है।[2] बौद्धों ने भी गणना और संख्यान को प्रधानता दी है[3]। महावीर (सन् ८५०) ने अपने गणितसारसंग्रह में गणित के व्यापक उपयोग का अच्छा विस्तृत उल्लेख दिया है।[4] हाथीगुम्फा के एक शिलालेख में लिखा है कि कलिंग के राजा खारवेल (ईसा से १६३ वर्ष पूर्व) ने लेखा (लेखन और पठन), रूप (रेखागणित) और गणना (गणित) सीखने में जीवन के नौ वर्ष व्यतीत किये। गौतमबुद्ध ने भी अपने बचपन में गणना सीखी थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी लिखा है कि शिक्षा का प्रारम्भ लिपि और संख्यान से होना चाहिए।[5] वेदांग ज्योतिष् में गणित या ज्योतिष को अन्य वेदांगों में सबसे ऊँचा स्थान दिया है।[6]

बौद्ध साहित्य में तीन प्रकार के गणित का उल्लेख है—(१) मुद्रा (अंगुलियों पर गिनना), (२) गणना (मन के भीतर हिसाब लगाना, mental) और (३)

---

(१) स होवाच—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि। (छान्दोग्य ७।१।२)

(२) भगवतीसूत्र, सूत्र ९०; उत्तराध्ययन सूत्र २५।७,८,३८

(३) विनयपिटक, ओल्डनबर्ग खंड ४, पृष्ठ ७; मज्झिमनिकाय खंड १, पृ० ८५

(४) गणितसारसंग्रह १।९-१५

(५) वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुञ्जीत (कौटिल्य० १।५।७)

(६) यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा। तद्वद्वेदांगशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम्। (लगध, ज्योतिष ७)

संख्यान (उच्च प्रकार के हिसाब)। 'दीघनिकाय', 'विनयपिटक', 'दिव्यावदान' और 'मिलिंद पान्हों' में इन तीनों का उल्लेख आता है। क्षेत्रगणित या ज्यामिति का विवरण 'कल्पसूत्र' और 'शुल्बसूत्रों' में मिलता है। क्षेत्रगणित बाद को ज्योतिष का भी अंग बन गया। भारतीय गणित में निम्नलिखित विषय बहुधा सम्मिलित किये जाते हैं—

परिकम्मं ववहारो रज्जु रासी कलासवन्ने य।
जावन्तावति वग्गो घनो ततह वग्गवग्गो विकप्पो त ॥

(स्थानांगसूत्र ७४७)

अर्थात् परिकर्म (fundamental operations), व्यवहार (determinations), रज्जु (रस्सी अर्थात् रेखागणित), राशि (rule of three), कलासवर्ण (operations with fractions), यावत्-तावत् (as-many-as या simple equations), वर्ग (square अर्थात् quadratic equations), घन (cube अर्थात् cubical equations), वर्ग-वर्ग (biquadratic equations) और विकल्प (permutations and combinations)।

गणना करने का कार्य अँगुलियों पर आरम्भ हुआ, और फिर मानसिक हिसाब का समय आया। इसके बाद लकड़ी की पट्टी पर जब लिखकर हिसाब लगाया जाने लगा तब इसे 'पाटी-गणित' कहा जाने लगा, और बालू या मिट्टी बिछाकर हिसाब भी करने की प्रथा रही, जिसे 'धूलि-कर्म' कहते हैं। हमारे देश में बाद को बीजगणित भी आरम्भ हुआ। श्रीधराचार्य ने 'पाटी-गणित' और 'बीजगणित' पर अलग-अलग ग्रन्थ लिखे। ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में बीजगणित की क्रिया का नाम 'कुट्टक' रक्खा।

अंक और उनके नाम—यजुर्वेद में (१७।२) निम्न लिखित संख्याओं के नाम आते हैं—

१	एक	१,०००,०००	प्रयुत
१०	दश	१०,०००,०००	अर्बुद
१००	शत	१००,०००,०००	न्यर्बुद
१०००	सहस्र	१,०००,०००,०००	समुद्र
१०,०००	अयुत	१०,०००,०००,०००	मध्य
१००,०००	नियुत		
		१००,०००,०००,०००	अन्त्य
		१,०००,०००,०००,०००	परार्ध

मैत्रायणी और काठक संहिताओं में भी लगभग इसी प्रकार का उल्लेख है। पंचविंश ब्राह्मण में न्यर्बुद तक तो यजुर्वेदवाली नामावली है; पर इसके आगे निखर्व, वादव, अक्षिति आदि नाम हैं। सांख्यायन श्रौतसूत्र में न्यर्बुद के बाद निखर्व, समुद्र,

सलिल, अन्त्य और अनन्त (10 billions) की गणना है। इनमें से प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती के १० गुने है (इसलिए इन्हें दशगुणोत्तर संज्ञा कहते हैं)।

ईसा से १०० वर्ष पूर्व ललितविस्तर नामक एक बौद्ध ग्रन्थ लिखा गया। इसमें एक गणितज्ञ अर्जुन और बोधिसत्त्व के बीच में संवाद दिया हुआ है। इसमें शत-गुणोत्तर पद्धति पर कोटि के बाद की गणना इस प्रकार दी हुई है—

[१०० सहस्र = १ लक्ष	१०० तिटिलम्भ = १ व्यवस्थान प्रज्ञप्ति
१०० लक्ष = १ कोटि]	१०० व्यवस्थान प्रज्ञप्ति = १ हेतुहिल
१०० कोटि = १ अयुत	१०० हेतुहिल = १ करहु
१०० अयुत = १ नियुत	१०० करहु = १ हेत्विन्द्रिय
१०० नियुत = १ कंकर	१०० हेत्विन्द्रिय = १ समाप्तलम्भ
१०० कंकर = १ विवर	१०० समाप्तलम्भ = १ गणनागति
१०० विवर = १ क्षोभ्य	१०० गणनागति = १ निरवद्य
१०० क्षोभ्य = १ विवाह	१०० निरवद्य = १ मुद्राबल
१०० विवाह = १ उत्संग	१०० मुद्राबल = १ सर्वबल
१०० उत्संग = १ बहुल	१०० सर्वबल = १ विसंज्ञागति
१०० बहुल = १ नागबल	१०० विसंज्ञागति = १ सर्वज्ञ
१०० नागबल = १ तिटिलम्भ	१०० सर्वज्ञ = १ विभूतंगमा

१०० विभूतंगमा = १ तल्लक्षण

इस प्रकार एक तल्लक्षण = $१०^{५३}$

कात्यायन के पालि व्याकरण में कोटि गुणोत्तर पद्धति दी हुई है[७]—

दस × दस = सत	सत सत सहस्स कोटि = कोटि-कोटि
सत × दस = सहस्स	= पकोटि
सहस्स × दस = दस सहस्स	सत सत सहस्स पकोटि = कोटिप्पकोटि
दस सहस्स × दस = सत सहस्स	सत सत सहस्स कोटिप्पकोटि = नहुत
सत सहस्स × दस = दस सत सहस्स	सत सत सहस्स नहुत = निन्नहुत
दस सत सहस्स × दस = सत सत सहस्स	सत सत सहस्स निन्नहुत = अक्खोभिनि
= कोटि ($१०^{७}$)	

इसी प्रकार बढ़ते हुए अक्खोभिनि के बाद बिन्दु, अब्बुद, निरब्बुद, अहह, अबब, अतत, सोगन्धिक, उप्पल, कुमुद, पुण्डरीक, पदुम, कथान, महाकथान और असंख्येय हैं।

असंख्येय = (कोटि $)^{२०}$ = $१०^{१४०}$

संख्याओं का स्थानिक मान (Notational places)—दशम-पद्धति पर संख्याओं को लिखना, यह इस देश का एक विशेष आविष्कार है। आर्यभट प्रथम

(७) Grammaire Palie de Kaccayana–Journ. Asiatique, Sixieme Serie XVII, 1871, p. 411, (सूत्र ५१, ५२)

(सन् ४९९) ने आर्य्यभटीय (२।२) में यह लिखा है कि "किसी लिखी गई संख्या में एक-एक स्थान हटते जाते हैं, तो स्थानिक मान निम्नलिखित क्रम में १० गुना बढ़ता जाता है[८]—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत (दस हजार), नियुत (लाख), अयुत (दस लाख, million), कोटि (करोड़), अर्बुद (दस करोड़), और वृन्द (अरब=१००० millions) ।" श्रीधर (सन् ७५०) ने स्थानिक नाम इस प्रकार दिये हैं (त्रिशतिका, R २-३) । इन्हें उसने 'दशगुणाः संज्ञाः' कहा है—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, लक्ष, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, अब्ज, खर्व, निखर्व, महसरोज, शंकु, सरितापति, अन्त्य, मध्य, परार्ध । महावीर (सन् ८५०) ने गणितसारसंग्रह (१। ६३-६८) में २४ स्थानों तक के नाम दिये हैं—एक, दश, शत, सहस्र, दशसहस्र, लक्ष, दशलक्ष, कोटि, दशकोटि, शतकोटि, अर्बुद, न्यर्बुद, खर्व, महाखर्व, पद्म, महापद्म, क्षोणि, महाक्षोणि, शंख, महाशंख, क्षिति, महाक्षिति, क्षोभ और महाक्षोभ । भास्कर (द्वितीय) (सन् ११५०) ने लीलावती में श्रीधर की ही नामावली ली है,[९] केवल महासरोज के स्थान में उसका पर्य्याय महापद्म और सरितापति के स्थान में उसका पर्य्याय जलधि दिया है । नारायण (१३५६) ने अब्ज, महासरोज और सरितापति के स्थान में सरोज, महाब्ज और पारावार शब्द दिये हैं ।

भाषा में गिनतियों के नाम—हिन्दी भाषा में एक, दो, तीन, चार...ग्यारह, बारह,......उन्नीस, बीस,......उनचास, पचास......आदि जो संख्यावाचक शब्द आते हैं, वे संस्कृत के एक, द्वि, त्रि, चतुर्,......एकोनविंश, विंश आदि के अपभ्रंश हैं । उन्नीस को नव-दश न कहकर एक कम बीस (एकोनविंश) कहना महत्त्व की बात है । उन्नीस (एकोनविंश) के लिए तैत्तिरीय संहिता में 'एकान्नविंशति' (एक-कम-बीस) इस प्रकार का शब्द है । सूत्रकाल में 'एकान्न' पद 'एकोन' बना; यही नहीं, इस 'एकोन' में से 'एक' पद भी कभी-कभी निकाला जाने लगा । 'ऊन-विंशति' और 'ऊन-त्रिंशत्' इस प्रकार के भी प्रयोग पाये जाने लगे । 'एकोन' पद्धति के साथ सीधी-सादी दूसरी पद्धति के भी कहीं-कहीं उदाहरण मिल जाते हैं—जैसे वाजसनेयी संहिता (१४।२३) में १९ के लिए नव-दश शब्द एवं तैत्तिरीय संहिता (१४।२२।३०) में भी नव-दश शब्द । इसी प्रकार वाजसनेयी संहिता (१४। ३१) में २९ के लिए 'नवविंशति' और ९९ के लिए ऋग्वेद (१।८४।१३) में 'नवनवति' शब्द ।

प्राचीन साहित्य पद्य में अधिक होने के कारण पद्य की सुविधा के लिए संख्याओं के नाम भिन्न-भिन्न प्रकार से दिये गये हैं । जैसे—

---

(८) एकं दश च शतं च सहस्रमयुतनियुते तथा प्रयुतम् ।
कोट्यर्बुदं च वृन्दं स्थानात् स्थानं दशगुणं स्यात् ॥
(आर्यभटीय गणितपाद २।२)

(९) एकदशशतसहस्रायुतलक्षप्रयुतकोटयः क्रमशः ।
अर्बुदमब्जं खर्वनिखर्वमहापद्मशङ्कवस्तस्मात् ॥२॥
जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्धमिति दशगुणोत्तराः संज्ञाः ॥३॥ लीलावती ॥

(क) ३३३९ को ऋग्वेद (३।९।९; १०।५२।६) में त्रीणि शतानि त्रिसहस्राणि त्रिंश च नव च इस प्रकार कहना।

(ख) गणितसारसंग्रह (१।४) में १३९ को चत्वारिंशच्चैकोनशताधिक [४० + (१००–१)] कहना।

(ग) आर्यभटीय (२।३) में १८ को द्वि-नवक कहना। इसी प्रकार त्रिशतिका (६।४३) में २७ को त्रि-नवक और १२ को द्विषट् कहना।

(घ) गणितसारसंग्रह में २८,४८३ को त्र्यशीति मिश्राणि चतुश्शतानि चतुस्सहस्रघ्न नगान्वितानि अर्थात् ८३ + ४०० + (४०००×७) कहना।

अंकों को लिपिबद्ध करने की परम्परा—वशिष्ठधर्मसूत्र (१६।१०।१४-१५) में अदालत के कार्य्य के लिए लिपिबद्ध दस्तावेजों की प्रामाणिकता की ओर संकेत किया है, जिससे हमारे देश की लिपिपरम्परा का प्राचीन होना सिद्ध है। ऋग्वेद में एक मन्त्र है—

इन्द्रेण युजा निःसृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्।
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत ॥१०।६२।७॥

अर्थात् ऐसी हजार गायें मुझे दीं, जिनके कानों पर ८ का अंक लिखा हुआ था।[10] ऋग्वेद में 'अक्षकितव निन्दा' सूक्त में "अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोः" (१०।३४।२) जो शब्द आये हैं, 'एक पर दाँव लगाने के कारण', वे जुए के पाँसे पर एक-दो आदि के अंक लिखे होने का ही संकेत है। अथर्ववेद में ये शब्द लिपि-कला की ओर संकेत करते हैं—'अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्' (७।५० (५२)। ५) इसी प्रकार 'लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि' अर्थात् दोनों कानों पर मिथुन चिह्न अंकित किया (६।१४१।२), और "यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते। लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम्" (१२।४।६)। ये अथर्व के वाक्य भी किसी प्रकार की लिपि की ओर संकेत करते हैं। पाणिनि ने 'लिपिकार' या 'लिबिकार' शब्दों का प्रयोग किया है (३।२।२१)। कहा जाता है कि मद्रास के संग्राहलय में ३०००–६००० वर्ष ईसा से पूर्व के जो बर्तन रक्खे हुए हैं, उनसे भी एक प्रकार की ब्राह्मी लिपि की ओर संकेत मिलता है। अभिप्राय यह है कि इस देश की लिपिपरम्परा बड़ी पुरानी है। ब्राह्मी लिपि का इसी देश में जन्म हुआ, यह भी स्पष्ट है। मोहञ्जोदारो के लेखों से १ से १३ तक के अंकों का पता चलता है। ये अंक छोटी-छोटी रेखाओं को पास-पास खींचकर व्यक्त किये गये हैं। अशोक के समय के अधिकांश शिलालेख ब्राह्मी लिपि में और कुछ खरोष्ठी में लिखे गये हैं। हम अंकों की लिपि के विकास की परम्परा की मीमांसा करें, यहाँ इसकी आवश्यकता नहीं। खरोष्ठीलिपि

---

(१०) सायण ने अष्टकर्ण्य का अर्थ विस्तृत कर्ण किया है—अष्ट इति 'अशूव्याप्तौ निष्ठायां रूपं; विस्तृतकर्णाः।' परन्तु पाणिनि के सूत्र "कर्णो वर्णलक्षणात्" (६।२।११२), और अन्य एक सूत्र (६।३।११५) से कर्ण की आकृति और अक्षरों की आकृति की तुल्यता स्पष्ट होती है।

में अंक दाहिने से बाईं ओर को लिखे जाते थे। ब्राह्मीलिपि में निम्नलिखित अंकों के लिए पृथक्-पृथक् चिह्न थे—१, ४ से ९ तक, १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १००, २००, ३००......, १०००, २००० इत्यादि। प्राचीनतम खरोष्ठी लिपि में और सेमेटिक लिपियों में (Hieroglyphic और Phoenician में भी) १, १०, २० और १०० अंकों के लिए पृथक् चिह्न और शेष अंक इन्हीं की सहायता से व्यक्त किये जाते थे।

अक्षरपल्ली पद्धति से भी साहित्य में बहुधा अंकों को व्यक्त किया जाता रहा है। इस पद्धति में वर्णमाला के अक्षर ही अंकों को व्यक्त करते थे। १, २ और ३ इन अंकों के लिए केवल खड़ी रेखा काम में लाते थे, और शेष के लिए अक्षर। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

४ को	क से
५ को	त्र से
६ को	फ्र से
७ को	ग्र या गु से
८ को	ह्न या ह्ना से.
९ को	उ या ओ३म् से
१० को	ह, ह्ल, ख, ड्ड या ठ से
२० को	थ से
३० को	ल से
४० को	स या स से
५० को	अनुनासिक से
६० को	पु, प, या प्र से
७० को	पु, त, प्र, प्र, प्रा या ह्न से
८० को	उपध्मानीय से
९० को	उपध्मानीय के साथ बीच में क्रॉस लगाकर
१०० को	सु या अ से

दशमलव स्थानिक मान अंकलिपि-पद्धति इस देश का सर्वोपरि आविष्कार है। इस पद्धति में १ से लेकर ९ तक के अंकों के लिए और शून्य के लिए—सब मिलकर केवल दस चिह्न हैं, जिनके स्थानिक मानों को दशम पद्धति पर मान देकर सभी अंक व्यक्त किये जा सकते हैं। यही पद्धति आजकल समस्त सभ्य संसार में प्रयुक्त हो रही है। शून्य का आविष्कार और इसकी सहायता से दश, शत, सहस्र आदि का व्यक्त करना संसार की सबसे बड़ी खोजों में से एक है[११]। हमारे देश की नागरी अंक-

(११) "The importance of the creation of zero mark can never be exaggerated. This giving to airy nothing, not merely a local habitation and a name, a picture, a symbol, but helpful power, is the characteristic of the Hindu race, whence it sprang.

लिपि ही अनेक विकृत रूपों में सभी देशों में व्याप्त हो गई है। इस लिपि का हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी एवं यूरोपियन रूप लगभग एक-सा ही है। पुराने ताम्र-पत्रों और शिलालेखों में पाँचवीं या छठी शताब्दी के मध्य तक इस दशमलव पद्धति द्वारा समस्त अंकों को व्यक्त करने के प्रमाण मिलते हैं। बृहत्तर भारत के पूर्वस्थ उप-निवेशों में भी इस पद्धति के पुराने प्रमाण पाये जाते हैं। इनमें ६८३, ६८४, ६०५ आदि संवत् दशमलव पद्धति पर दिये गये हैं। शायद हमारे देश का सबसे पुराना लेख जिसपर अंक दशमलव-पद्धति में दिये गये हैं, वह सन् ५९४ ई० का है। यह गुर्जर देश का लेख है। समस्त संसार में दशमलव पद्धति पर लिखे गये अंकों का इससे पुराना प्रमाण नहीं मिलता है। दशमलव पद्धति के भारतीय आविष्कारक का नाम आज कोई नहीं जानता ; पर उसका यह आविष्कार विश्वव्यापी हो गया है। सम्भव है कि यह आविष्कार २००० वर्ष पूर्व विक्रम के आसपास हुआ हो।

साहित्य के श्लोक आदि छन्दों में संवत् संख्यावाचक रूढ़ि शब्दों की सहायता से व्यक्त किये जाते रहे हैं[१२]। यह पद्धति आजतक कहीं-कहीं चली आ रही है। जैसे—ऋतुरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे माघ मासे सितेदले। चतुर्थी शनिवारेऽयं ग्रन्थः पूर्तिसमागतः ॥ (दयानन्द) अर्थात् सं० १९३६ वि० में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ (ऋतु=६, राम=३, अंक=९ और चन्द्र=१)। ऋग्वेद आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के शब्दों द्वारा अंक प्रकट करने की तो कहीं चर्चा नहीं है, अंकों द्वारा पदार्थों की ओर संकेत करने का प्रयोग बहुत है। जैसे अथर्व के पहले ही मन्त्र में 'ये त्रिषप्ताः'—इसमें ३ और ७ किसके वाची हैं, इस प्रकरण पर भाष्यकारों ने विस्तृत प्रकाश डाला है! इसी प्रकार कला=१/१६, कुष्ठ=१/१२ और शफ १/४ इनका भी प्रयोग है। इसी प्रकार बाद के श्रौत-सूत्रों में गायत्री शब्द २४ अंक के लिए एवं जगती शब्द ४८ के लिए प्रयुक्त हुआ है। वेदांग ज्योतिष में शब्दों का प्रयोग अंकों के लिए कई स्थलों पर हुआ है—रूप=१, अय=४, गुण=युग=१२, भसमूह=२७।

अंकगणित या पाटीगणित—पाटी शब्द शुद्ध संस्कृत नहीं है। तख्ती को फलक या पट्ट कहते हैं। फिर भी ७वीं शताब्दी से ही पाटी शब्द संस्कृत-साहित्य में प्रविष्ट हो गया। 'पाटीगणित' का नाम 'धूलिकर्म' भी है। 'बीजगणित' का नाम अव्यक्तगणित होने के कारण पाटीगणित को 'व्यक्तगणित' भी कहा गया है। पाटी-गणित और धूलिकर्म, अरबी में जाकर इल्म-हिसाब-अल-तख्त और हिसाब-अल-घोबार बन गये। ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में पाटीगणित के अन्तर्गत २०

It is like coining the nirvana into dynamos. No single mathematical creation has been more potent for the general on-go of intelligence and power."—G. B. Halsted—On the foundation and technique of Arithmetic, Chicago, 1912, p. 20.

(१२) इस पद्धति पर अंकों को व्यक्त करने का सबसे पुराना प्रयोग अग्निपुराण का है—खख-अष्टमुनिराम-अश्वि-नेत्र-अष्टसार रात्रिपः=१५८२२३७८००

विषय और ८ व्यवहार सम्मिलित किये हैं। २० विषय ये हैं–(१) संकलित (जोड़), (२) व्यवकलित या व्युत्कलित (बाकी), (३) गुणन, (४) भागहार, (५) वर्ग, (६) वर्गमूल, (७) घन (cube), (८) घनमूल, (९-१३) पंचजाति अर्थात् बटों के ५ नियम, (१४) त्रैराशिक (rule of three), (१५) व्यस्त त्रैराशिक (inverse rule of three), (१६) पंचराशिक (rule of five), (१७) सप्तराशिक (rule of seven), (१८) नवराशिक (rule of nine), (१९) एकादशराशिक और (२०) भाण्ड प्रतिभाण्ड (barter and exchange)। आठ व्यवहारकर्म ये हैं—(१) मिश्रक (mixture), (२) श्रेढी (progression or series), (३) क्षेत्र (plane figures), (४) खात (excavation), (५) चिति (stock), (६) क्राकचिक (saw), (७) राशि (mound) और (८) छाया (shadow)। महावीर और अन्य लेखकों ने उपर्युक्त २० विषयों में से प्रथम आठ को (संकलित से लेकर घनमूल तक को) प्रधानता दी है।

पाटीगणित संबंधी पुराना भारतीय साहित्य निम्नांकित ग्रन्थों में पाया जाता है—बखशाली हस्तलिपि (c. २००), त्रिशतिका (c. ७५०), गणित-सार-संग्रह (c. ८५०), गणिततिलक (१०३९), लीलावती (११५०), गणितकौमुदी (१३५६) और पाटीसूत्र (१६५८)। ज्योतिष ग्रन्थों में भी जिन्हें सिद्धान्त कहते हैं, गणित का विवेचन यथावश्यक दिया जाता था। आर्यभटीय में प्रथम आर्यभट (४९९ ई०) ने एक गणिताध्याय दिया, ब्रह्मगुप्त (सन् ६२८) ने भी ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त में ऐसा किया। महासिद्धान्त (९५०), सिद्धान्तशेखर (१०३६) और सिद्धान्ततत्त्वविवेक (१६५८) में भी ऐसा ही किया गया। परन्तु आर्यभट से पहले के आचार्यों के सिद्धान्तग्रन्थों में गणित सम्बन्धी अध्याय नहीं दिये गये। जैसे—सूर्य-सिद्धान्त (c. ३००) में और वासिष्ठ, पितामह और रोमक सिद्धान्तों में।

पाटीगणित का अध्ययन तख्ती पर बालू बिछाकर किया जाता था, अथवा जमीन पर ही बालू बिछा ली जाती थी (धूलिकर्म)। कभी-कभी पाटी पर खड़िया से या पाण्डुलेख (पिड़ोर मिट्टी) या श्वेतवर्णी (soap stone) से लिखा जाता था। इस प्रकार लिखे अङ्कों को मिटाने में सरलता होती थी।

भास्कर (प्रथम) ने आर्यभटीय के भाष्य में लिखा है कि सम्पूर्ण पाटीगणित अन्ततः संकलित और व्यकलित (जोड़ और बाकी), इन्हीं दो प्रक्रियाओं का विस्तार है। गुणन को जोड़ और भागहार को बाकी ही समझना चाहिए।

संकलित (जोड़-addition)—इसके अन्य पर्याय संकलन, मिश्रण, सम्मेलन, प्रक्षेपण, संयोजन, एकीकरण, युक्ति, योग, अभ्यास आदि हैं। संख्याओं को जोड़ने की दोनों विधियाँ प्रचलित थीं—क्रम और उत्क्रम। लीलावती के टीकाकार गंगाधर का कहना है कि—"अंकानां वामतो गतिरिति वितर्केण, एकस्थानादि योजनं क्रमः, उत्क्रमस्तु अन्त्यस्थानादि योजनम्।" इकाई के स्थान से जोड़ आरम्भ करने को क्रम और अन्त्य स्थान से जोड़ आरम्भ करने को उत्क्रम कहते हैं। क्रम-पद्धति आजकल के जोड़ने की पद्धति से मिलती-जुलती है।

व्युत्कलित (subtraction)—इसके अन्य पर्य्याय व्युत्कलन, शोधन, पातन, वियोग आदि हैं। घटाने पर जो बाकी बचता है, उसे शेष या अन्तर कहते हैं, जिसमें से घटाया जाय (minuend), उसे सर्वधन और जिसे घटावें (subtrahend), उसे नियोजक कहते हैं। घटाने की भी क्रम और उत्क्रम, दो विधियाँ हैं; चाहे इकाई स्थान से घटाना आरम्भ कीजिए और चाहे अन्त्य स्थान से।

गुणन (multiplication)—इस क्रिया के लिए गुणन शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में भी होता रहा है। हनन, वध, क्षय आदि इसके अन्य पर्य्याय हैं। आर्य्यभट (प्रथम) (४९९), ब्रह्मगुप्त (६२८) और श्रीधर (c. ७५०) ने हनन शब्द का प्रयोग किया है। शुल्ब साहित्य में अभ्यास शब्द का प्रयोग जोड़ और गुणा दोनों के लिए हुआ है। बख्शाली हस्तलिपि में 'परस्परकृतम्' शब्द गुणा के लिए आया है। जिस संख्या का गुणा करते हैं, उसे गुण्य (multiplicator) कहते हैं, जिस संख्या से गुणा करते हैं, उसे गुणक या गुणकार (multiplier) कहते हैं, और गुणा करके जो आवे, उसे गुणनफल या 'प्रत्युत्पन्न' (फिर से उत्पन्न) कहते हैं।

गुणन के लिए हनन और गुणनफल के लिए प्रत्युत्पन्न शब्द महत्त्व के हैं। जिस पद्धति से गुणा की क्रिया पहले समय में की जाती थी, उसमें गुणक और गुण्य के अंक एक-एक करके मिटा दिये जाते थे (उनका हनन हो जाता था) और अन्त में जो एक नई संख्या आ जाती थी, वह सचमुच प्रत्युत्पन्न थी ही।

ब्रह्मगुप्त ने गुणा करने की चार विधियों का उल्लेख किया है—(१) गोमूत्रिका, (२) खण्ड, (३) भेद और (४) इष्ट। सामान्य अति प्रसिद्ध विधि को 'कपाट-सन्धि' कहते हैं। गुणा करने से पूर्व इस विधि में गुण्य और गुणक एक दूसरे के ऊपर इस प्रकार रक्खे जाते थे जैसे कपाट-सन्धि (door junction) हो। श्रीधर ने गुणा करने की चार रीतियाँ दी हैं—(१) कपाट-सन्धि, (२) तस्थ, (३) रूपविभाग और (४) स्थान-विभाग। महावीर ने भी ये ही चार रीतियाँ दी हैं। द्वितीय आर्यभट ने केवल कपाटसन्धि-विधि दी है। भास्कर (द्वितीय) ने उपर्युक्त चारों के अतिरिक्त ब्रह्मगुप्त-वाला इष्ट-गुणन भी दिया है। श्रीपति ने सिद्धान्त-शेखर में पाँच विधियाँ दी हैं। वस्तुतः गुणा करने की अनेक विधियाँ निकाली जा सकती हैं। हमारे पुराने साहित्य में इनमें से सात विधियों का उल्लेख है। जिस विधि को अंग्रेजी में 'gelosia method' कहते हैं, वह भी कपाट-सन्धि के नाम से गणितमञ्जरी में दिया हुआ है, और गणेश ने लीलावती की टीका में भी इसका उल्लेख किया है। यह (gelosia method) आजकल के गुणा करने की विधि का जन्मदाता है। लीलावती की गणेश की टीका में इसका यह उदाहरण दिया हुआ है (१३५×१२ = १६२०)।

इस विधि में गुण्य में जितने अंक होते हैं, उतने खाने पड़ी लकीर पर और गुणक में जितने अंक हों, उतने खड़ी लकीर पर खींचकर वर्ग बना देते हैं। गुणक के प्रत्येक

१ ३ ५

१	३	५	१
२ / १	६	०	२

१ ६ २ ०

अंक से गुणा करके वर्गों में लिखते हैं और फिर तिर्यक् वर्गों के अंकों को जोड़ लेते हैं।

(१) गुणन की तस्थ विधि (cross multiplication method)—श्रीधर, महावीर, श्रीपति एवं बाद के अन्य लेखकों ने इसका उल्लेख किया है। इसमें गुणक अपनी जगह स्थिर रहता है, इसलिए इसका नाम तस्थ विधि है। गणेश ने लीलावती की टीका में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—गुणक को गुण्य के नीचे लिखो। गुणक की इकाई से गुण्य की इकाई को गुणा करो और गुणनफल नीचे लिख दो। फिर एक की इकाई को दूसरे की दहाई से, और फिर इसकी दहाई को दूसरे की इकाई से गुणा करके जोड़कर रख दो। फिर गुणक की इकाई को गुण्य के सैकड़ा से, सैकड़े को इकाई से और दहाई से दहाई को गुणा करके जोड़कर रख दो। इस क्रम से सभी अंकों के साथ करते जाओ और अन्त में जोड़ डालो।

		१३५
		१२
२×५	=	१०
२×३०+१०×५	=	११०
२×१००+०+३०×१०	=	५००
१०×१००	=	१०००
		१६२०

यह विधि जटिल है। यह हमारे देश में आठवीं शताब्दी से पूर्व ही ज्ञात थी। यहाँ से यह अरब को गई और वहाँ से यह यूरोप पहुँची। पेसिओली (Pacioli) के Suma में इसका उल्लेख मिलता है।

(२) स्थानखण्ड विधि—(By separation of places)—इसमें गुण्य या गुणक के अंक अपना स्थान बदलते रहते हैं। ६२८ ई० के बाद वाले सभी ग्रन्थों में इसका उल्लेख है। यह कई प्रकार से की जा सकती है—

(क)

```
  १३५
   १२
 ----
  १२
   ३६
    ६०
 ----
 १६२०
```

(ख)

```
 १२  १२  १२
  १   ३   ५
 -----------
 १२      ६०
  ३       ६
 -----------
 १६      २०
```

(ग)

```
 १३५    १३५
   १      २
 -----------
      २७०
    १३५
 -----------
    १६२०
```

(३) गोमूत्रिका विधि (*Zigzag* method)—ब्रह्मगुप्त ने इसका उल्लेख किया है, और यह स्थानखण्ड विधि से मिलती-जुलती है। उदाहरण के लिए १२२३ को २३५ से गुणा कीजिए।

```
२×१२२३   =   २४४६
३× १२२३  =    ३६६९
५× १२२३  =     ६११५
             --------
              २८७४०५
```

इस प्रकार स्थानखण्ड और गोमूत्रिका दोनों विधियाँ आजकल के गुणा करने की विधियों से मिलती-जुलती हैं।

(४) इष्ट गुणन (algebraic method)—इस विधि से दिये हुए गुणक में से कोई संख्या घटा या बढ़ा दी जा सकती है जिससे गुणनफल आसानी से निकल जाय और फिर इस संख्या को गुण्य से गुणा करके गुणनफल में से घटा या बढ़ा देते हैं—

(क) १३५×१२=(१३५×२०)−(१३५×८)
= २७००−१०८०=१६२०

(ख) १३५×१२=(१३५×१०)+(१३५×२)
=१३५०+२७०=१६२०

भागहार—इसके अन्य पर्य्याय भाजन, हरण, छेदन आदि हैं। जिस संख्या को भाग देना हो, उसे 'भाज्य' या 'हार्य' (dividend) कहते हैं, जिस संख्या से भाग देते हैं उसे 'भाजक', 'भागहार' या केवल हर (divisor) कहते हैं। भाग देने पर उत्तर जो आता है उसे 'लब्धि' या 'लब्ध' (Quotient) कहते हैं। यूरोप में १५-१६ वीं शताब्दी तक भाग देने का कार्य्य बड़ा कठिन माना जाता था; पर हमारे देश में भाग देने की सरल विधि बहुत पहले से ज्ञात थी। यह कार्य्य इतना सरल समझा जाता था कि प्रथम 'आर्यभट' ने इस विधि का अपने ग्रन्थ में उल्लेख भी नहीं

किया (यद्यपि उसने घनमूल और वर्गमूल की विधियाँ दी हैं जो भाग देने की विधि को अंगीकार करती हैं)। अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख आवश्यक नहीं समझा गया। जैन ग्रन्थों में (जैसे तत्त्वार्थाधिगमसूत्र–उमास्वाति-भाष्य में) समान गुणनखण्डों को निकाल कर भाग देने की विधि भी दी हुई है। महावीर ने भी भाग देने की वर्तमान विधि का उल्लेख किया है। श्रीधर की 'त्रिशतिका' में भी वर्तमान विधि दी हुई है।

१६२० को १२ से भाग दो

१६२०	४२०	४२०	७०	
१२	१२	३६	६०	
१		३	५	=१३५

यह विधि हमारे देश में चौथी शताब्दी से पूर्व ही ज्ञात कर ली गई थी। यहाँ से यह नवीं शताब्दी में अरब पहुँची। यह फिर यूरोप पहुँची जहाँ इसका नाम गैली (galley, galea, batello) विधि पड़ा।

वर्ग (Square)—संस्कृत में इसे कृति भी कहते हैं। वह आकृति जिसकी चारों भुजाएँ बराबर हों और दोनों कर्ण बराबर हों, उसे भी वर्ग कहते हैं और दो बराबर संख्याओं के गुणनफल को भी 'वर्ग' कहते हैं। ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, महावीर, भास्कर (द्वितीय) आदि आचार्यों ने वर्ग निकालने की कई विधियाँ दी हैं।

ब्रह्मगुप्त ने निम्नांकित बीजसूत्र के सिद्धान्त का उपयोग भी दिया है—

$$न^2=(न - क) (न + क) + क^2$$

$$१५^2=(१५ - ५) (१५ + ५) + ५^2$$

$$= २००+२५=२२५$$

श्रीधर, महावीर, भास्कर (द्वितीय) नारायण आदि आचार्यों ने निम्नांकित सूत्र का भी प्रयोग किया है—

$$(क+ख+ग+\cdots)^2=क^2+ख^2+ग^2+\cdots+२ क ख+\cdots$$

भास्कर द्वितीय का कहना है (लीलावती) कि दो भागों के गुणन का दुगुना, और उन भागों के वर्गों का जोड़ वर्ग देता है—

$$(क+ख)^2=२ क ख+क^2+ख^2$$

श्रीधर और महावीर इस नियम से भी परिचित थे—

$$न^2 = १+३+५+\cdots न \text{ पदों तक}$$

अर्थात्—१ से आरम्भ करके विषम संख्याओं को क्रम से जोड़ते जाओ तो जितनी संख्याएँ जोड़ोगे, उन सबका वर्ग मिल जायगा।[१३]

नारायण ने गणितकौमुदी (१।१७।१८) में निम्नलिखित सिद्धान्त के आधार पर भी वर्ग निकालने का प्रस्ताव किया है—

(१३) द्विसमवधो घातो वा स्वेष्टोनयुतद्वयस्य सेष्टकृतिः।
एकादिद्विचयेच्छागच्छ युतिर्वा भवेद् वर्गः॥
(गणितसारसंग्रह, परिकर्मव्यवहार, २९)

$$\text{अ}^{२} = (\text{क} + \text{ख})^{२} = (\text{क} - \text{ख})^{२} + ४\,\text{क}\,\text{ख}$$

घन (Cube)—आर्य्यभटीय (२।३) में घन की परिभाषा दी है। तीन समान संख्याओं को गुणा करके भी 'घन' मिलता है, और जिस पिण्ड में १२ बराबर भुजाएँ हों, उसे भी घन कहते हैं। कभी-कभी घन के लिए वृन्द शब्द का भी प्रयोग हुआ है। ब्रह्मगुप्त का घन करने का नियम यह है—

स्थाप्योऽन्त्य घनोऽन्त्य कृतिस्त्रिगुणोत्तरसंगुणा च तत्प्रथमात्।
उत्तरकृतिरन्त्यगुणा त्रिगुणा चोत्तरघनश्च घनः॥

अन्त्य अंक का घन कर लो, फिर इसके पास प्रत्येक वर्ग का तिगुना करके आगे की संख्या से गुणा करके रक्खो। फिर इसके बाद आगे के अंक के वर्ग का तिगुना अन्त्य अंक से गुणा करके रक्खो और इसके बाद आगे के अंक का घन रक्खो। इस प्रकार घन प्राप्त हो जायगा।

इसी प्रकार की विधियाँ महावीर, श्रीधर और भास्कर द्वितीय ने भी दी हैं।

मान लो कि १२३४ का घन करना है—

(क) अन्त्य अंक १ है। $१^{३} = १$

(ख) $१२^{३}$ इस प्रकार होगा—

$१^{३}$	=	१	
$(१^{२} \times ३) \times २$	=	६	(एक पद आगे हटाकर लिखो)
$(२^{२} \times ३) \times १$	=	१२	"
$२^{३}$	=	८	"
$१२^{३}$	=	१७२८	"

(ग) $(१२३)^{३}$ इस प्रकार होगा—

$(१२)^{३}$	=	१७२८	
$(१२^{२} \times ३) \times ३$	=	१२९६	(एक पद आगे हटाकर लिखो)
$(३^{२} \times ३) \times १२$	=	३२४	"
$३^{३}$	=	२७	"
$१२३^{३}$	=	१८६०८६७	

(घ) $(१२३४)^{३}$ इस प्रकार होगा—

$(१२३)^{३}$	=	१८६०८६७	
$(१२३^{२} \times ३) \times ४$	=	१८१५४८	(एक पद आगे हटाकर लिखो)
$(४^{२} \times ३) \times १२३$	=	५९०४	"
$४^{३}$	=	६४	"
		१८७९०८०९०४	

घन निकालने की अन्य विधियाँ भी दी गई हैं। ऊपर जो विधि दी हुई है, इसमें निम्नलिखित समीकरण का उपयोग होता है—

$$(\text{क}+\text{ख}+\text{ग}+\ldots)^3 = \text{क}^3 + ३\text{क}^2\ (\text{ख}+\text{ग}+\ldots) + ३\ \text{क}\ (\text{ख}+\text{ग}+\ldots)^2 + (\text{ख}+\text{ग}+\ldots)^3$$

श्रीपति और भास्कर ने निम्नांकित समीकरण भी दिया है—

$$(\text{क}+\text{ख})^3 = \text{क}^3 + ३\ \text{क}\ \text{ख}\ (\text{क}+\text{ख}) + \text{ख}^3$$

महावीर ने अंक का घन इस विधि से दिया है—

$$\text{न}^3 = \text{न}\ (\text{न}+\text{क})\ (\text{न}-\text{क}) + \text{क}^2\ (\text{न}-\text{क}) + \text{क}^3$$

श्रीधर, महावीर, श्रीपति और नारायण ने श्रेणी के रूप में न³ का मान निकालने की विधि इस प्रकार दी है—

$$\text{न}^3 = \sum_{१}^{\text{न}} \left\{ ३\ \text{र}\ (\text{र}-१) + १ \right\}$$

इसका अर्थ यह है। मान लो ५ का घन निकालना है—

$$५^3 = [\ ३\times५\ (५-१) + १\ ] + [\ ३\times४\ (४-१) + १\ ] + [\ ३\times३\ (३-१) + १\ ] + [\ ३\times२\ (२-१) + १\ ] + [\ ३\times१\ (१-१) + १\ ]$$

$$= [\ ३\times५\times४+१\ ] + [\ ३\times४\times३+१\ ] + [\ ३\times३\times२+१\ ] + [\ ३\times२\times१+१\ ] + १$$

$$= ६१ + ३७ + १९ + ७ + १ \quad = १२५$$

महावीर ने इसी को इस प्रकार लिखा है[१४]—

$$\text{न}^3 = ३ \sum_{२}^{\text{न}} \text{र}\ (\text{र}-१) \quad + \text{न}$$

अतः

$$५^3 = ३\ [\ ५\times४ + ४\times३ + ३\times२ + २\ ] + ५$$
$$= ३\ [\ २० + १२ + ६ + २\ ] + ५$$
$$= ३\times४० + ५$$
$$= १२५$$

---

(१४) त्रिसमाहितर्घनस्स्यादिष्टोनयुतान्यराशिघातो वा ।
अल्पगुणितेष्ट कृत्या कलितो वृन्देन चेष्टस्य ॥
इष्टादिद्विगुणेष्ट प्रचयेष्ट पदान्वयोऽथ वेष्टकृतिः ।
व्येकेष्ट हतैकादि द्विचयेष्ट पदैक्य युक्ता वा ॥
एकादि चयेष्टपदे पूर्वं राशिं परेण संगुणयेत् ।
गुणित समासस्त्रिगुणश्चरमेण युतो घनो भवति ॥
अन्त्यान्यस्थानकृतिः परस्परस्थानसंगुणा त्रिहता ।
पुनरेवं तद्योगस्सर्वपदघनान्वितो वृन्दम् ॥
अन्त्यस्य घनः कृतिरपि सा त्रिहतोत्सार्य शेषगुणिता वा ।
शेष कृतिस्त्र्यन्त्यहता स्थाप्योत्सार्य्यैवमत्र विधिः ॥—महावीर
(गणितसारसंग्रह, परिकर्मव्यवहार । ४३ – ४७)

महावीर ने निम्नलिखित फल भी दिये हैं—

(१) $य^3 = य + ३ य + ५ य + \cdots$ इस प्रकार ५ पद लेकर

(२) $य^3 = य^2 + (य - १) \{ १ + ३ + \cdots + (२ य - १) \}$

जैसे—

(१) से $५^3 = ५ + १५ + २५ + ३५ + ४५ = १२५$

(२) से $५^3 = ५^2 + (५ - १) \{ १ + ३ + ५ + ७ + ९ \}$

$= २५ + ४ (२५) = २५ + १०० = १२५$

वर्गमूल—ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में वर्गमूल के लिए 'कृतिपद' शब्द का प्रयोग किया है (कृति = वर्ग, पद = मूल)। वर्गमूल या मूल शब्द बहुत पुराना है। इसका प्रयोग अनुयोगद्वारसूत्र (c. १०० ई० से पू०) में और गणित के अन्य ग्रन्थों में हुआ है। पद शब्द का प्रयोग सातवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ, और संभवतः इसका प्रथम प्रयोग ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में ही है। मूल शब्द अरब में जड़ (Jadhr) बना और लेटिन पर्य्याय radix भी मूल का ही अनुवाद है। वर्गमूल के लिए शुल्ब ग्रन्थों और प्राकृत साहित्य में 'करणी' शब्द का प्रयोग किया गया है। रेखागणित में इस शब्द का अभिप्राय भुजा से है। बाद को करणी शब्द Surd के लिए रूढि हो गया। यह ऐसा वर्गमूल है, जो पूर्णतया निकाला तो नहीं जा सकता; पर रेखा द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

वर्गमूल निकालने की विधि आर्य्यभटीय में इस प्रकार दी है[१५]—

भागं हरेद्वर्गान्नित्यं द्विगुणेन वर्गमूलेन।
वर्गाद् वर्गे शुद्धे लब्धं स्थानान्तरे मूलम् ॥

(गणितपाद, आर्यभटीय, ४)

श्रीधर ने 'त्रिशतिका' में वर्गमूल निकालने की विस्तृत विधि दी है।

महावीर ने यह विधि इस प्रकार दी है—

अन्त्यौजादपहृतकृतिमूलेन द्विगुणितेन युग्महृतौ।
लब्धकृतिस्त्याज्यौजे द्विगुणदलं वर्गमूलफलम् ॥३६॥

(गणितसारसंग्रह)

श्रीपति ने गणिततिलक में भी इसी प्रकार की विधि दी है। वर्गमूल निकालने की ये विधियाँ हिन्दसों के साथ ही आठवीं शताब्दी में अरब पहुँचीं और यूरोप के लेखकों ने भी इन्हें पन्द्रहवीं शताब्दी में अपनाया।

घनमूल—इसका नाम घनपद भी है। 'आर्य्यभटीय' में घनमूल निकालने का प्रथम उल्लेख है—

(१५) Always divide the even place by twice the square root (up to the preceding odd place); after having subtracted from the odd place the square (of the quotient), the quotient put down at the next place (in the line of the root) gives the root.

—(Singh)

अघनाद् भजेद् द्वितीयात् त्रिगुणेन घनस्य मूलवर्गेण ।
वर्गस्त्रिपूर्वगुणितः शोध्यः प्रथमाद् घनश्च घनात् ॥(गणितपाद,५)

इसी प्रकार महावीर ने घनमूल निकालने की विधि निम्नलिखित दी है—

अन्त्यघनादपहृतघनमूलकृति त्रिहृति भाजिते भाज्ये ।
प्राक्त्रिहतात्तस्य कृतिश्शोध्या शोध्ये घनेऽथ घनम् ॥५३॥
घनमेकं द्वे अघने घनपदकृत्या भजेत् त्रिगुणयाघनतः ।
पूर्वत्रिगुणात्तकृतिस्त्याज्यात्तघनश्च पूर्ववल्लब्धपदैः ॥५४॥

श्रीधर ने भी घनमूल निकालने की विधि विस्तार से दी है ।

भिन्न—भारतवर्ष में पूर्ण संख्याओं के अतिरिक्त भिन्न संख्याओं के प्रयोग की परम्परा भी बहुत पुरानी है । ऋग्वेद में आधे के लिए अर्ध और तीन-चौथाई के लिए त्रिपाद (१०।९०।४) शब्दों का प्रयोग हुआ है । मैत्रायिणी संहिता (३।७।७) में १/१६ के लिए कला, १/१२ के लिए कुष्ठ, १/८ के लिए 'शफ' और १/४ के लिए 'पाद' शब्दों का व्यवहार हुआ है । शुल्ब सूत्रों में तो इन भिन्नांशों का उपयोग गणना में भी है । मिश्र और बेबीलोनवासी ऐसी 'भिन्नों' का प्रयोग करना जानते थे जिनका अंश (numerator) इकाई हो । पर, त्रिपाद (३/४) के समान भिन्न का सबसे प्राचीन प्रयोग ऋग्वेद में है । शुल्ब साहित्य में ऐसी 'भिन्नें', जिनका अंश एक (१) हो, 'भाग' पद की सहायता से व्यक्त की जाती थीं, जिसे आपस्तम्ब शुल्ब-सूत्र में 'पञ्चदश भाग' (१/१५) के लिए, 'कात्यायन शुल्ब' में 'सप्त भाग' (१/७) के लिए । कहीं-कहीं 'पंचम भाग' इस प्रकार के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । इस प्रकार के शब्दों में से 'भाग' पद निकाल भी दिया जाता था और पंचम १/५ के लिए, षष्ठ १/६ के लिए, इत्यादि प्रयोग होते थे । ३/८ के लिए त्रि-अष्टम, २/७ के लिए द्विसप्तम शब्द भी प्रयुक्त हुए । बखशाली हस्तलिपि में ३/८ के लिए त्र्यष्ट और ३$\frac{3}{8}$ के लिए 'त्रयस् त्र्यष्ट' शब्दों का प्रयोग हुआ । वस्तुतः हमारे देश में भिन्नों को व्यक्त करने की परम्परा लगभग ५००० वर्ष पुरानी तो है ही ।

जिस भाव के लिए हमारे यहाँ भिन्न शब्द का प्रयोग होता है, वही भाव यूरोप के fractio, fraction, roupt, rotto और rocto शब्दों का भी है (भिन्न= टूटा हुआ=; इसी प्रकार fractus या ruptus = टूटा हुआ) । यह शब्दावली पर्य्यायों के रूप में ही यूरोप में भारत से पहुँची ।

भिन्न के लिए साहित्य में भाग और अंश शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । वैदिक साहित्य में कला शब्द का प्रयोग १/१६ भाग के लिए होता है, बाद को यह शब्द भी भिन्न के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा ।

भिन्न लिखने की रीति—१००० वर्ष पूर्व भी लगभग भिन्नें उसी प्रकार से हमारे देश में लिखी जाती थीं, जैसे आज, केवल दो अंकों के बीच की पड़ी रेखा नहीं होती थी । यदि किसी प्रश्न में कई भिन्नों का प्रयोग करना होता, तो उन्हें खड़ी और पड़ी रेखाओं द्वारा एक दूसरे से पृथक व्यक्त करते थे ।

अपवर्तन (reduction)—किसी भी भिन्न के अंश और हर को एक ही संख्या से भाग देकर सरल कर लेने का नाम अपवर्तन है। यह विधि अति प्राचीन समय से प्रचलित थी, यद्यपि इस क्रिया का पृथक् वर्ग में स्थान कहीं नहीं दिया गया है। उमास्वाति (c. १५०) के 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य' (२।५२) में दार्शनिक सिद्धान्त की उपमा के रूप में इसका एक स्थल पर उल्लेख है।

कई भिन्नों के हर को एक कर लेने का नाम 'कलासवर्णन' या 'सवर्णन' या समच्छेद विधि है। भिन्नों के जोड़ और बाकी में इस परिकर्म का व्यवहार होता है। ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में ब्रह्मगुप्त ने इसका स्पष्ट वर्णन दिया है।

महावीर ने भिन्न सम्बन्धी अध्याय का नाम अपने 'गणितसारसंग्रह' में 'कलासवर्णव्यवहार' रक्खा है। कलासवर्ण की उसने ६ जातियाँ बताई हैं—भाग, प्रभाग, भागभाग, भागानुबन्ध, भागापवाह और भागमातृ—

भागप्रभागावथ भागभागो भागानुबन्धः परिकीर्तितोऽतः।
भागापवाहस्सह भागमात्रा षट्जातयोऽमुत्र कलासवर्णे॥५४॥

भाग, प्रभाग, भागानुबन्ध और भागापवाह—ये चार ही जातियाँ अन्य कई आचार्यों ने मानी हैं।

इन भिन्नों के लिखने की पुरानी और नई पद्धतियाँ इस प्रकार हैं—

(१) भाग—

क	ग	च
ख	घ	छ

या

क	°ग	°च
ख	घ	छ

शून्य का अर्थ ऋण (–) चिह्न से है।

$$\frac{\text{क}}{\text{ख}} \pm \frac{\text{ग}}{\text{घ}} \pm \frac{\text{च}}{\text{छ}} \pm \cdots\cdots$$

(२) प्रभाग—

क	ग	च
ख	घ	छ

अर्थात् $\frac{\text{क}}{\text{ख}}\text{ का }\frac{\text{ग}}{\text{घ}}\text{ का }\frac{\text{च}}{\text{छ}}$

(३) भागानुबन्ध—

क
ख
ग

या

त
थ
द
ध
न
प

अथवा क्रमशः—

$$\text{क} + \frac{\text{ख}}{\text{ग}}$$

$$\text{या}\quad \frac{\text{त}}{\text{थ}} + \frac{\text{द}}{\text{ध}}\text{ का }\frac{\text{त}}{\text{थ}} + \frac{\text{न}}{\text{प}}\text{ का }\left(\frac{\text{त}}{\text{थ}} + \frac{\text{द}}{\text{ध}}\text{ का }\frac{\text{त}}{\text{थ}}\right) + \cdots$$

(४) भागापवाह—

$$\begin{array}{|c|}\text{क}\\ {}^{\circ}\text{ख}\\ \text{ग}\end{array} \quad \text{या} \quad \begin{array}{|c|}\text{त}\\ \text{थ}\\ \hline {}^{\circ}\text{द}\\ \text{ध}\\ \hline {}^{\circ}\text{न}\\ \text{प}\end{array}$$

अर्थात् क्रमशः—

$$\left(\text{क} - \frac{\text{ख}}{\text{ग}}\right)$$

$$\text{या} \quad \frac{\text{त}}{\text{थ}} - \frac{\text{द}}{\text{ध}}\,\text{का}\,\frac{\text{त}}{\text{थ}} - \frac{\text{न}}{\text{प}}\,\text{का}\left(\frac{\text{त}}{\text{थ}} - \frac{\text{द}}{\text{ध}}\,\text{का}\,\frac{\text{त}}{\text{थ}}\right)\cdots\cdots$$

(५) भागभाग—

$$\left(\text{क} \div \frac{\text{ख}}{\text{ग}}\right) \quad \text{या} \quad \left(\frac{\text{त}}{\text{थ}} \div \frac{\text{द}}{\text{ध}}\right)$$

भाग के लिए पहले कोई चिह्न नहीं था। भागानुबन्ध के समान ही इन्हें लिखा जाता था। वाक्य की शब्दावली से स्पष्ट होता था कि भाग करना है।

(६) भागमातृ—महावीर के मतानुसार भागमातृ के २६ भेद हैं—

भागादिमजातीनां स्वस्व विधिर्भागमातृजातौ स्यात्।
सा षड्विंशति भेदा रूपं छेदोऽच्छिदो राशेः॥ (कला० १३८)

कला या भिन्न लिखने के मूलभेद पाँच हैं, अतः उपभेद इनके संयोगों (Combinations) के २६ होंगे—

$${}^{५}\text{स}_{५} + {}^{५}\text{स}_{४} + {}^{५}\text{स}_{३} + {}^{५}\text{स}_{२} = २६$$

(स = C)

पुरानी वाक्यावली जिनमें ये भिन्नें व्यक्त की जाती थीं, बड़ी जटिल थीं। 'त्रिपाद् भक्तं द्विकम्' का अर्थ $२ \div \frac{३}{४}$, 'षड्भागभाग' का अर्थ $१ \div \frac{१}{६}$।

भिन्नों के जोड़, बाकी, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल और घन एवं घनमूल इन आठों परिकर्मों की विधियाँ ब्रह्मगुप्त, महावीर, श्रीधर, श्रीपति आदि ने दी हैं।

एक भिन्न को अनेक भिन्नों के श्रेणी-जोड़ों के रूप में व्यक्त करना— महावीर ने अपने गणितसारसंग्रह के 'कलासवर्णव्यवहार' अध्याय में श्रेणी-जोड़ों के कई मनोरञ्जक उदाहरण दिये हैं जिन्हें हम संक्षेप में यहाँ देंगे।

(१) छेदोत्पत्तौ सूत्रम्—

रूपांशकराशीनां रूपाद्यास्त्रिगुणिता हराः क्रमशः।
द्वि द्वि त्र्यंशाभ्यस्तावादिमचरमौ फले रूपे॥७५॥

$$१ = \frac{१}{२} + \frac{१}{३} + \frac{१}{३^{२}} + \frac{१}{३^{३}} + \cdots + \frac{१}{३^{न-२}} + \frac{१}{२.३^{न-२}}$$

(२) १ को विषमस्थानी एकांशक राशियों (unit fractions जिनमें अंश–numerator–एक हो) से व्यक्त करना–विषम स्थानानां छेदोत्पत्तौ सूत्रम्—

एकांशकराशीनां द्वयाद्या रूपोत्तरा भवन्ति हराः ।
स्वासन्नपराभ्यस्तास्सर्वे दलिताः फले रूपे ॥७७॥

$$१ = \frac{१}{२.३.\frac{१}{२}} + \frac{१}{३.४.\frac{१}{२}} + \ldots\ldots + \frac{१}{(२न-१)\ २न.\ \frac{१}{२}} + \frac{१}{२न.\ \frac{१}{२}}$$

(३) किसी एकांशक राशि को ऐसी भिन्नों द्वारा व्यक्त करना जिनके अंश दिये हों—एकांशानामनेकांशानां चैकांशे फले छेदोत्पत्तौ सूत्रम्—

लब्धहरः प्रथमस्यच्छेदः सस्वांशकोऽयमपरस्य ।
प्राक् स्वपरेण हतोऽन्त्यः स्वांशेनैकांशके योगे ॥७८॥

$$\frac{१}{न} = \frac{क_१}{न(न+क_१)} + \frac{क_२}{(न+क_१)(न+क_१+क_२)} + \cdots$$

$$+ \frac{क_{र-१}}{(न+क_१+क_२+\cdots+क_{र-२})(न+क_१+क_२+\cdots+क_{र-१})}$$

$$+ \frac{क_र}{क_र(न+क_१+क_२+\cdots\cdots+क_{र-१})}$$

यदि $क_१ = क_२ = - \cdots\cdots क_र = १$, तो ये ही रूपांशक (unit fraction) हो जायँगे ।

(४) किसी भी भिन्न राशि को कई एकांशक राशियों के योग से व्यक्त करना—एकांशकानामेकांशेऽनेकांशे च फले छेदोत्पत्तौ सूत्रम्—

सेष्टोहारो भक्तः स्वांशेन निरग्रमादिमांशहरः ।
तद्युतिहाराप्तेष्टः शेषोऽस्सादित्थमितरेषाम् ॥८०॥

मान लो कि त एक ऐसी संख्या है कि $\frac{फ+त}{प}$ एक पूर्ण संख्या = ब है, तो ऊपर दिये गये नियम से—

$$\frac{प}{फ} = \frac{१}{ब} + \frac{त}{ब.फ}$$

इसी प्रकार तीन अन्य नियम भी इस अध्याय के ८५, ८७ और ८९ श्लोकों में दिये गये हैं, जिन्हें हम यहाँ देना आवश्यक नहीं समझते ।

त्रैराशिक नियम (Rule of three)—त्रैराशिक शब्द का प्रयोग इस देश की परम्परा में लगभग २००० वर्ष पुराना है । यह शब्द बखशाली हस्तलिपि में भी प्रयुक्त हुआ है, 'आर्य्यभटीय' में भी और अन्य ग्रन्थों में भी । भास्कर प्रथम ने (c. ५२५) 'आर्य्यभटीय' में इस शब्द की व्याख्या भी की है । तीन राशियों के नाम प्रमाण, फल और इच्छा हैं अर्थात् इसे हम कहेंगे कि यदि प से फ की प्राप्ति होती है, तो इ से कितनी प्राप्ति होगी ? द्वितीय आर्य्यभट ने इनके नाम क्रमशः मान, विनिमय और इच्छा रक्खे हैं । पर अन्य आचार्य्यों (ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, महावीर



चित्र २—चाँदी का रत्नजटित प्राचीन पात्र; आज से २००० वर्ष पूर्व रोम या बैक्टी-
रिया में स्थित भारतीय कलाकारों द्वारा बनाया गया। (पृष्ठ २०९)

आदि) ने यही नाम दिये हैं। महावीर के गणितसारसंग्रह का चतुर्थ अध्याय 'त्रैराशिक व्यवहार' है। उसका कहना है—

त्रैराशिकेऽत्र सारं फलमिच्छा संगुणं प्रमाणाप्तम्।
इच्छाप्रमेयोस्साम्ये विपरीतेयं क्रिया व्यस्ते ॥२॥

अर्थात् त्रैराशिक में इच्छा और प्रमाण संगुणी होते हैं, अतः फल को इच्छा से गुणा कर प्रमाण से भाग देना चाहिए तब उत्तर मिल जायगा।

$$\text{उत्तर} = \frac{\text{इ} \times \text{फ}}{\text{प्र}}$$

व्यस्त त्रैराशिक—साधारण त्रैराशिक का उल्टा है (inverse rule of three)। महावीर का कहना है कि ऐसी अवस्था में क्रिया उलट कर की जाती है, अर्थात् जब इच्छा के बढ़ने पर फल घटे अथवा इच्छा के घटने पर फल बढ़े तब 'व्यस्त त्रैराशिक' माना जाता है। जैसे २५० मोती हैं, यदि प्रत्येक माला २५ मोतियों की बनाई जाय तो १० मालाएँ बनेंगी, तो उतने ही मोतियों में कितनी मालाएँ बनेंगी, यदि प्रत्येक माला में ५० मोती हों।

$$\text{उत्तर} = \frac{\text{प्र} \times \text{फ}}{\text{इ}}$$

लीलावती में इसके लिए लिखा है—

इच्छा वृद्धौ फले ह्रासो ह्रासे वृद्धिः फलस्य तु।
व्यस्तं त्रैराशिकं तत्र ज्ञेयं गणितकोविदैः॥

पंचराशिक, सप्तराशिक आदि—यूरोप में त्रैराशिक की विद्या भारत से पहुँची। इसका उल्लेख मध्यकालीन अरब और लैटिन साहित्यों में मिलता है। अरब में यह विद्या आठवीं शताब्दी में इस देश से गई प्रतीत होती है। हमारे देश में विक्रम संवत् के आरम्भ में ही इसका चलन आरम्भ हो गया था।

मिश्रित अनुपातों का नाम हमारे देश में पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक आदि था। इन सबको कभी-कभी विषम-राशिक नाम भी दिया गया है। लीलावती में इनके सम्बन्ध में ये वाक्य हैं—

पंचसप्तनवराशिकादिकेऽन्योन्यपक्षनयनं फलच्छिदाम्।
संविधाय बहुराशिजे वधे स्वल्पराशिवधभाजिते फलम्॥

लीलावती में इसे निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट किया गया है—

यदि १ मास में १०० पर सूद ५ है, तो १२ मास में १६ पर कितना होगा—

१	१२		१	१२
१००	१६	इसे इस प्रकार फल को अदल-बदलकर पहले लिखेंगे—	१००	१६
५	०		०	५

$$\text{उत्तर} = \frac{१२ \times १६ \times ५}{१ \times १००} = ९\frac{३}{५}$$

ब्याजसंबंधी प्रश्न—धन उधार देकर उस पर ब्याज लेने की प्रथा इस देश में बहुत पुरानी है। ऋण देने वाले और लेने वाले के लिए 'उत्तमर्ण' और 'अधमर्ण' शब्द

बहुत पुराने हैं। व्याज के सम्बन्ध का उल्लेख पाणिनि के सूत्रों (५।१।२२,४७,४९) में भी हुआ है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी इसकी अच्छी चर्चा है। गौतमसूत्र (१२।२६) में भी इसका विधान है। आर्य्यभटीय में तो सूद के हिसाब निकालने की एक ही विधि दी है, पर गणितसारसंग्रह में महावीर ने अनेक विधियाँ और इसके संबंध के अनेक प्रश्न दिये हैं। उसका अध्याय 'मिश्रक व्यवहार' इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

आर्य्यभट (प्रथम) ने निम्नलिखित प्रश्न के उत्तर में वर्गात्मक समीकरण (quadratic equation) द्वारा फल (व्याज) निकालने का निर्देश किया है—

मूलधन म (= १००) १ मास के लिए दिया गया (व्याज अज्ञात = य)। यह अज्ञात व्याज त मास के लिए (त = ६) उधार दिया गया। इस समय के बाद पहले का व्याज (य) और इस व्याज पर व्याज क (= १६) हुआ, तो बताओ कि मूलधन (म) पर व्याज की दर (य) कितनी हुई।

इस समीकरण में य का मूल्य निम्नांकित वर्गात्मक समीकरण से निकलेगा—

$$\text{त य}^{2} + \text{म य} - \text{क म} = 0$$

$$\text{य} = \frac{-\text{म}/_{2} \pm \sqrt{(\text{म}/_{2})^{2} + \text{कमत}}}{\text{त}}$$

ऋण मान से काम न चलेगा अतः

$$\text{य} = \frac{\sqrt{\text{कमत} + (\text{म}/_{2})^{2}} - \text{म}/_{2}}{\text{त}}$$

आर्य्यभट ने इस परिणाम को शब्दों में व्यक्त किया है।

महावीर ने अपने गणितसारसंग्रह में इस प्रकार के व्याज सम्बन्धी अनेक प्रश्न दिये हैं, जिनके उत्तर वर्गात्मक समीकरणों को हल करके ही निकाले जा सकते हैं।

शून्य का प्रयोग—हम कह चुके हैं कि गणित में शून्य का प्रयोग करना इस देश का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण आविष्कार है। विक्रम संवत् के आरंभ में ही इसका आविष्कार हो गया होगा और संख्याओं की श्रेणी में इसे स्थान मिल गया होगा। बखशाली हस्तलिपि में इसका प्रयोग पाया जाता है। बराहमिहिर (५०५) की 'पंच-सिद्धान्तिका' में जोड़ और बाकियों में शून्य के प्रयोग का उल्लेख है अर्थात् यह बताया गया है कि शून्य में से कैसे घटाया या जोड़ा जा सकता है। आर्यभटीय पर भास्कर-प्रथम (c. ५२५) ने जो टीका की है, उसमें तो दशमलव पद्धति का पूरा उल्लेख है। किन्तु भारतीयों ने पाटीगणित में शून्य का उपयोग दूसरे प्रकार से किया और बीजगणित में दूसरी तरह से।

नारायण ने अपनी पाटीगणित में लिखा है कि यदि शून्य को किसी संख्या में जोड़ा जाय या शून्य को उस संख्या में से घटावें, तो मान ज्यों-का-त्यों ही बना रहता है। पाटीगणित में शून्य से भाग देने की आवश्यकता नहीं होती है, अतः इसका उल्लेख पाटीगणित में नहीं किया जायगा; पर बीजगणित में यह उल्लेख होगा।

श्रीधर ने 'त्रिशतिका' में लिखा है कि किसी संख्या को शून्य से गुणा करो या भाग दो तो फल शून्य होगा। द्वितीय आर्यभट्ट ने अपने महासिद्धान्त में और महावीर ने अपने गणितसारसंग्रह में भी यही बात लिखी है। भेद इतना है कि उसने लिखा है संख्या शून्य से भाग देने पर अपरिवर्तित रहती है—

ताडितेन खेन राशिः खं सोऽविकारी हृतो युतः।
हीनोऽपि खवधादिः खं योगे खं योज्यरूपकम् (संज्ञा० ४९)

भारतीयों ने यहाँ एक भूल की है। हम जानते हैं कि किसी भी संख्या को शून्य से भाग देने पर 'अनन्त' संख्या आती है।

जैनगणित

जैनों की परम्परा के अनुसार प्रत्येक आगम के लिए चार अनुयोग आवश्यक बताये गये हैं—धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग, द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग। 'आर्य-रक्षित सूरि' ने गणितानुयोग के अन्तर्गत सूर्य्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि का विधान रक्खा। आरम्भ में गणितानुयोग और काल शब्द पर्य्याय माने जाते थे; क्योंकि काल की गणना गणित के आधार पर ही हो सकती थी। इस अनुयोग से गणित का सम्बन्ध दृढ़ हो गया। जैन-सम्प्रदाय ने गणित को विशेष महत्त्व दिया। भगवतीसूत्र (सूत्र ९०), पंचमांग और उत्तराध्ययन सूत्र (२५।५।७,८,३८) में लिखा है कि जिन मुनि के लिए संख्यान (अंकगणित) और ज्योतिष का ज्ञान आवश्यक है। तीर्थंकर ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को ७२ विद्याएँ पढ़ाई थीं जिनमें लिपि के बाद संख्यान की गिनती थी (कल्पसूत्र, सूत्र २११)। ऋषभ ने अपने बायें हाथ से अपनी पुत्री सुन्दरी को भी अंकगणित सिखाई। कहा जाता है कि चौबीसवें तीर्थंकर महावीर भी अंकगणित में पारंगत थे। महावीराचार्य ने गणितसारसंग्रह के आरंभ में ही जिनेन्द्र महावीर की स्तुति करते हुए कहा है—

नमस्तस्मै जिनेन्द्राय महावीराय तायिने।
संख्याज्ञानप्रदीपेन जैनेन्द्रेण महात्विषा॥

गणिय (=संस्कृत-गणित) को नन्दीसूत्र में मिथ्याश्रुत और अनुयोगद्वारसूत्र में 'लौकिकागम' कहा गया है; फिर भी इसका अध्ययन आवश्यक समझा गया है। आचारांगनिर्युक्ति (५।५०) में प्रत्येक आचार्य को इसका अध्ययन अनिवार्य बताया है—

गणियं णिमित्तजुत्ती संदिट्ठी अवितहं इमं णाणं।
इय एगंतमुवगया गुणपच्चाइय इमे अत्था॥

जैनगणित साहित्य—सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति ये दो प्राचीन ग्रन्थ अब तक पाये जाते हैं, जिनकी गणना १२ उपांगों में होती है। सकल श्रुतज्ञानियों में अन्तिम भद्रबाहु स्वामी था, जिसने सूर्य्यप्रज्ञप्ति पर एक निर्युक्ति लिखी है; पर यह आजकल अप्राप्य है। मलयगिरि सूरिने सूर्य्यप्रज्ञप्ति पर जो भाष्य लिखा है, उसमें

इसका निर्देश है। डा० थीबो[१६] के कथनानुसार यह ग्रन्थ भारत में यूनानियों के आने से पूर्व लिखा गया होगा। इस ग्रन्थ पर यूनानियों का प्रभाव नहीं प्रतीत होता। चीन के ग्रन्थ Chau-pei के विचारों का बिम्ब इस ग्रन्थ में कुछ अवश्य है। यही नहीं, ज्योतिषवेदांग और सूर्यप्रज्ञप्ति में भी समानता है।

एक पुराना जैन ग्रन्थ 'ज्योतिषकाण्डक' भी है जो 'वलभी-कौन्सिल' के समय सम्पादित हुआ था। वराहमिहिर ने अपने ज्योतिष ग्रन्थ में सिद्धसेन नामक एक जैन ज्योतिषी का भी उल्लेख किया है। भट्टोपल (सन् ९६६ ई०) ने अपने ग्रन्थ में इसके कुछ लेख भी उद्धृत किये हैं। जीवाजीवाभिगमसूत्र के लवणाधिकार में ज्वारभाटाओं का उल्लेख है। क्षेत्रसमास (जम्बूद्वीप समासप्रकरण) में जो उमास्वाति का रचा बताया जाता है, और जिनभद्रगणि के बृहत् क्षेत्र समास (सन् ५५० ई०) में भी कहीं-कहीं गणित और ज्योतिष की चर्चा है।

जैनगणित का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गणितसारसंग्रह' है, जिसका रचयिता महावीर है। यह ग्रन्थ मद्रास सरकार ने अंग्रेजी अनुवाद सहित सन् १९१२ ई० में प्रकाशित किया था। यह ग्रन्थ 'चक्रिकाभंजन' राजा के काल में लिखा गया। यह राजा अमोघवर्ष और नृपतुङ्ग इन उपाधियोंसे विभूषित था, जैसा कि महावीर ने मंगलाचरण में दिया है—

श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्ट हितैषिणा ॥३॥
चक्रिकाभञ्जनो नाम्ना चक्रिकाभञ्जनोऽञ्जसा ॥६॥
देवस्य नृपतुङ्गस्य वर्धतां तस्य शासनम् ॥८॥

प्राचीन शिलालेखों से स्पष्ट है कि अमोघवर्ष नृपतुङ्ग का शासनकाल सन् ८१४ (या ८१५) से ८७७ (या ८७८) तक रहा। महावीर भी इसी राष्ट्रकूट नृप के आश्रय में था। यह नवीं शताब्दी का दाक्षिणात्य जैन आचार्य्य है। आर्यभट पाँचवीं शताब्दी का, वराहमिहिर छठी का, ब्रह्मगुप्त सातवीं का और भास्कर बारहवीं शताब्दी का था। इस प्रकार महावीर का समय ब्रह्मगुप्त और भास्कर के बीच का है। महावीर कन्नड भाषा-भाषी था। महावीर ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त से अवश्य परिचित रहा होगा। पिछले पृष्ठों में हमने 'गणितसारसंग्रह' और उसके रचयिता महावीर का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। उसके ग्रन्थ में संज्ञाधिकार, परिकर्मव्यवहार, कलासवर्णव्यवहार, प्रकीर्तकव्यवहार, त्रैराशिकव्यवहार, मिश्रकव्यवहार, क्षेत्रगणितव्यवहार, खातव्यवहार और छायाव्यवहार इस प्रकार से ९ अध्याय हैं।

बहुत-से जैनग्रन्थ विलुप्त हो गये हैं। शीलाङ्क सूरि (सन् ८६२ ई०) ने आचारांग की टीका में भंग (permutations and combinations) सम्बन्धी तीन

(१६) Vide 'Astronomie, Astrologie und Mathematik' published in 'Grundriss der Indo-Arishen Philologie und Altertumskunde' vol. III, No. 9, p. 20. और J. A. S. B. 1880, No. 3.

श्लोक ऐसे दिये हैं, जो अन्य किसी प्राप्य ग्रन्थ में नहीं पाये जाते। ये जिन ग्रन्थों के हैं, वे शीलाङ्क सूरि के समय में प्रचलित रहे होंगे।

एक और ग्रन्थ महत्त्व का है, जो प्रकाशित हो चुका है, वह है श्रीपति के गणित-तिलक की सिंहतिलक सूरि द्वारा टीका। श्रीपति स्वयं जैन न था और यह शैव था अर्थात् महेश्वर का भक्त। वह नागदेव का पुत्र और भट्ट केशव का पौत्र था। उसने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे—धीकोटिदंकरण, सिद्धान्तशेखर, ज्योतिपरत्नमाला, दैवज्ञ-वल्लभ, जातकपद्धति, गणिततिलक, बीजगणित, श्रीपतिनिबन्ध, ध्रुवमानसँकरण और श्रीपतिसमुच्चय। श्रीपति ने 'सिद्धान्तशेखर' सन् १०४० ई० में लिखा था।

'सिंहतिलक सूरि' विबुधचन्द्र गणभृत् का शिष्य था। यह विबुधचन्द्र यशोदेव सूरि का शिष्य था। 'सिंहतिलक सूरि' के ग्रन्थ 'गणिततिलक' वृत्ति में लीलावती और श्रीधर की 'त्रिशती' ग्रन्थ का भी उल्लेख है।

जैनियों के गणित साहित्य का एक ग्रंथ नेमिचन्द्ररचित त्रिलोकसार है। इस ग्रन्थ में लोकसामान्याधिकार, भवनाधिकार, व्यंतरलोकाधिकार, ज्योतिर्लोकाधिकार, वैमानिकलोकाधिकार और नरतिर्यग्लोकाधिकार नामक ये अधिकार हैं। इन अधिकारों में प्रथम वाला अधिकार (लोकसामान्याधिकार) गणित की दृष्टि से अधिक महत्त्व का है।

त्रिलोकसार में १४ धाराओं (Series) का वर्णन—त्रिलोकसार के लोकसामान्याधिकार में १४ धाराएँ इस प्रकार दी हैं—

> **धारेत्थ सब्ब समकदिघणमाउगइदरवेकदीविंदं।**
> **तस्सघणाघणमादी अंतं ठाणं च सव्वत्थ ॥५३॥**
> **[धारा अत्र सर्वसमकृतिघन मात्रिकेतरद्विकृतिवृंदम्।**
> **तस्य घनाघनमादि अन्तं स्थानं च सर्वत्र ॥]**

अर्थात् १४ धाराएँ हैं—सर्वधारा, समधारा, कृतिधारा, घनधारा, कृतिमातृक-धारा, घनमातृकधारा और इनकी प्रतिपक्षी धाराएँ अर्थात् विषमधारा, अकृतिधारा, अघनधारा, अकृतिमातृकधारा, अघनमातृकधारा, और इनके अतिरिक्त द्विरूपवर्ग-धारा, द्विरूपघनधारा और द्विरूपघनाघनधारा।

१. सर्वधारा—

> **उत्तेव सव्वधारा पुव्वं एकादिगा हव्वेज्ज जदि।**
> **सेसा समादि धारा तत्थुप्पण्णेति जाणाहि ॥५४॥**
> **[उक्तैव सर्वधारा पूर्वं एकादिका भवेत् यदि।**
> **शेषाः समादिधाराः तत्रोत्पन्ना इति जानीहि ॥]**

अर्थात् निम्नांकित श्रेणी सर्वधारा है—प्रथम पद १ है और समान अन्तर भी १ है।

१, २, ३, ४, ५, ..., १६

२. **समधारा—**

बेयादि बिउत्तरिया केवल पज्जंतया समाधारा।
सव्वहथ अवरमवरं रूऊणुक्कस्समुक्कस्सं ॥५५॥
[द्व्यादि द्व्युत्तरिका केवलपर्यंतका समाधारा।
सर्वत्र अवरमवरं रूपोनोत्कृष्टं उत्कृष्टम् ॥]

अर्थात् पहला पद २ हो और समान अन्तर भी दो—

२,४,६,८,१०,१२,१४,१६

३. **विषमधारा—**

एगादि बिउत्तरिया विसमा रूऊणकेवलवसाणा।
रूवजुदमवरमवरं वरं वरं होदि सव्वत्थ ॥५६॥
[एकादि द्व्युत्तरा विषमा रूपोनकेवलावसाना।
रूपयुतमवरावरं वरं वरं भवति सर्वत्र ॥]

अर्थात् पहला पद १ और समानान्तर २ हो—

१,३,५,७,९,११,१३,१५

४. **कृतिधारा—**

इगिचादि केवलंतं कदी पदं तप्पदं कदी अवरं।
इगिहीण तप्पदकदी हेट्ठिमुक्कस्स सव्वत्थ ॥५८॥
[एकंचत्वार्यादिः केवलांता कृतिः पदं तत्पदं कृतिः अवरम्।
एकहीन तत्पदकृतिः अधस्तनमुत्कृष्टं सर्वत्र ॥]

अर्थात् १,४,९,१६ यह चार पदों की वर्गश्रेणी है।

५. **अकृतिधारा—**

दुप्पहुदि रूववज्जिद केवलणाणावसाणमकदीए।
सेसविही विसमं वा सपदूणं केवलं ठाणं ॥५९॥
[द्वि प्रभृति रूपवर्जित केवलज्ञानावसानमकृतौ।
शेषविधिः विषमा वा स्वपदोनं केवलं स्थानम् ॥]

यह धारा सर्वधारा में से कृतिधारा को घटानेपर मिलती है।

१ + २ + ३ + ४ + ५ + ६ + ७ + ८ + ९ + १० +...+ १६
—[१ + ४ + ९ + १६]
२ + ३ + ५ + ६ + ७ + ८ + १० + ११ + १२ + १३ + १४ + १५

६. **घनधारा—**

इगि अडपहुदिं केवलदलमूलस्सुवरि चडिदठाणजुदे।
तग्घणमंतं विंदे ठाणं आसण्णघणमूलं ॥६०॥
[एकाष्ट प्रभृति केवलदलमूलस्योपरि चटितस्थानयुते।
तद्घनमंतं वृंदे स्थानं आसन्नघनमूलम् ॥

यह घनश्रेणी है—१,८,२७,६४,...इत्यादि।

७. **अघनधारा**—यह धारा सर्वधारा में से घनधारा को घटाने पर मिलती है (६१)।

८. **कृतिमातृकधारा**—यह कृतिधारा के पदों के वर्गमूल लेने से बनती है।
अर्थात् १,२,३,...७

९. **द्विरूपवर्गधारा**—

बेरूव वग्गधारा चउ सोलस बिसदसहियछप्पणं।
पण्णट्ठी बादालं एकट्ठं पुव्व पुव्व कदी ॥६६॥
[द्विरूप वर्गधारा चत्वारषोडशद्विशतसहित षट् पंचाशत्।
पण्णट्ठी द्वाचत्वारिंशत् एकाष्टी पूर्व पूर्व कृतिः ॥]

यह इस प्रकार है—$२^२$, $(२^२)^२$, $[(२^२)^२]^२$,...इत्यादि।
इसकी चौथी, पाँचवीं और छठी संख्या को पण्णट्ठी, बादाल और एकट्ठि कहते हैं, अर्थात् पण्णट्ठी = $२^{१६}$, बादाल = $२^{३२}$ और एकट्ठि = $२^{६४}$,

१०. **द्विरूपघनधारा**—$२^३$, $(२^३)^२$, $[(२^३)^२]^२$,...इस श्रेणी को कहते हैं।

११. **द्विरूपघनाघनधारा**—इसका पहला पद $[२^३]^३$ है अर्थात् $२^३$ का घन और अगले पद इसके क्रमशः वर्ग होते गये हैं।

किसी गुणश्रेणी (geometric series) के पदों को कैसे जोड़ा जाय, इसका नियम निम्नांकित गाथा में दिया हुआ है—

पदमेत्ते गुणयारे अण्णोण्णं गुणिय रूवपरिहीणे।
रूऊणगुणेण हिए मुहेण गुणियम्मि गुणगणियं ॥२३१॥
[पदमात्रान् गुणकारान् अन्योन्यं गुणयित्वा रूपपरीहिणे।
रूपोनगुणेन हृते मुखेन गुणिते गुणगणितम् ॥]

मान लीजिए कि श्रेणी यह है—

$$२ + २^२ + २^३ + २^४ + २^५ + २^६ + २^७$$

गुणकार (अर्थात् common ratio) = २, पदमात्रा हैं ७ (no. of terms)। पदमात्रा और गुणकार को अन्योन्य गुणा करना = २×२×२×२×२×२×२ = $२^७$ = १२८, इसको २ से गुणा कर २ घटा देने से =२५४, यह संकलन हुआ। इस नियम का उपयोग करके ७९६वीं और ७९७वीं गाथाओं में संकलन भी किया गया है।

क्षेत्रमिति--त्रिलोकसार में **क्षेत्रमिति सम्बन्धी** नियम भी दिये हुए हैं, हम कुछ का उल्लेख यहाँ करेंगे।

(१) **त्तिगुणियवासं परिही दहगुण वित्थारवग्गमूलं च।**
परिहिहदवासतुरियं बादर सुहुमं च खेत्तफलं ॥३११॥
[त्रिगुणितव्यासः परिधिः दशगुणविस्तारवर्गमूले च।
परिधिहतव्यासतुरीयं बादरं सूक्ष्मं च क्षेत्रफलम् ॥]

अर्थात् व्यास की ३ गुनी परिधि होती है (यहाँ π (पाई) का मूल्य ३ माना है)। यह मोटे रूप से अर्थात् बादर (gross) है अथवा व्यास का वर्ग करके उसका दशगुणा करे और फिर वर्गमूल ले तो परिधि का सूक्ष्म मान मिलेगा।

वृत्त की परिधि = ३ × व्यास (मोटे रूप से) = ३d

$= \sqrt{१० \times \text{व्यास}^२}$ (सूक्ष्म रूप से) $= \sqrt{१० d^२}$

और परिधि को व्यास के $\frac{१}{४}$ भाग से गुणा करें तो वृत्त का क्षेत्रफल मिलेगा।

क्षेत्रफल $= \frac{१}{४}$ व्यास $\times \sqrt{१० \times \text{व्यास}^२} = \frac{१}{४}\sqrt{१०} \times (\text{व्यास})^२$

$= \frac{१}{४}$ व्यास × परिधि $= \frac{\pi d^२}{४} = \pi r^२$

(२) **थूलफलं ववहारं जोयणमवि सरिसवं च कादव्वं।**
चउरस्स सरिसवा ते णवसोऽस भाजिदा वट्टं ॥१८॥
[स्थूलफलं व्यवहारं योजनमपि सर्षपश्च कर्तव्यः।
चतुरस्र सर्षपास्ते नवषोडश भाजिता वृत्तम् ॥]

अर्थात् वृत्त का व्यासार्ध = $\frac{९}{१६}$ × भ [भ उस वर्ग की भुजा है, जिसका क्षेत्रफल वृत्त के क्षेत्रफल के बराबर हो]

(३) **इसुहीणं विक्खंभं च उगुणिदिसुणा इदे दु जीवकदी।**
बाणकदिं छहिं गुणिदे तत्थ जुदे धणुकदी होदि ॥७६०॥
[इषुहीनं विष्कंभं चतुर्गुणतेषुणा हते तु जीवाकृतिः।
बाणकृतिं षड्भिः गुणिते तत्र युते धनुः कृतिः भवति ॥]

अर्थात् विष्कंभ (वृत्त का व्यास, व) में से इषु (height of the segment, ह) घटाकर उसे इषु के चौगुने से गुणा करें तो जीवा (chord = ज) का वर्ग (कृति) मिलेगा।

$ज^२ = ४ ह (व - ह) \qquad c^२ = 4h(d - h)$

बाण या इषु (ह) के वर्ग को ६ गुना करें और जीवा की कृति (वर्ग) में जोड़ें तो धनु (ध) (arc of the circle) का वर्ग (धनुकृति) मिलेगा—

$ध^२ = ६ ह^२ + ज^२ \qquad a^२ = 6h^२ + c^२$

(४) **इसुवग्गं चउगुणिदं जीवावग्गम्हि पक्खि वित्ताणं।**
चउगुणिदि सुणा भजिदे णियमा वट्टस्स विक्खंभोः॥७६१॥
[इषुवर्गं चतुर्गुणितं जीवावर्गे प्रक्षिप्य।
चतुर्गुणितेषुणा भक्ते नियमात् वृत्तस्य विष्कंभः ॥]

इषु या बाण (height) के वर्ग को चौगुना करके उसमें जीवा (chord) के वर्ग को मिलावें और फिर इषु के ४ गुने से भाग दें, तो वृत्त का विष्कंभ (व्यास) निकल आयेगा।

$$व = \frac{ज^2 + ४ह^2}{४ ह} \qquad d = \frac{c^2 + 4h^2}{4h}$$

यह उसी नियम के अनुकूल है, जो पहलेवाली गाथा (७६०) में दिया है। ७६३ वीं गाथा में इसे ही इस रूप में कहा है—

दुगुणिसु कदिजुट जीवावग्गं चउवाण भाजिये वट्टं।
[द्विगुण्येषु कृतियुतं जीवावर्गं चतुर्वाणभक्ते वृत्तम्]

अर्थात् $$व = \frac{ज^2 + (२ ह)^2}{४ ह}$$

सं० ३ के अन्तर्गत जो नियम $ध^2_{।।} - ६ ह^2 + ज^2$ दिया गया है, उसका दूसरा रूपान्तर इस ७६३ वीं गाथा की दूसरी पंक्ति में है—

जीवाधणुकदि सेसो छब्भत्तो तप्पदं बाणं।
[जीवा धनुःकृतिशेषः षड्भक्तः तत्पदं वाणम् ॥]

अर्थात् $$ह = \sqrt{\frac{ध^2 - ज^2}{६}}$$

अर्थात् धनु के वर्ग (कृति) में से जीवा का वर्ग घटा कर ६ से भाग दें और फिर उसका पद (वर्गमूल) लें, तो वाण या इषु प्राप्त होगा।

(५) जीवा विक्खंभाणं वग्गविसेसस्स होदि जम्मूलं।
तं विक्खम्भा सोहय सेसद्धमिसुं विजाणाहि ॥७६४॥
[जीवा विष्कंभयोः वर्गविशेषस्य भवति यन्मूलम्।
तत् विष्कंभात् शोधय शेषार्धमिषुं विजानीहि ॥]

अर्थात् विष्कंभ के वर्ग में जीवा का वर्ग घटाये और फिर उसका वर्गमूल ले और इसे फिर विष्कंभ में से घटाकर आधा करे तो इषु (वाण- height) मिलेगा—

$$ह = \frac{१}{२}\left(व - \sqrt{व^2 - ज^2}\right)$$

यह भी ७६० वीं गाथा में दिये गये सूत्र के आधार पर निकल सकता है। इस प्रकार के नियमों के लिए पाठक ७६० से लेकर ७६६ तक की त्रिलोकासार की गाथाएँ देखें।

बीजगणित का विकास

इतिहास—यहाँ इतना स्थान नहीं है कि बीजगणित के विकास का इतिहास दिया जा सके। यह कहना कठिन है कि प्राचीन रेखागणित के आचार्यों ने अपने प्रश्नों के समाधान में बीजगणित से भी सहायता ली। कहा जाता है कि ईसा की चौथी शताब्दी के मध्यकाल में डायोफैण्टस् (Diophantus) नामक एक यूनानी ने १३ अध्यायों का एक पाटीगणित का ग्रन्थ लिखा, जिसके एक अध्याय ने बीजगणित की नींव डाली। इसने सरल समीकरणों और वर्गात्मक समीकरणों की नींव डाली। उसमें इस प्रकार के प्रश्न हैं—दो संख्याओं का जोड़ दिया है, और

उन दोनों संख्याओं के वर्गों का जोड़ (या अन्तर) दिया है, तो उन दोनों संख्याओं को बताओ।

$$\left.\begin{array}{l} क + ख = ९ \\ क^२ + ख^२ = ४१ \end{array}\right\} \text{ या } \begin{array}{l} क + ख = ९ \\ क^२ - ख^२ = ९ \end{array}$$ तो क और ख निकालो।

पर डायोफैण्टस चाहे ग्रीक के बीजगणित का जन्मदाता रहा हो, बीजगणित संबंधी नियम उससे पहले भी ज्ञात थे। थिओन की पुत्री हिपेटिआ (Hypatia) ने डायोफैण्टस के ग्रन्थ की टीका भी लिखी थी। १६वीं शताब्दी के मध्य में इटली के एक पुस्तकालय में डायोफैण्टस के यूनानी ग्रन्थ का पता लगा। जाइलैण्डर (Xylander) ने इसका १५७५ में लैटिन में अनुवाद किया, और सन् १६८१ में फ्रेंच में बेशे डि मेजेरिआक (Bachet de Mezeriac) ने भी अनुवाद किया।

अरबवासी अलजेब्रा के प्रवर्त्तन का श्रेय मुहम्मद बिन मूसा (बुजिआना का मुहम्मद) या मूसा को देते हैं जो खलीफा अलममून के समय में नवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था। कहा जाता है कि उसने एक ग्रन्थ लिखा जिसका इटली की भाषा में भी अनुवाद हुआ था; पर यह अनुवाद अब लुप्त है। अरबी लिपि में लिखी गई सन् १३४२ की इसकी एक प्रति ऑक्सफोर्ड की बोडलीयन पुस्तकालय में अब भी सुरक्षित है। यह अरबी भाषा का ग्रन्थ भारतीय बीजगणित के आधार पर ही लिखा गया होगा, यह इन वाक्यों से स्पष्ट है—

"The circumstance of this treatise professing to be only a compilation, and, moreover, the first Arabian work of the kind, has led to an opinion that it was collected from books in some other language. As the author was intimately acquainted with the astronomy and computations of the Hindoos, he may have derived his knowledge of algebra from the same quarter. The Hindoos, as we shall presently see, had a science of algebra, and knew how to solve indeterminate problems. Hence we may conclude, with some probability, that the Arabian algebra was originally derived from India." (इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, ९वाँ संस्करण, पृष्ठ ५१२)।

१०वीं शताब्दी के अन्त में अरब में एक गणितज्ञ मुहम्मद अबुलवफा हुआ, जिसने अपने पूर्ववर्त्ती गणितज्ञों (विशेषतया डायोफैण्टस) की पुस्तकों के अनुवाद किये; पर डायोफैण्टस के बीजगणित का अरब के बीजगणित पर प्रभाव नहीं पड़ा। अरब का बीजगणित बेहाउद्दीन (९५३-१०३१) के समय तक अपनी पूर्व परम्परा में ही चला। अरब से यूरोप में बीजगणित कैसे पहुँचा, इसके सम्बन्ध में अब यह माना जाता है कि पीसा (Pisa) का एक व्यापारी लेओनार्डो (Leonardo) पहले-पहल बीजगणित ले गया। उस समय बीजगणित पाटीगणित का ही अंग माना जाता था। लेओनार्डो ने स्वयं एक पुस्तक सन् १२०२ में लिखी। लेओनार्डो के समय

से बीजगणित का पठन-पाठन यूरोप में आरंभ हुआ। खुरासान के मुहम्मद बिन मूसा के ग्रन्थ का भी लैटिन में अनुवाद हुआ। यूरोप में छपी हुई सबसे पहली बीजगणित की पुस्तक लूकस पेसिओलस (Lucas of Paciolus or Lucas de Burgo) की है—"Summa de Arithmetica, Geometria, Proportioni et Proportionabta"—जो सन् १४९४ में छपी। यह पुस्तक लेओनार्डो के आधार पर लिखी गई थी। इस प्रकार सन् १५०० के लगभग के यूरोपीय ज्ञान का परिचय लूकस के इस ग्रन्थ से मिलता है। इटली में यूरोप के बीजगणित का प्रथम आविर्भाव और विकास हुआ। बोनोनिया के अध्यापक सीपियो फेरिअस (Scipio Ferreus) ने सन् १५०५ में नई खोजें आरम्भ की, जिसमें ब्रेसिआ के टारटालिआ (Tartalea) और कारडान (Cardan) ने भी भाग लिया।

सन् १८१३ में एडवर्ड स्ट्रेचे (Strachey) ने भारतीयों के 'बीजगणित' के फारसी अनुवाद का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। सन् १८१६ में डा० जॉन टेलर (Taylor) ने 'लीलावती' का अंग्रेजी अनुवाद बम्बई से प्रकाशित किया। ये दोनों ग्रन्थ बीजगणित के प्रमुख वेत्ता भास्कराचार्य्य के लिखे हुए थे। सन् १८१७ में हेनरी थॉमस कोलब्रूक (Colebrooke) ने 'Algebra, Arithmetic and Mensuration from the Sanscrit of Brahmgupta and Bhascara' नामक अनुवादित ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ में भास्कराचार्य्य की लीलावती और बीजगणित और ब्रह्मगुप्त के गणिताध्याय और कुट्टकाध्याय थे। भास्कराचार्य्य का समय सन् ११५० ई० के आसपास माना जाता है। ब्रह्मगुप्त डेविस के कथनानुसार, सातवीं शताब्दी (डा० विलियम हंटर के हिसाब से सन् ६२८ ई० के आसपास) का व्यक्ति था। कोलब्रूक ने अनेक तर्क देकर यह सिद्ध किया है कि ब्रह्मगुप्त अरबवालों के वैज्ञानिक प्रादुर्भाव से पूर्व का व्यक्ति है, अतः उसने यह सिद्ध किया कि अरबवालों से पहले भारतीयों के पास बीजगणित का ज्ञान रहा होगा।[१७]

भास्कर से पूर्व बीजगणित के अन्य ग्रन्थ भी विद्यमान थे। भास्कर के ग्रन्थों के प्रसिद्ध टीकाकार गणेश ने आर्य्यभट के पुराने ग्रन्थ से एक संदर्भ लिया है, जो सिद्ध करता है कि बीजगणित का प्रयोग आर्य्यभट के समय भी होता था। वर्गात्मक समीकरणों को वर्ग पूरा करके निकालने की विधि भी इन्हें ज्ञात थी[१८]। कोलब्रूक के

(१७) "From various arguments, Mr. Colebrooke concludes that the age of Brahmagupta was antecedent to the earliest dawn of the culture of the science among the Arabians, so that the Hindoos must have possessed algebra before it was known to that nation."—इन्साइक्लो० ब्रिटे०, पृष्ठ ५१७।

(१८) "They appear to have been able to resolve quadratic equations by the process of completing the square and hence, Mr. Colebrooke presumes that the treatise of Arya Bhatta then extant extended to quadratic equations in the determinate analysis and to indeterminate equations of the first degree, and probably to those of the second."—इन्साक्लो० ब्रिटे०।

अनुसार आर्य्यभट ईसा की पाँचवीं शताब्दी से पूर्व ही रहा होगा, और सम्भवतः यह यूनान के डायोफैण्टस का समकालीन ही हो (सन् ३६० ई० के आसपास)। कोलब्रूक ने डायोफैंण्टस और आर्य्यभट आदि के बीजगणितों की तुलना की है, और दिखाया है कि निम्न प्रकार की कई बातों में भारतीय बीजगणित डायोफैण्टस के बीजगणित से श्रेष्ठ था—

१. The management of equations of more than one unknown quantity.

२. The resolution of equations of a higher order, in which if they achieved little, they had at least the merit of the attempt and anticipated a modern discovery in the resolution of biquadratics.

३. General methods for the resolution of indeterminate problems of the first and second degrees, in which they went far indeed beyond Diophantus and anticipated discoveries of modern algebraists.

४. The application of algebra to astronomical investigations and geometrical demonstration, in which also they hit upon some matters which have been re-invented in modern times.

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्त्तमान बीजगणित का मूल आर्य्यभट और उससे पूर्व के समय में पड़ गया था। प्रो० प्लेफेयर का कहना है कि सम्भवतः भारतीय बीजगणित की परम्परा इससे भी पुरानी है। इस देश में ज्योतिष के सिद्धान्तों का विकास ईसा से ३००० वर्ष पूर्व हो गया था, और इसके साथ ही साथ बीजगणित का भी विकास हुआ होगा।[१९]

भारतीय बीजगणित में ऋण और धन चिह्न— भास्कर ने अपने बीजगणित में यह उल्लेख इस सम्बन्ध में दिया है—

जोड़ना—**धनर्णं संकलने करणसूत्रं वृत्तार्द्धम्—योगे युतिः स्यात्**
क्षययोः स्वयोर्वा धनर्णयोरन्तरमेव योगः।

यदि दोनों राशियाँ धन हों या ऋण हों, तो उन्हें जोड़ने में व्यक्त गणित के समान योग करो। यदि एक धन हो और एक ऋण हो तो दोनों का अन्तर लो। यदि शेष धन बचे तो धन, और ऋण बचे तो ऋण मानो।

---

(१९) Professor Playfair, adopting the opinion of Bailly the eloquent author of the **Astronomie Indienne**, with great ingenuity attempted to prove, in a **Memoir on the Astronomy of the Brahmins**, that the observations on which the Indian astronomy is founded were of great antiquity, indeed more than 3000 years before the Christian era.— **इन्साइक्लो० ब्रिटेनिका।**

घटाना—**धनर्णं व्यवकलने करणसूत्रं वृत्तार्धम्—संशोध्यमानं स्वमृणत्वमेति स्वत्वं क्षयस्तद्युतिरुक्तवच्च ।**

अर्थात् जो राशि घटाई जाती है, उसे संशोध्यमान कहते हैं। यह संशोध्यमान राशि धन हो तो ऋण और ऋण हो तो धन कर ले, और फिर संकलनवाले नियम के हिसाब से जोड़ ले।

गुणन और भागहार—**गुणने करणसूत्रं वृत्तार्धम्—स्वयोरस्वयोः स्वं वधः स्वर्णघाते क्षयो भागहारेऽपि चैवं निरुक्तम् ।**

अर्थात् यदि दोनों राशियाँ धन हों या दोनों ऋण हों, तो उनका गुणनफल (घात) धन होगा, और उनमें से यदि एक धन हो और दूसरा ऋण, तो घात ऋण होगा।

भागहार के लिए भी इसी प्रकार का नियम है।

वर्ग और वर्गमूल—**वर्गादौकरणसूत्रं वृत्तार्धम्—कृतिः स्वर्णयोः स्वं स्वमूले धनर्णे न मूलं क्षयस्यास्ति तस्याकृतित्वात् ॥**

धन और ऋण दोनों राशियों का वर्ग (कृति–square) धन ही होता है। धन राशि का वर्गमूल धन और ऋण दोनों होता है। ऋण राशि अकृति (अवर्ग) होती है, इसलिए उसका वर्गमूल नहीं होता।

धन के लिए 'स्व' और ऋण के लिए 'क्षय' इन शब्दों का भी प्रयोग होता है।

शून्यराशि (या ख) के सम्बन्ध में नियम—

संकलन और व्यवकलन—**खयोगे वियोगे धनर्णं तथैव च्युतं शून्यतस्तद्विपर्यासमेति ।**

शून्य को किसी राशि में जोड़ दो या किसी राशि में से उसे घटा दो, तो धन या ऋण राशि का विपर्यास (हेरफेर) नहीं होता। पर यदि शून्य में से धन राशि घटाओ तो ऋण, और ऋण राशि घटाओ तो धन हो जाता है।

गुणन और भजन—**वधादौ वियत्खस्य खं खेन घाते खहारो भवेत् खेन भक्तश्च राशिः ।**

ख अर्थात् शून्य के वध (गुणन) आदि में (अर्थात् गुणन, भजन, वर्ग, वर्गमूल, धन और घनमूल में) गुणनफल आदि शून्य ही होता है। केवल भाग में अन्तर है—यदि किसी राशि को शून्य से भाग दें तो 'खहार' राशि प्राप्त होगी—'खं शून्यं हारश्छेदो यस्य खहारोऽनन्त' इत्यर्थः। खहार को अनन्त कहते हैं।

खहर राशि—**अस्मिन्विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु । बहुष्वपि स्याल्लयसृष्टिकालेऽनन्तेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत् ॥**

इस खहर राशि (infinity) में चाहे कोई राशि जोड़ दें या इसमें से कोई राशि घटा दें, तो इसमें कोई विकार नहीं होता, जैसे परमेश्वर में प्रलय के समय अनेक

जीव प्रविष्ट होते और सृष्टि के समय निकल आते हैं; पर वह फिर भी अनन्त और अच्युत रहता है।

अव्यक्त राशियाँ—यावत्-तावत्—जैसे आजकल बीजगणित में अव्यक्त राशियों के लिए x,y,z आदि संकेतों का प्रयोग होता है, वैसे ही भास्कराचार्य्य ने अपने बीजगणित में यावत्-तावत् आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया है—

यावत्तावत्कालको नीलकोऽन्यो वर्णःपीतो लोहितश्चैतदाद्याः।
अव्यक्तानां कल्पिता मानसंज्ञास्तत्संख्यानं कर्तुमाचार्यवर्यैः॥

अव्यक्त संख्याएँ ६ प्रकार निरूपित की जाती हैं—यावत्-तावत्, कालक, नीलक, पीतक और लोहितक। यह इसलिए है कि वे आपस में मिल न जावें।

अव्यक्तों के **संकलन** और **व्यकलन** का नियम इस प्रकार है—

योगोऽन्तरं तेषु समानजात्योर्विभिन्नजात्योस्तु पृथक् स्थितिश्च।

अर्थात् यावत्-तावत् आदि में से जो समान जाति के हों, उन्हें साधारण नियमों से जोड़ा और घटाया जाता है; पर यदि राशियाँ विभिन्न जाति की हों तो उन्हें केवल पृथक् लिख देते हैं और यही उनका जोड़ या अन्तर समझा जाता है।

यावत्-तावत् = या, कालक = का, नीलक = नी

इसका एक उदाहरण लीजिए—

स्वमव्यक्तं एकं सखे सैकरूपं धनाव्यक्तयुग्मं विरूपाष्टकं च।
युतौ पक्षयोरेतयोः किं धर्मणे विपर्यस्य चैक्ये भवेत् किं वदाशु॥

धन अव्यक्त १ और धनरूप १ (यह पहला पक्ष है), इसमें धन अव्यक्त २ और ऋणरूप ८ यह दूसरा पक्ष है, इन दोनों पक्षों को जोड़ देने से क्या आवेगा? यदि (१) पहले पक्ष के, (२) दूसरे पक्ष के, और (३) दोनों पक्षों के ऋण-धन चिह्नों का विपर्यय हो जाय तो क्या उत्तर होगा?

इसे इस प्रकार लिखेंगे—

या १ रू १　　　　ऋण चिह्न अंक के ऊपर बिन्दु
या २ रू ८̇　　　　रखकर प्रकट करते थे।
―――――――
या ३ रू ७̇
या १̇ रू १̇
या २ रू ८̇　　　　इत्यादि।
―――――――
या १ रू ९̇

अव्यक्त राशियों के गुणन के लिए नियम इस प्रकार है—

स्याद्रूपवर्णाभिहतौ तु वर्णो द्वित्र्यादिकानां समजातिकानाम्।
वधे तु तद्वर्गघनादयः स्युस्तद्भावितं चासमजातिघाते।
भागादिकं रूपवदेव शेषं व्यक्ते यदुक्तं गणिते तदत्र॥

अर्थात् रूप (अर्थात् ज्ञातमान १,२,३ आदि) और वर्ण को गुणा करने से

गुणनफल वर्ण होता है। सजातीय वर्णों से दो, तीन आदि सजातीय वर्णों को गुणा करने से उनके वर्ग, घन, चतुर्घात आदि मिलते हैं—या × या = या^{२}, या × या × या = या^{3} आदि। या^{२} को यावत्तावद् वर्ग, या^{3} को यावत्तावद् घन कहते हैं।

इसी प्रकार कालक, नीलक आदि के भी वर्ग, घन आदि होंगे। यदि यावत्तावद् को कालक से गुणा करें तो यावत्तावद्-कालक भावित होगा। इसी प्रकार कालक को नीलक से गुणा करने पर कालक-नीलक भावित होगा—

या × का = या का भा (भावित का भा है)

का × नी = का नी भा

या का × नी = या का नी भा

इसी प्रकार के नियम भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूलों के लिए भी हैं। गुणा करने की विधि इस उदाहरण से स्पष्ट है—

गुण्य = या ५ रू १̇	५x − १
गुणक = या ३ रू २	३x + २
याव १५ या ३̇	१५$x^{२}$ − ३x
या १० रू २̇	१०x − २
गुणनफल = याव १५ या ७ रू २̇	१५$x^{२}$ + ७x − २

'याव' का अर्थ यावत्-तावद् वर्ग है। जिन संख्याओं के पहले रूप (या रू) लिखा है, वे ज्ञातमान संख्याएँ हैं।

करणी (Surds)—करणी की परिभाषा इस प्रकार की जाती है—'यस्य राशेर्मूलेऽपेक्षिते निरग्रं मूलं न संभवति स करणी' अर्थात् जिस राशि का निरग्र यानी पूरा मूल न मिले, उसे करणी कहते हैं। भास्कर ने अपने बीजगणित में करणी सम्बन्धी संकलन, व्यवकलन, गुणन, भागहार, वर्ग और वर्गमूल निकालने से सम्बन्ध रखनेवाली सभी प्रक्रियाएँ दी हैं।

दो करणियों के योग का नाम 'महती संज्ञा' है और उनके घात को (गुणन को) दुगुना करें, तो इसका नाम लघु संज्ञा है—

करणी $\sqrt{क} + \sqrt{ख}$ या $\sqrt{क} - \sqrt{ख}$

इसका वर्ग करने पर क + ख $\pm २\sqrt{कख}$ हुआ

इसमें (क + ख) यह महती संज्ञा है।

और $२\sqrt{कख}$ यह लघु संज्ञा है।

योगं करण्योर्महतीं प्रकल्प्य घातस्य मूलं द्विगुणं लघुं च।
योगान्तरे रूपवदेतयोः स्तो वर्गेण वर्गं गुणयेद् भजेच्च॥

अर्थात् महती संज्ञा और लघु संज्ञा को साधारण रूप (अंक, ज्ञातमान) के समान जोड़ कर या घटा कर करणियों का योग और अन्तर मिलता है[२०]। गुणा करने में

(२०) $\sqrt{२} + \sqrt{८} = \sqrt{(२ + ८ + २\sqrt{२ \times ८})} = \sqrt{१० + ८} = \sqrt{१८}$

$\sqrt{८} - \sqrt{२} = \sqrt{(२ + ८ - २\sqrt{२ \times ८})} = \sqrt{१० - ८} = \sqrt{२}$

रूपों का वर्ग कर लो और फिर गुणा करो, और भाग देने में रूपों का वर्ग करके भाग दो—

$$\sqrt{क} + \sqrt{ख} = \sqrt{[(क+ख)+२\sqrt{कख}]} = \sqrt{महती + लघु}$$

$$\sqrt{क} - \sqrt{ख} = \sqrt{[(क+ख)-२\sqrt{कख}]} = \sqrt{महती - लघु}$$

$$\sqrt{क} \times \sqrt{ख} = \sqrt{कख}$$

$$\sqrt{क}/\sqrt{ख} = \sqrt{क/ख}$$

दूसरी विधि इस प्रकार है—दी गई २ करणियों में जो बड़ी है, उसे महती और जो छोटी है, उसे लघु कहते हैं। महती करणी में लघु करणी का भाग दो। संकलन के लिए इसमें १ जोड़ो और व्यवकलन के लिए इसमें से १ घटा दो और फिर लघु करणी से गुणा करो। यदि महती करणी में लघु करणी का भाग देने से मूल न मिले, तो उनको एक पंक्ति में अलग-अलग लिख दो।

मान लो कि $\sqrt{क}$ से $\sqrt{ख}$ छोटी है।

$$\sqrt{क} + \sqrt{ख} = \left(\frac{\sqrt{क}}{\sqrt{ख}} + १\right)\sqrt{ख}$$

$$\sqrt{क} - \sqrt{ख} = \left(\frac{\sqrt{क}}{\sqrt{ख}} - १\right)\sqrt{ख}$$

(उदाहरण— $\sqrt{८} + \sqrt{२} = (\sqrt{४} + १)\sqrt{२} = ३\sqrt{२}$

$\sqrt{८} - \sqrt{२} = (\sqrt{४} - १)\sqrt{२} = \sqrt{२}$)

इसी प्रकार के उदाहरण और नियम गुणनखण्ड, भागहार, वर्ग, वर्गमूल आदि के भी दिये गये हैं। स्थानाभाव से इन्हें हम यहाँ नहीं दे सकते।

समीकरण—ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने समीकरण के लिए 'समकरण' और 'समीकरण' दोनों शब्दों का प्रयोग ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त (१८।६३) में किया है। कहीं-कहीं केवल 'सम' शब्द का भी इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है (१८।४३)। पृथूदक स्वामी (८६० ई०) ने इसके लिए 'साम्य' शब्द का भी प्रयोग किया है (१२।६६–भाष्य)। श्रीपति ने सिद्धान्तशेखर (१४०१ ई०) में 'सदृशीकरण' का प्रयोग किया और नारायण (१३५० ई०) ने अपने बीजगणित में समीकरण, साम्य और समत्व इन शब्दों का प्रयोग किया है।

प्रत्येक समीकरण में दो 'पक्ष' (sides) होते हैं। पक्ष शब्द का प्रयोग श्रीधर (c. ७५०), पद्मनाभ आदि ने भी किया जिनके उद्धरण भास्कर द्वितीय के बीजगणित में मिलते हैं। श्रीधर और पद्मनाभ के बीजगणित ग्रन्थ इस समय अप्राप्य हैं।

समीकरणों में अव्यक्त राशियाँ यावत्-तावत् (या), कालक (का), नीलक (नी), पीतक (पी), लोहितक (लो), हरीतक (ह), श्वेतक (श्वे), चित्रक (चि), कपिलक (क), पिंगलक (पि), धूम्रक (धू), पाटलक (पा), शवलक (श), श्यामलक (श्या), मेचक (मे) आदि से व्यक्त की जाती रही हैं। नारायण ने वर्णमाला के क आदि अक्षरों

का प्रयोग भी बताया है। 'मधुर' आदि रसों के नाम पर भी अव्यक्त राशियाँ प्रचलित रही हैं। रत्नों के नाम के प्रथमाक्षर (माणिक्य का मा, इन्द्रनील का नी, मुक्ताफल का मु, षड्वज्र या वज्र का व) भी भास्कर द्वितीय ने अपने बीजगणित में अव्यक्त राशियों के लिए दिये हैं।

बखशाली हस्तलिपि में य + २य + ३ × ३य + १२ × ४य = ३००

इस समीकरण को इस प्रकार लिखा गया है—

०	२ १	३ ३	१२ ४	दृश्य ३००
१	१ १	१ १	१ १	

ब्रह्मगुप्त के समय से ही समीकरणों के लिखने का रूप सुधर गया था (ब्रह्मस्फुट-सिद्धान्त १७।४३)। पृथूदक स्वामी (८६०) ने

१० य − ८ = य² + १

इस समीकरण को इस प्रकार लिखा है—

याव ० या १० रू ८̇ (याव = या का वर्ग)

याव १ या ० रू १

इसी प्रकार १९७ य − १६४४ र − ल = ६३०२ को पृथूदक स्वामी ने इस प्रकार दिया—

या १९७ का १६४४̇ नी १̇ रू ०

या ० का ० नी ० रू ६३०२.

य = या, र = का, ल = नी—ये तीन यावत्-तावत, कालक और नीलक इस समीकरण में अव्यक्त राशियाँ हैं।

भास्कर द्वितीय (सन् ११५० ई०) ने

५ य + ८ र + ७ ल + ९० = ७ य + ९ र + ६ ल + ६२ को इस प्रकार लिखा—

या ५ का ८ नी ७ रू ९०

या ७ का ९ नी ६ रू ६२̇

उच्च घातों (powers) के समीकरणों में घाताङ्क क्रमशः कम होते जायँ, इस प्रकार लिखने की पद्धति भास्कर ने दी है। जैसे—

८ य³ + ४ य² + १० र² य = ४ य³ + ० य² + १२ र² य को भास्कर ने इस प्रकार लिखा—

याघ ८ याव ४ काव या. भा १०

याघ ४ याव ० काव या. भा १२

(भा = भावित, गुणित)

समीकरणों के दोनों पक्षों में समान राशियों को निकाल देने का नाम 'संशोधन' या शोधन है—

जैसे याव ८ या ३४̇ रू ७२

याव ० या ० रू ९०

(४ य² − ३४ य + ७२ = ९०)

संशोधन के बाद—

याव ४ या ३४ रू ०

याव ० या ० रू १८

(४ य² – ३४ य = १८)

बन जावेगा।

समीकरणों के प्रकार—ईसा से ३०० वर्ष पूर्व समीकरण घात (degree or power) के हिसाब से वर्गीकृत होते थे और इन्हें यावत्-तावत् (simple), वर्ग (quadratic), घन (cubic) और वर्गवर्ग (biquadratic) कहा जाता था। ब्रह्मगुप्त (६२८) ने इनका नाम 'एकवर्ण समीकरण' (जिसमें एक अव्यक्त हो) और 'अनेकवर्ण समीकरण' (जिसमें कई अव्यक्त हों) और 'भावित समीकरण' जिसमें कई अव्यक्तों का गुणन हो, रक्खा। एकवर्ण समीकरण के अव्यक्त समीकरण (linear equation) और अव्यक्तवर्ग समीकरण (quadratic equation) ऐसे दो भाग और किये गये। पृथूदक स्वामी ने इससे भिन्न वर्गीकरण किया। उसने ४ भेद इस प्रकार दिये—(१) एक अव्यक्त राशिवाला रैखिक (linear) समीकरण, (२) अनेक अव्यक्त राशियोंवाला रैखिक समीकरण, (३) एक, दो या अनेक अव्यक्त राशियोंवाले द्वितीय, तृतीय और उच्च घातों के समीकरण और (४) कई अव्यक्तों के गुणनवाले समीकरण। इनमें से तीसरे प्रकार का समीकरण 'मध्यमाहरण' भी कहलाया; क्योंकि इसका हल मध्यम पद के आहरण (elimination) से निकलता था।

यदि दो या अनेक अव्यक्तों के दो या अनेक समीकरण दिये गये हों तो उनके हल निकालने का नाम "संक्रमण" (solution of simultaneous equation) है। ब्रह्मगुप्त, महावीर आदि आचार्यों ने संक्रमण की विधियाँ दी हैं। जैसे यदि समीकरण ये हों—

कय + खर = प

खय + कर = फ

तो महावीर के नियम से (गणितसारसंग्रह—५।१३९½)—

ज्येष्ठघ्न महाराशेर्जघन्य फल ताडितोनमपनीय।
फलवर्ग शेषभागो ज्येष्ठाग्रोऽन्यो गुणस्य विपरीतम्॥

$$य = \frac{क प - ख फ}{क^2 - ख^2}, \quad र = \frac{क फ - ख प}{क^2 - ख^2}$$

भास्कर ने भी बीजगणित में अनेक नियम दिये हैं।

महावीर ने अपने गणितसारसंग्रह में अनेक प्रकार के समीकरणों को हल करने के नियम और दृष्टान्त दिये हैं। समीकरण किस प्रकार के हैं, यह नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जागगा—

(१) ९य + ७र = १०७

७य + ९र = १०१ (ग० सा० सं० ५। १४०½ – १४२)

(२) $य_१ + य_२ + य_३ = २२$

$य_१ + य_२ + य_४ = २३$

$य_१ + य_३ + य_४ = २४$

$य_२ + य_३ + य_४ = २७$

तो $य_१$, $य_२$, $य_३$ और $य_४$ बताओ। (ग० सा० सं० ५। १६० – १६२)

(३) $२ (य + र + ल) - ३य = २७$

$३ (य + र + ल) - ४र = ४०$

$५ (य + र + ल) - ६ल = ६६$ (ग० सा० सं० ५। २५३ – २५५)

भास्करबीजगणित में भी भास्कर द्वितीय ने अनेक समगतिक (simultaneous) समीकरण और उनके हल दिये हैं। जैसे—

$$य + \frac{य}{२} = र + \frac{र}{५} = ल + \frac{ल}{९}$$

$$य - \frac{र}{५} - \frac{ल}{९} = र - \frac{ल}{९} - \frac{य}{२} = ल - \frac{य}{२} - \frac{र}{५} = ६०$$

वर्गात्मक समीकरण—वैदिक काल में यज्ञ की वेदियों की रचना में निम्नलिखित प्रकार के वर्गात्मक समीकरण के हल किये जाने की आवश्यकता होती थी—

$$कय^२ + खय = ग$$

इसी प्रकार $कय^२ = ग$

बहुधा जिस समीकरण का उपयोग होता था, वह यह है—

$$७य^२ + \frac{१}{२}य = ७\frac{१}{२} + म$$

जिससे $य = \frac{१}{२८} (\sqrt{८४१ + ११२म} - १)$

या $य^२ = \frac{१}{७८४} \{ ८४२ + ११२म - २\sqrt{८४१ + ११२म} \}$

म के उच्च घातों को न लें तो

$$य^२ = १ + \frac{४म}{२९} \quad \text{लगभग}$$

कात्यायन ने जो हल दिया है, उसके अनुसार

$$य^२ = १ + \frac{म}{७}$$

ईसा से ५००–३०० वर्ष पूर्व जैनग्रन्थों में निम्नांकित वर्गात्मक समीकरण का रेखागणित की विधि से हल होता था—

$$४ख^२ - ४गख = - च^२$$

उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में (१५० ई० से पूर्व) निम्नलिखित हल दिया है—

$$ख = \frac{१}{२} (ग - \sqrt{ग^२ - च^२})$$

बखशाली की हस्तलिपि में भी वर्गात्मक समीकरण के हल का उल्लेख है।

आर्य्यभट ने निम्नांकित वर्गात्मक समीकरण का हल दिया है—

$$\text{त}\text{य}^2 + \text{प}\text{य} - \text{क}\text{प} = 0$$

हल यह है— $$\text{य} = \frac{\sqrt{\text{कपत} + (\text{प}/2)^2} - \text{प}/2}{\text{त}}$$

(आर्य्यभटीय २।२५)

ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने अपने ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त (१८।४४) में वर्गात्मक समीकरण क य^2 + ख य = ग के हल दो तरह दिये हैं—

$$\text{य} = \frac{\sqrt{4\,\text{कग} + \text{ख}^2} - \text{ख}}{2\,\text{क}}$$

और $$\text{य} = \frac{\sqrt{\text{कग} + (\text{ख}/2)^2} - (\text{ख}/2)}{\text{क}}$$

ज्योतिष की समस्याओं के हल करने में भी इन वर्गात्मक समीकरणों का प्रयोग ब्रह्मगुप्त ने किया है (ब्र० स्फु० सि० ३।५४-५५)।

श्रीधर ने (७५० ई०) वर्गात्मक समीकरणों के हल निकालने में विशेषता प्राप्त की थी। उसका बीजगणित अप्राप्य है; पर भास्कर द्वितीय के ग्रन्थ में इसके उद्धरण मिलते हैं। अंकगणितीय श्रेणियों (A.P.) में पदों की संख्या निकालने में इनका उपयोग श्रीधर ने त्रिशतिका ग्रन्थ में किया है। आर्यभट द्वितीय (९५० ई०) ने भी इसका नियम दिया है। यदि पहला पद (क) हो, समान अन्तर (स) हो और श्रेणी के पदों का योग (स) हो, तो पदों की संख्या (न) (A.P. में) निम्नलिखित होगी—

$$\text{न} = \frac{\sqrt{2\,\text{खस} + (\text{क} - \text{ख}/2)^2} - \text{क} + \text{ख}/2}{\text{ख}}$$

श्रीपति ने वर्गात्मक समीकरण के हल निकालने के दो नियम दिये हैं। हल वही है जो ब्रह्मगुप्त ने दिया है। ज्ञानराज (सन् १५०३ ई०) और गणेश (सन् १५४५ ई०) ने भी इसी प्रकार के नियमों का विवरण दिया है।

भारतीयों को यह भी मालूम था कि वर्गात्मक समीकरण के दो मूल होते हैं। भास्कर द्वितीय ने एक प्राचीन गणितज्ञ पद्मनाभ का उल्लेख किया है, जिसका बीजगणित आज अप्राप्य है। पद्मनाभ के उद्धरण से स्पष्ट है कि वह जानता था कि वर्गात्मक समीकरण के दो मूल होते हैं।

व्यक्तपक्षस्य चेन्मूलमन्यपक्षर्णं रूपतः।
अल्पं धनर्णगं कृत्वा द्विविधोत्पद्यते मितिः॥

उनके उदाहरण $\frac{\text{य}^2}{64} + 12 = \text{य}$

में य का मान ४८ और १६ दोनों निकलता है। इसी प्रकार एक उदाहरण $\text{य}^2 - 55\,\text{य} = -250$ में य = ५ और ५०। महावीर को भी ज्ञात था कि वर्गात्मक समीकरण के दो मूल होते हैं, जैसा कि गणितसारसंग्रह (३।५९) के एक प्रश्न से स्पष्ट है। जहाँ कहीं भी किसी समस्या में यह हल (या मिति) ऋणात्मक होता था,

इसे अग्राह्य समझा जाता था। ब्रह्मगुप्त को भी (सन् ६२८) वर्गात्मक समीकरणों के दो हल होते हैं, यह बात ज्ञात थी।

घन समीकरण और वर्ग-वर्ग समीकरण—भारतीयों को घन समीकरण और वर्ग-वर्ग समीकरण के हल निकालने में अधिक सफलता नहीं मिली। भास्कर द्वितीय ने मध्यमाहरण विधि का प्रयोग भी किया जिसके द्वारा घन समीकरण वर्गात्मक समीकरणों में परिणत किये जा सकें और फिर उनके हल निकाल लिये जायँ। महावीर ने रेखागणितीय श्रेणी के सम्बन्ध में उच्च घातों के सरल समीकरणों का भी प्रयोग किया जिन्हें हम विस्तारभय से यहाँ देना उचित नहीं समझते।

कुट्टक—(Indeterminate equations)—प्रथम घात के अनिर्णीत विश्लेषण (indeterminate analysis of the first degree) को भारतीय गणित में कुट्टक, कुट्टाकार या कुट्ट नाम दिये गये हैं। भास्कर प्रथम (५३२ ई०) ने महाभास्करीय कुट्टाकार और कुट्ट नाम दिये हैं। आर्य्यभटीय की टीका में कुट्टक और कुट्टाकार नामों का प्रयोग है। ब्रह्मगुप्त ने भी कुट्टक, कुट्टाकार और कुट्ट इन शब्दों का प्रयोग किया है। महावीर को कुट्टीकार शब्द विशेष रुचा (गणितसारसंग्रह–५।७९½)। महावीर ने इन स्थलों में भागहार, भाजक, छेद आदि शब्द divisor के लिए; अग्र, शेष आदि remainder के लिए; क्षेप, क्षेपक आदि interpolator के लिए; भाज्य dividend के लिए; गुणक, गुणाकार आदि multiplier के लिए; फल quotient के लिए और 'राशि' अज्ञात संख्या के लिए प्रयोग किये (ग० सा० सं० ५।११५½)। भास्कराचार्य्य की शब्दावली कुछ भिन्न है[२१]।

कुट्ट शब्द का अर्थ कूटना या पीसना है। गणेश कहता है कि कुट्टक वस्तुतः गुणक या गुणाकार (multiplier) है। यदि किसी दी हुई संख्या को किसी ऐसी अज्ञात संख्या से गुणा करें, और फिर इसमें कोई क्षेपक घटाएँ या जोड़ें और फिर किसी दिये गये भागहार से भाग दें कि अन्त में शेष कुछ न बचे, तो उस गुणक को कुट्टक कहेंगे। सूर्यदास (सन् १५३८ ई०), कृष्ण (c. सन् १५८० ई०) और रंगनाथ (सन् १६०२ ई०) ने भी इसी प्रकार की परिभाषा दी है।

कुट्टक की सहायता से खर − कय = ± ग, इस प्रकार के समीकरणों का हल होता था। आर्य्यभट प्रथम (सन् ४९९ ई०) ने जो नियम दिये वे क्लिष्ट थे और उन्हें समझने में लोगों ने आगे भूलें भी कीं। डॉ० विभूतिभूषण दत्त ने आर्य्यभट के नियम का शुद्ध अनुवाद प्रकाशित किया है जिसमें भ्रम के लिए स्थान नहीं है। ब्रह्मगुप्त और महावीर ने भी उपर्युक्त समीकरण का समीचीन समाधान किया है। आर्य्यभट द्वितीय ने इसकी मीमांसा विस्तार से की और इसके संबंध की कई प्रक्रियाएं दीं जिन्हें हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे सकते। भास्कराचार्य्य के बीजगणित का कुट्टक अध्याय महत्त्व का है।

---

(२१) भाज्योहारः क्षेपकश्चापवर्त्यः केनाप्यादौ संभवे कुट्टकार्थम्।
येनच्छिन्नौ भाज्यहारौ न तेन क्षेपश्चैतद्दुष्टमुद्दिष्टमेव ॥२६॥ [बीजगणित]

निम्नांकित समीकरणोंका नाम 'वर्गप्रकृति' या 'कृतिप्रकृति' दिया गया है—

नय^{२} ± ग = र^{२} $nx^2 \pm c = y^2$

इनके हल की विस्तृत विधियाँ भास्कर द्वितीय, नारायण, ज्ञानराज और कमलाकर के ग्रन्थों में मिलेंगी। ब्रह्मगुप्त ने भी विशेष उदाहरणों की इस सम्बन्ध में चर्चा की है। श्रीपति ने सिद्धान्तशेखर में जो विधि और वर्णन दिया है, वह अधिक श्रेष्ठ है।

चक्रवालविधि (cyclic method) का प्रयोग

न क^{२} + त = ख^{२}

$n a^2 + k = b^2$

इन समीकरणों के सम्बन्ध में जो दिया गया है, वह विशेष महत्त्व का है। इस चक्रवाल का संकेत ब्रह्मगुप्त की विधि में भी है, पर इसका विस्तार से वर्णन भास्कर द्वितीय ने अपने बीजगणित में एक पूरे अध्याय में किया है।

पूर्णांक भुजाओंवाले समकोणत्रिभुज (Rational right triangles) —शुल्व साहित्य (जैसे आपस्तम्ब शुल्बसूत्र आदि) में पूर्णांक भुज-समकोण-त्रिभुज, जिनकी एक भुजा दी हो, निकालने की विधियाँ दी हैं। आजकल की बीजभाषा में इसे हम कहेंगे कि $x^2 + a^2 = z^2$ (य^{२} + क^{२} = र^{२}) इस समीकरण का बीज या हल निकालना जिसमें ज्ञात राशि a या क है, x और z निकालना है और शर्त्त यह है कि x, a और z (य, क और र) तीनों राशियाँ पूर्णांक हैं।

इस समीकरण के अनेक हल हैं जिनमें से ये दो प्रसिद्ध हैं—

(क, $\frac{३}{४}$ क, $\frac{५}{४}$ क) और (क, $\frac{५}{१२}$ क, $\frac{१३}{१२}$ क) क्योंकि ३^{२} + ४^{२} = ५^{२} और ५^{२} + १२^{२} = १३^{२}। इस प्रकार के पूर्णांक भुजसमकोणत्रिभुज निकालने की चर्चा महावीर ने भी की है।

ब्रह्मगुप्त ने य^{२} + क^{२} = र^{२} के पूर्णांक हल ये दिये हैं—

$$\text{क}, \ \frac{१}{२}\left(\frac{\text{क}^{२}}{\text{न}} - \text{न}\right), \ \frac{१}{२}\left(\frac{\text{क}^{२}}{\text{न}} + \text{न}\right)$$

जिसमें 'न' कोई भी पूर्णांक संख्या (rational number) है।

[मानलो कि क = २ और न = १, तो बीज या हल हैं—

२, $\frac{१}{२}$ (४ − १), $\frac{१}{२}$ (४ + १) अर्थात् २, $\frac{३}{२}$, $\frac{५}{२}$ जो पूर्णांक करने पर ४,३,५ होंगे अर्थात् ४^{२} + ३^{२} = ५^{२}

इसी प्रकार क = ३, न = १ , हल = (६,८,१०) या (३,४,५)

क = ३, न = २ , हल = (१२,५,१३)

क = ४, न = १ , हल = (८,१५,१७)

क = ४, न = २ , हल = (१६,१२,२०) या (४,३,५)

क = ४, न = ३ , हल = (२४,७,२५)

इत्यादि]

यह नियम महावीर के गणितसारसंग्रह में भी दिये हैं—

१. **कोटिच्छेदावाप्त्योस्सङ्क्रमणे बाहुदलफलच्छेदौ ।**
बीजे श्रुतीष्टकृत्योर्योगवियोगार्धं मूले ते ॥९५½॥

२. **कोटिकृतेश्छेदाप्त्योस्संक्रमणे श्रुतिभुजौ भुजकृतेर्वा ।**
अथवा श्रुतीष्टकृत्योरन्तरपदमिष्टमपि च कोटिभुजे ॥९७½॥

(क्षेत्रगणित व्यवहार अध्याय)

इन दोनों सूत्रों में कोटि, भुज और कर्ण के जो नियम दिये हैं, उन्हें बीजगणित की भाषा में इस प्रकार लिखा जायगा—

$$(१)\quad क,\ \tfrac{1}{2}\left(\frac{क^2}{प^2}-प^2\right),\ \tfrac{1}{2}\left(\frac{क^2}{प^2}+प^2\right)$$

$$(२)\quad \frac{क^2}{४फ^2}-फ^2,\ क,\quad \frac{क^2}{४फ^2}+फ^2$$

महावीर के दिये गये ये बीज या हल भी वही हैं जो ब्रह्मगुप्त ने दिये हैं। ब्रह्मगुप्त की राशि 'न' इनमें क्रमशः $प^2$ और $२फ^2$ हो गई है। इनमें बीज हैं $\tfrac{1}{2}\left(\frac{क^2}{प}+प\right)$ और $\tfrac{1}{2}\left(\frac{क^2}{प}-प\right)$ जिसमें प कोई भी अभीष्ट संख्या है।

भास्कर द्वितीय ने दो प्रकार के बीज या हल दिये हैं, जिनमें एक तो वही ब्रह्मगुप्त वाला, अर्थात् $क,\ \tfrac{1}{2}\left(\frac{क^2}{न}-न\right),\ \tfrac{1}{2}\left(\frac{क^2}{न}+न\right)$ और

दूसरा यह है— $क,\ \frac{२ न क}{न^2-१},\ न\left(\frac{२ न क}{न^2-१}\right)-क$

[मान लो कि क = ३, न = २, तो बीज हैं, $३,\ \frac{२\times२\times३}{३}$,

$$२\left(\frac{१२}{३}\right)-३ \text{ अर्थात् } (३, ४, ५)।$$

इस प्रकार यदि एक भुजा १२ हो तो इसके ४ हल या बीज ये दिये हैं— (१२, ३५, ३७); (१२, १६, २०); (१२, ९, १५) और (१२, ५, १३)। देखो 'लीलावती'।]

सूर्य्यदास (१५३८) ने प्रथम हल की सिद्धि भी की है। मान लो कि दो पूर्णांक समकोण त्रिभुज ये हैं—$[(न^2-१), २न, (न^2+१)]$ और (य, र, ल), तो

$$\frac{य}{न^2-१}=\frac{र}{२न}=\frac{ल}{न^2+१}=च$$

$\therefore य=च(न^2-१),\ र=२\ नच,$ और $ल=च(न^2+१)$

$\therefore य+ल=२च\ न^2=न\ र$

अब यदि य = क, तो

$$च=\frac{क}{न^2-१}$$

अतः $र = \frac{२ न क}{न^२ - १}$, और $ल = \frac{क}{न^२ - १}(न^२ + १)$

$$= न\left(\frac{२ न क}{न^२ - १}\right) - क$$

ब्रह्मगुप्त वाले हल की सिद्धि सूर्य्यदास, गणेश और रंगनाथ ने इस प्रकार की है—

क्योंकि $य^२ + क^२ = ल^२$

अतः $क^२ = ल^२ - य^२ = (ल - य)(ल + य)$

मान लो कि $ल - य = न$, जिसमें न कोई भी पूर्ण संख्या है, तो

$$ल + य = \frac{क^२}{न}$$

$\therefore ल = \frac{१}{२}\left(\frac{क^२}{न} + न\right)$, और $य = \frac{१}{२}\left(\frac{क^२}{न} - न\right)$

आपस्तम्ब की विधि को व्यापक बनाने पर बीज इस प्रकार मिलेंगे—

$$क, \left(\frac{म^२ + २म}{२म + २}\right) क, \left(\frac{म^२ + २म + २}{२म + २}\right) क$$

[मान लो क = १, म = १, बीज = १, $\frac{३}{४}$, $\frac{५}{४}$ अर्थात् (४, ३, ५)

क = १, म = २, बीज = १, $\frac{८}{६}$, $\frac{१०}{६}$ अर्थात् (६, ८, १०)

क = १, म = ३, बीज = १, $\frac{१५}{८}$, $\frac{१७}{८}$ अर्थात् (८, १५, १७)

इत्यादि ।]

दिये कर्ण के अनुसार समकोण त्रिभुज बनाना—अर्थात् $य^२ + र^२ = ग^२$ इस समीकरण के बीज या हल निकालना। गणितसारसंग्रह का जो श्लोक (क्षेत्र-गणितव्यवहार अध्याय ९५$\frac{१}{२}$) पीछे दिया है, उसके अनुसार यदि कोई पूर्णांक इष्ट संख्या प है, तो बीज श्रुति (कर्ण) और इष्ट संख्या के वर्ग के जोड़ (अथवा अन्तर) आधे के वर्गमूल के बराबर होंगे—बीजे श्रुतीष्टकृत्योर्योगवियोगार्धमूले ते। यदि कर्ण 'ग' है और इष्ट संख्या 'प' तो बीज हैं—

$\sqrt{(ग + प^२)/२}$ और $\sqrt{(ग - प^२)/२}$ अतः हल हुआ—

$$प^२, \sqrt{ग^२ - प^४}, ग$$

दूसरे नियम के अनुसार (श्लोक ९७$\frac{१}{२}$) हल ये हैं—

$$प^२, \sqrt{ग^२ - प^२}, ग$$

[अथवा श्रुतीष्टकृत्योरन्तरपदमिष्टमपि च कोटिभुजे]

यह स्मरण रखना चाहिए कि जब तक प ठीक से न लिया जायगा, तब तक ये हल दोषपूर्ण होंगे, क्योंकि हो सकता है कि $\sqrt{ग^२ - प^२}$ और $\sqrt{ग^२ - प^४}$ पूर्णांक संख्या न दें।

तीसरा हल महावीर ने इस प्रकार दिया है[२२]—

यद्यत्क्षेत्रं जातं बीजैस्संस्थाप्य तस्य कर्णेन ।
इष्टं कर्णं विभजेल्लाभगुणाः कोटिदोः कर्णाः ॥१२२½॥

अर्थात् पूर्णांक समक्षेत्र त्रिभुज का हल है—

$$म^२ - न^२,\ २मन,\ म^२ + न^२$$

महावीर इसे $\frac{ग}{म^२ + न^२}$ की निष्पत्ति से इस प्रकार लिखता है—

$$\left(\frac{म^२ - न^२}{म^२ + न^२}\right) ग,\ \left(\frac{२मन}{म^२ + न^२}\right) ग,\ ग$$

यदि कर्ण ६५ हो, तो उसके अनुसार चार क्षेत्र (आयत) इस प्रकार बनेंगे—(३९,५२), (२५, ६०), (३३, ५६) और (१६, ६३) ।

यूरोप में यह विधि पीसा के लेओनार्डो फिबोनाक्की (Leonardo Fibonacci) ने सन् १२०२ ई० में और वीटा (Vieta) ने निकाली थी । इस विधि का आदिस्रोत शुल्ब ग्रन्थों में पाया जा सकता है । भास्कर द्वितीय के अनुसार यदि कर्ण ग हो, तो

$$\frac{२मग}{म^२ + १},\ म\left(\frac{२मग}{म^२ + १}\right) - ग,\ ग$$

अथवा $\frac{२मग}{म^२ + १},\ ग - \frac{२म}{२म^२ + १},\ ग$

ये हल होंगे । इनके अनुसार यदि कर्ण ८५ हो, तो दो समकोण त्रिभुज (५१, ६८, ८५) और (४०, ७५, ८५) होंगे ।

[किसी भी सम या विषम संख्या क को इस प्रकार व्यक्त करने के लिए कि $य^२ + क^२ = ल^२$, जिसमें य, क और ल तीनों पूर्ण संख्याएँ हैं, निम्नलिखित नियम सुविधाजनक है । पर यह केवल एक हल देता है, यद्यपि हल और भी हो सकते हैं—

यदि क विषम (odd) हो तो क, $\frac{क^२ - १}{२}$ और $\frac{क^२ - १}{२} + १$

और यदि क सम (even) हो तो क, $\left(\frac{क}{२}\right)^२ - १$, और $\left(\frac{क}{२}\right)^२ + १$

मान लो क = ९, तो $\frac{क^२ - १}{२} = ४०$, अतः हल (९, ४०, ४१) अर्थात्

(२२) Each of the various figures (rectangles) that can be formed from the elements are put down; by its diagonal is divided the given diagonal. The perpendicular, base and the diagonal (of this figure) multiplied by this quotient give rise to the corresponding sides of the figure, having the given hypotenuse.

$९^२ + ४०^२ = ४१^२$; यदि क = १२, तो $\left(\frac{क}{२}\right)^२ - १ = ३५$, अतः हल (१२, ३५, ३७) अर्थात् $१२^२ + ३५^२ = ३७^२$] ।

रेखागणित की परम्परा

इतिहास—भारत में रेखागणित की परम्परा ब्राह्मण और शुल्बसूत्रों के समय से आरम्भ हुई। जिस देश में अंकगणित और बीजगणित का जन्म हुआ, स्वभावतः उस देश में ही रेखागणित का भी जन्म हुआ होगा। ग्रीस और भारत इन दोनों में से जिसने प्रथम अंकगणित और बीजगणित का विकास किया होगा, उसने ही रेखागणित का भी, और यहीं से यह ज्ञान यूरोप भी पहुँचा[२३]। कुछ लोगों का विचार है कि मिस्र देश से रेखागणित का आरम्भ हुआ। नील नदी द्वारा उनके देशों के जो कगार टूटे थे, उनका क्षेत्रफल, घनफल आदि जानने के लिए उन्होंने रेखागणित का आश्रय लिया। ईसा से १७०० वर्ष पूर्व का इस सम्बन्ध का प्रमाण आहमीज (Ahmes) द्वारा लिखित ब्रिटिश म्यूजियम में विद्यमान है। शास्त्रीय पद्धति पर इसका विकास मिलेटस के थेलीज (Thales of Miletus ६४०-५४२ ई० से पू०) ने किया, और इसने यह बताया कि बराबर कोणोंवाले दो त्रिभुजों की भुजाएँ भी समानुपाती होती हैं। सन् ५८२ ई० से पू० के लगभग पाइथागोरस का जन्म हुआ। पाइथागोरस और उसके शिष्यों को वे सब प्रमेय अवगत थे, जिन्हें यूक्लिड ने अपनी प्रथम दो पुस्तकों में प्रतिपादित किया है। पाइथागोरस के नाम से समकोण

---

(२३) Though no date can be fixed to the commencement of geometry in India, yet the certainty which we now have that algebra and the decimal arithmetic have come from that quarter, the recorded visits of the earlier Greek philosophers to Hindustan (though we allow weight rather to the tendency to suppose that philosophers visited India than to the strength of the evidence that they actually did so) together with very striking proofs of originality which abound in the writings of that country, make it essential to consider the claim of the Hindus or of their predecessors to the invention of geometry. That is, waiving the question whether they were Hindus who invented decimal arithmetic and algebra, we advance that the people that first taught these branches of science is very likely to have been the first that taught geometry, and again seeing, that we certainly obtained the former two either from or at least through India, we think it highly probable that the earliest European geometry also came either from or through the same country.—vide the article on "Geometry"—Penny Cyclopaedia, Vol. XI.

त्रिभुज की भुजाओं के वर्गोंवाला सम्बन्ध अति विख्यात है। किओस के हिप्पोक्रेटीज (Hippocrates of Chios), टेरंटम के आर्किटास (Archytas of Tarentum), क्निडस के यूडोक्सस (Eudoxus of Cnidus), मीनेक्मस (Menaechmus), डाइनोस्ट्रेटस (Dainostratus) और निकोमिडीज (Nicomedes) इसी समय के बाद के प्रसिद्ध रेखागणितज्ञ थे और इनके बाद यूक्लिड (३०० ई० से पू०) हुआ, जिसका रेखागणित किसी-न-किसी रूप में आज तक विद्यमान है। सीराक्यूज के आर्कमिडीज (Archimedes of Syracuse २८७-२१२ ई० से पू०), और परगा के एपोलोनियस (Apollonius of Perga सन् २६०-२०० ई० से पू०), एलमजेस्ट (Almagest) के रचयिता टॉलेमी (Ptolemy), हीरो (Hero) और पेपस (Pappus) अन्य प्रसिद्ध प्राचीन रेखा-गणितज्ञ हो गये हैं।

शुल्बसाहित्य—भारतवर्ष में शुल्ब-सूत्र-साहित्य बहुत पुराना है। कैण्टर (Cantor) के अनुसार शुल्ब-सूत्रों के समय में ही यूनानियों और भारतीयों में आदान-प्रदान आरम्भ हो गया था। कैण्टर का कहना है कि शुल्ब रेखागणित पर हीरो (Hero, सन् २१५ ई० से पू०) की एलेक्जेण्ड्रिया वाले रेखागणित का स्पष्ट प्रभाव है। कैण्टर के हिसाब से शुल्ब-सूत्र ई० से १०० वर्ष पूर्व के बाद के हैं। पर मेकडोनल ने अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में इस बात का विरोध किया है। उसका कहना है कि शुल्ब-सूत्र इस काल से कहीं पहले के हैं, ये श्रौतसूत्रों के अंग हैं, और उनमें प्रतिपादित रेखागणित ब्राह्मणधर्म का विशेष अंग था। यजुर्वेद के गद्यभाग में, और ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञवेदी बनाने में इससे सहायता ली जाती थी। इन वेदियों की रचना में थोड़ी-सी भी भूल का हो जाना बड़ा अशुभ और अकल्याणकर समझा जाता था।[२४] थीबो ने भी इसी मत का समर्थन किया है कि बीजगणित का ज्योतिष और रेखागणित में सर्वप्रथम प्रयोग भारतीयों ने ही किया है[२५]। थीबो ने यह भी लिखा है कि जो प्रमेय हमने पाइथागोरस के नाम पर प्रचलित कर रक्खा है, वह प्राचीन भारतीय आचार्यों को मालूम था। तैत्तिरीय

(२४) The Sulva Sutras are, however, probably far earlier tl an that date (100 B. C.), for they from an integral poition of the Srauta Sutras and their geometry is a part of the Brahmanical theology, having taken its rise in India fiom practical motives as much as the science of grammar. The prose parts of the Yajurvedas and the Brahmanas constantly speak of the arrangement of the sacrificial ground and the construction of altars according to very strict rules, the slightest deviation from which might cause the greatest disaster.—Macdonell, "History of Sanskrit Literature", p. 424.

(२५) Dr. G. Thibaut on the Sulva Sutras; vide, Journal of the Asiatic Society of Bengal, 1875, p. 228.

संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ, बोधायन और आपस्तम्ब शुल्बसूत्र इस देश के अति प्राचीन ग्रन्थ हैं, जिनमें वर्ग, आयत आदि के नियम और उनके बराबर के क्षेत्रों के अन्य क्षेत्र खींचने के विधान दिये हुए हैं।

जगन्नाथकृत रेखागणित—यूक्लिड के रेखागणित का संस्कृत में सबसे पुराना अनुवाद सम्राट् जगन्नाथकृत है जो द्वितीय सवाई जयसिंह के समय में थे[२६]। इसमें यूक्लिड के १–६ तक के भाग दिये हैं। इसका एक संस्करण स्वर्गीय श्री हरिलाल हर्षद्राय ध्रुव ने संपादित किया और श्री कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी ने संशोधित किया और सन् १९०१ में बम्बई के गवर्नमेंट सेण्ट्रल बुकडिपो से अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ। सवाई जयसिंह आमेर के राजा थे, और सन् १७२८ ई० में इन्होंने जयपुर नगर बसाया, और अनेक वेधशालाएँ निर्मित कराईं। जयसिंह को भी रेखागणित में रुचि थी, और कई प्रमेयों की उसने स्वयं नवीन सिद्धियाँ दीं। सम्राट् जगन्नाथ ने अपने इस रेखागणित के लिखने में अरबी भाषा के किसी ग्रन्थ से सहायता ली थी जैसा कि सुधाकर द्विवेदीजी ने 'गणकतरंगिणी' में लिखा है—'अरबी भाषातः संस्कृते जगन्नाथकृतो युक्लेदाख्यग्रन्थस्याप्यनुवादो रेखागणितनाम्ना प्रसिद्धोऽस्ति यत्र पञ्चादशाध्यायाः सन्ति।' सम्राट् जगन्नाथ ने सिद्धान्तसम्राट् जो ग्रन्थ लिखा था, वह भी अरबी से अनूदित था—

अरबी भाषया ग्रन्थो मिजास्ती नामकः स्थितः।
गणकानां सुबोधाय गीर्वाण्या प्रकटीकृतः॥

ये अरबी ग्रन्थ संभवतः नसीर-एद्दीन (पूरा नाम नसीर एद्दीन मोहम्मद बेन हुसीन अल थुस्सी) के थे, जो फारस का प्रसिद्ध ज्योतिषी था और जो सन् १२७६ ई० में मरा।

सम्राट् जगन्नाथ को सवाई जयसिंहजी दक्षिण भारत से लाये थे, और इन्होंने अरबी और फारसी में भी दक्षता प्राप्त कर ली। अलमजस्ती का अनुवाद इन्होंने 'सिद्धान्तसम्राज' के नाम से किया जिसमें १३ अध्याय, १४१ प्रकरण, और १९६ क्षेत्र हैं। जगन्नाथ ने इसमें गद्य-पद्य दोनों का सहारा लिया है, और विषयप्रतिपादन में बीच-बीच में मिर्जा उलूक बेग, मोहम्मदशाह बादशाह एवं राजा जयसिंह के भी गणित-सम्बन्धी विचार दिये हैं।[२७]

जगन्नाथ सम्राट् के रेखागणित का नमूना निम्न लिखित उद्धरणों से मिल जायगा—

१. तत्र यावत्यो रेखा एकरेखायाः समानान्तरा भवन्ति ता रेखाः परस्परं समानान्तरा एव भविष्यन्ति।

---

(२६) तस्य श्री जयसिंहस्य तुष्ट्यै रचयति स्फुटम्। द्विजः सम्राडजगन्नाथो रेखागणितमुत्तमम् ॥६॥—रेखागणित—सम्राट् जगन्नाथकृत।

(२७) जैसे—(१) पुनः समरकंदनगरेऽक्षांशैः ३९।३७ युते उलुक्‌बेगेन वेधेनोपलब्धा क्रान्तिः। २३।३०।१७

(२) अत्रोपपत्तिः श्री महाराजाधिराज जयसिंह देवैर्निष्कासितास्ति सा यथा।

(३) फिरंगदेशे श्री महाराजाधिराजैर्महंमद शरीफ नामा यवनः प्रेषितः स्थितः तेन महैलद्वीपे गत्वाऽक्षांशा ४।१२ निश्चितास्ते दक्षिणाः॥

२. यस्य त्रिभुजस्य न्यूनकोणोऽस्ति तत्कोणसन्मुखभुजवर्ग इतर भुजवर्गयोगान्न्यूनो भवति ।

३. यद्वृत्तद्वयमेकस्मिश्चिह्ने ऽन्तर्मिलति तद्वृत्तद्वयस्य केन्द्रमेकत्र न भवति ।

४. अथ द्वादशं क्षेत्रम् । तत्र वृत्तोपरि पञ्चसमभुजसमानकोणं क्षेत्रं कर्त्तुमिच्छास्ति ।

५. अथ पञ्चदशं क्षेत्रम् । वृत्तस्यान्तः समषड्भुजं क्षेत्रं निष्कासनीयमिति चिकीर्षास्ति ।

ये उद्धरण जगन्नाथ सम्राट् के रेखागणित से लिये गये हैं ।

शुल्बसूत्र—यहाँ इतना अवसर नहीं है कि शुल्बसूत्रों में प्रतिपादित रेखागणित का विस्तार से वर्णन दिया जाय । जिनको इसके प्रति रुचि हो वे 'आपस्तम्ब-शुल्बसूत्रम्—कपर्दिभाष्येण करविन्द-सुन्दरराजव्याख्याभ्यां च सहितम्', जो मैसूर, गवर्नमेंट ब्रांच प्रेस से प्रकाशित हुआ है, देखें[२८] । डा० विभूतिभूषण दत्त ने भी शुल्ब गणित के सम्बन्ध में पुस्तक लिखी है । आपस्तम्ब में पहले तो विहारयोग-व्याख्यान-प्रतिज्ञा, प्रमाणशब्दार्थनिर्णय, चतुरश्रावान्तर भेदों के साधन, चतुरश्रमण्डल-साधनोपाय और मण्डल में चतुरश्रसाधनोपाय दिये हैं । बाद को दक्षिणाग्नि आयतन-विहारयोग और फिर दार्शिकवेदि, सौमिकवेदि, महावेदि, सौत्रामणीवेदि, आश्वमेधिक-वेदि, निरूढपशुबंधवेदि, रथपरिमाणवेदि, सौमिकोत्तरवेदि आदि के बनाने की विधियाँ दी हैं ।

भारत में ज्योतिष की परम्परा

प्रारम्भ—ज्योतिषविज्ञान का जितना विकास इस देश में हुआ, उतना अब तक किसी प्राच्य देश में नहीं । दूरदर्शक यन्त्र के आविष्कार ने पाश्चात्य प्रणाली पर आधुनिक युग में इस ज्ञान का सर्वतोमुखी विस्तार करने में बड़ी सहायता दी ।

(२८) हम कुछ आपस्तम्ब शुल्बसूत्र यहाँ देंगे—

विहारयोगान्व्याख्यास्यामः ॥१॥

यावदायामं प्रमाणम् ॥२॥

तदर्धमभ्यस्याऽपरस्मिंस्तृतीये षड्भागोने लक्षणं करोति ॥३॥

पृष्ठ्यान्तयोरन्तौ नियम्य लक्षणेन दक्षिणापायम्य निमित्तं करोति ॥४॥

एवमुत्तरतो विपर्यस्येतरतस्स समाधिः ॥५॥

तन्निमित्तो निर्ह्रासो विवृद्धिर्वा ॥६॥

आयामं वाभ्यस्यागन्तु चतुर्थमायामस्याक्षणया रज्जुस्तिर्यङ्मानीशेषः । व्याख्यातं विहरणम् ॥७॥

दीर्घस्याक्ष्णयारज्जुः पार्श्वमानीतिर्यङ्मानी च यत्पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोति । ताभिर्ज्ञेयाभिरुक्तं विहरणम् ॥

चतुरश्रस्याक्ष्णयारज्जुर्द्विस्तावतीं भूमिं करोति । समस्यद्विकरणी । प्रमाणं तृतीयेन वर्धयेत्तच्चतुर्थेनात्मचतुस्त्रिंशोनेन सविशेषः ॥

कहा जाता है कि सूर्य स्वयं इस ज्ञान के प्रथम प्रवर्त्तक हैं[२९]। सूर्य का दिन-रात (अहोरात्र) और ऋतुओं के साथ सम्बन्ध है। चन्द्र और तारों की ओर भी मनुष्य की दृष्टि पहुँची, और मनुष्य ने चन्द्रमा का घटना-बढ़ना और इसके स्थान का परिवर्त्तन होना भी देखा। चन्द्रमा के आधार पर मास या चन्द्रमास की कल्पना भी अति प्राचीन काल में ही आरम्भ हो गई होगी। गरमी, वर्षा और जाड़े के चक्र ने वर्ष की कल्पना भी प्रदान की, और १ वर्ष में लगभग १२ बार पूर्णिमा या अमावस्या के आने के कारण १२ मास भी लोगों को अवगत हो गये।

एक वर्षा के बाद दूसरी वर्षा १२ मास के बाद आती है, पर लोगों ने यह भी देखा कि कभी-कभी दो वर्षाओं के बीच में १३ या १४ मासों का अन्तर पड़ जाता है। सोचते-सोचते यह कल्पना आरम्भ हुई कि यदि प्रति तीसरे वर्ष, वर्ष का मान तेरह महीनों का मान लिया जाय तो काम चल सकता है। इस तेरहवें महीने का नाम 'अधिमास' आरम्भ हुआ। ऋतुओं के और भी सूक्ष्म विचार ने पाँच वर्षों में दो अधिमासों की कल्पना को प्रश्रय दिया। वेदांग ज्योतिष में बताया गया है कि पाँच संवत्सरों का एक युग होता है जिसका आरम्भ माघ मास से होता है, और तीस महीनों के बाद श्रावण का महीना दुहरा दिया जाता है। इस प्रकार ६२ मासों का पाँच वर्ष या एक युग माना जाने लगा।

अधिमासों के ज्ञान को वेदों से प्रेरणा प्राप्त हुई। यजुर्वेद में अधिमासों के नाम संसर्प और मलिम्लुच दिये हैं। प्राचीन काल में मासों के नाम चैत्र, वैशाख आदि न होकर मधु, माधव आदि थे जो ऋतुओं के सूचक थे। वैदिक काल में ही आकाश के उन २८ नक्षत्रों का पूरा ज्ञान हो चुका था जिनमें चलता हुआ चन्द्रमा २७ दिन और ८ घण्टे में एक फेरा कर लेता है। सूर्य की गति का भी सूक्ष्म ज्ञान लोगों को था। उत्तरायण और दक्षिणायन गतियों का उल्लेख तो वैदिक कालीन समस्त साहित्य में पाया जाता है। वेदांग ज्योतिष में बतलाया गया है कि धनिष्ठा नक्षत्र के आदि पर जब सूर्य्य रहता है, तब उत्तरायण आरम्भ होता है; परन्तु मैत्रायिणी उपनिषद् में बतलाया गया है कि जब सूर्य्य मघा नक्षत्र के आरम्भ में होता है तब दक्षिणायन आरम्भ होता है और जब धनिष्ठा के मध्य में होता है तब उत्तरायण आरम्भ होता है[३०]। आरम्भ में २८ नक्षत्रों के नाम दिये गये[३१], पर बाद को अभिजित का नाम

---

(२९) श्रृणुष्वैकमनाः पूर्वं यदुक्तं ज्ञानमुत्तमम्।
युगे युगे महर्षीणां स्वयमेव विवस्वता ॥८॥
शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत् पूर्वं प्राह भास्करः।
युगानां परिवर्त्तेन कालभेदोऽत्र केवलः ॥९॥ (सूर्य्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार)

(३०) मघाद्यं श्रविष्ठार्द्धमाग्नेयं क्रमेणोत्क्रमेण सार्पाद्यं श्रविष्ठार्द्धान्तं सौम्य। ६।१४।

(३१) अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ, उत्तराषाढ, अभिजित, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद और रेवती।

निकाल दिया गया। चन्द्रमा इन क्षेत्रों का फेरा २७ दिन ८ घंटे में करता है। इस प्रकार दक्षप्रजापति की २७ कन्याओं और चन्द्रमा के विवाह की कथा आरंभ हुई होगी। इसी नक्षत्रचक्र को सूर्य्य १२ महीनों या ३६५ दिनों में पूरा करता प्रतीत होता है। इसलिए सूर्य्य एक नक्षत्र में १३ या १४ दिन तक रहता है। ऋतुओं का बोध इसी सूर्य्य के नक्षत्रों से ही किया जाता है। कृषक लोगों की यह कहावत प्रसिद्ध है—"अद्रा धान पुनर्वसु जोंधरो, चढ़त चिरैया बोये बजरो;" हथिया में चना, चित्रा में गेहूँ, मटर और स्वाती में जौ बोने की परिपाटी है। पुष्य नक्षत्र को चिरैया कहते हैं। घाघ और भड्डरी की कहावतों में ऐसी बहुत बातें दी गई हैं।

जिस समय सूर्य्य, पृथ्वी और चन्द्रमा आकाश में एक सीध में रहते हैं, उस समय अमावस्या होती है, जब चन्द्रमा सूर्य्य से १२ अंश आगे बढ़ जाता है तब प्रतिपदा पूरी हो जाती है, और इसी प्रकार क्रमशः अन्य तिथियाँ भी होती हैं। यह गणना हमारे देश की अति प्राचीन परम्परा है। यदि सूर्य्य और चन्द्रमा की गतियाँ समान होतीं तो प्रत्येक तिथि की अवधि भी समान होती; परन्तु सूर्य्य और चन्द्रमा की गतियाँ समान नहीं हैं, इसलिए तिथियाँ भी घटती-बढ़ती रहती हैं। कभी कोई तिथि प्रातः-काल में समाप्त होती है, तो कोई दोपहर को, तो कोई रात को। भारतीय ज्योतिषियों ने इसका अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। तिथियों का कभी-कभी क्षय भी हो जाता है, और पक्ष कभी १३ या १४ दिन के और कभी १६ दिन के भी हो जाते हैं। साधारणतया सूर्य्योदय-काल में जो तिथि होती है, वही दिनभर मानी जाती है; पर सूर्योदय-काल भिन्न-भिन्न समय पर होता है। अतः, दो नगरों में पृथक्-पृथक् नाम भी तिथियों के हो सकते हैं। इस असुविधा को दूर करने के लिए बहुधा आजकल सौर तिथियों का प्रयोग किया जाता है, न कि चान्द्र तिथियों का।

जिस प्रकार नक्षत्रचक्र २७ भागों में बाँटा गया है, उसी प्रकार वह १२ भागों में भी बाँटा गया है जिसे राशि कहते हैं[३२]। एक राशि सवा दो नक्षत्र या ३० अंश के समान होती है। जब सूर्य्य मेष राशि में प्रवेश करता है, तब मेष संक्रान्ति होती है (आजकल १३ या १४ अप्रैल को)। संक्रान्ति के बाद जो सूर्य्योदय होता है, उसी से पहली सौर तिथि चलती है। जब मकर संक्रान्ति लगती है, तब सौर माघ का प्रारम्भ होता है। मद्रास में संक्रान्तियों के हिसाब से ही महीने की गणना की जाती है। आज से ३००० वर्ष पूर्व महीनों के चैत्र, वैशाख आदि जो नाम आरम्भ हुए, ये चान्द्र मास हैं, अर्थात्, जिस मास की पूर्णिमा को चन्द्रमा चित्रा या स्वाती नक्षत्र में होता है, उस मास को चैत्र मास कहते हैं[३३]। इसी प्रकार अन्य

(३२) १२ राशियाँ—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन।

(३३) अश्विनी के नाम पर आश्विन मास (क्वार), कृत्तिका के नाम पर कार्त्तिक, मृगशिरा के नाम पर मार्गशीर्ष (अगहन), पुष्य पर पौष, मघा पर माघ, फाल्गुनी पर फाल्गुन, चित्रा पर चैत्र, विशाखा पर वैशाख, ज्येष्ठा पर ज्येष्ठ, आषाढ़ पर आषाढ़, श्रवण पर श्रावण, भाद्रपद पर भाद्र—इस प्रकार १२ मासों के नाम हुए।

मासों के नाम भी रखे गये। रात को आकाश को देखकर बताया जा सकता है कि कौन-सा महीना है; उदाहरणतः कार्तिक मास में कृत्तिका या रोहिणी नक्षत्र सूर्य्यास्त के बाद पूर्व क्षितिज में उदय होता है और सारी रात आकाश में घूमता हुआ प्रातःकाल पश्चिम क्षितिज में अस्त हो जाता है। अगहन मास में मृगशिरा या आर्द्रा नक्षत्र इसी प्रकार चक्कर लगाता है इत्यादि। अन्य किसी देश के महीनों के नाम में यह विशेषता नहीं है।

ऋतुओं और महीनों का सम्बन्ध—बारह चान्द्रमासों में १२ × २९'५३०६ अर्थात् ३५४'३६७ दिन होते हैं, और चन्द्रमा के १३ चक्कर १३ × २७'३२१७ दिन अर्थात् ३५५'१८२१ दिन में होते हैं। इसलिए जब दूसरी दिवाली आवेगी तब अमावस के दिन सूर्य्य और चन्द्रमा दोनों स्वाती में न रहकर चित्रा में (एक नक्षत्र पीछे) रहेंगे। इसी प्रकार पूर्णिमा कृत्तिका में न होकर भरणी में होगी। दो वर्ष में यह अन्तर और बढ़ जायगा। यह तो हुई तिथि और नक्षत्रों की बात। ऋतुओं के क्रम में भी अन्तर पड़ता रहेगा; क्योंकि ऋतुओं का क्रम सूर्य्य की गति पर आश्रित है और सूर्य्य का चक्कर लगभग ३६५ दिन ६ घण्टे में होता है; पर १२ चान्द्र मासों का वर्ष ३५४ दिन ९ घण्टे में ही पूरा होता है—अर्थात् ऋतुओं का क्रम प्रति वर्ष ११ दिन के लगभग पिछड़ जाता है। इसीलिए प्रति तीसरे वर्ष जब यह अन्तर पूरे एक महीने का हो जाता है, तब एक महीना दुहरा दिया जाता है जिसे अधिमास, मलमास या लौंद का महीना कहते हैं। मलमास की सहायता से न केवल ऋतुओं का क्रम ही ठीक किया जाता है, वरन् नक्षत्रों का क्रम भी ठीक कर दिया जाता है। भारतीय ज्योतिष की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

पर एक और कारण है जिससे हमारे महीनों और ऋतुओं का सम्बन्ध धीरे-धीरे टूट रहा है। आकाश के जिस मार्ग से सूर्य्य वर्ष भर में एक चक्कर पूरा करता हुआ दीख पड़ता है, उस पर चार स्थान बड़े महत्त्व के हैं, जहाँ सूर्य्य प्रायः तीन-तीन महीने पर पहुँचता है। पहला स्थान वह है जहाँ पहुँचने पर सूर्य्य सबसे दक्खिन दीख पड़ता है। सारे उत्तरी गोलार्द्ध में इस समय दिनमान सबसे छोटा और रात्रि सबसे बड़ी होती है। इस स्थान को **'उत्तरायण-बिन्दु'** कहेंगे। आजकल उत्तरायण-बिन्दु मूल नक्षत्र के सातवें अंश पर या २३ दिसम्बर को पड़ता है। इस स्थान से ६ महीने तक सूर्य्य बराबर उत्तर की ओर बढ़ता जाता है। तीन मास के बाद २१ मार्च को सूर्य्य अपने मार्ग के एक और विशेष स्थान पर पहुँच जाता है जिसे **'विषुवत् बिन्दु'** या **'विषुव-सम्पात'** कहते हैं, अब दिन-रात बराबर होते हैं (आजकल विषुव-सम्पात उत्तराभाद्रपद नक्षत्र के चौथे अंश पर है)। २२ जून को इसी प्रकार **'दक्षिणायन-बिन्दु'** पर सूर्य्य आता है (आजकल यह स्थान आर्द्रा नक्षत्र के ठीक प्रारम्भ में है)। इसके बाद चौथे बिन्दु को **'शरद-सम्पात'** कहते हैं जो तीन महीने बाद २३ सितम्बर को आता है (यह स्थान आजकल उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के दश अंश पर है)। तीन महीने के बाद सूर्य्य फिर उत्तरायण-





चित्र ३—सन् २००–३०० ई० का बौद्ध-कालीन ताँबे का एक लोटा, जिसपर अंकित चित्र का विस्तार नीचेवाले चित्र में है। (पृष्ठ २१०)

बिन्दु पर पहुँच जाता है। यह चक्कर ३६५ दिन, ५ घण्टा, ४८ मिनट में पूरा होता है।

यह उत्तरायण, दक्षिणायन और सम्पात-बिन्दु अपने स्थान पर स्थिर नहीं हैं। ये ७२ वर्ष में १ अंश के बराबर मन्द गति से पीछे की ओर खिसक रहे हैं। इस गति से ९५० वर्ष में अयन-बिन्दु और सम्पात-बिन्दु एक नक्षत्र पीछे हट जाएँगे। सौभाग्य की बात है कि इस बात का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रन्थों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और वेदांगज्योतिष में एवं वराहमिहिर की 'पंचसिद्धान्तिका' में स्पष्ट रूप से है कि उनके समय में उत्तरायण या दक्षिणायन का आरम्भ किस नक्षत्र पर होता था।

(क) मैत्रायिणी के आधार पर उत्तरायण का आरम्भ 'धनिष्ठा' नक्षत्र के मध्य में और दक्षिणायन का आरम्भ 'मघा' नक्षत्र के आदि में होता था। आजकल दक्षिणायन का आरम्भ 'आर्द्रा' के आदि में है। दोनों के बीच में चार नक्षत्र का अन्तर है अर्थात् ९५० × ४ = ३८०० वर्ष पहले की यह घटना है।

(ख) वेदांगज्योतिष में 'धनिष्ठा' के आदि में उत्तरायण का आरम्भ होता था[३४]। आजकल 'मूल' नक्षत्र के मध्य में होता है। यह अन्तर ३½ नक्षत्रों का है, इसलिए वेदांगज्योतिष ९५० × ३·५ = ३३२५ वर्ष पुराना है।

इसी प्रकार की गणना के आधार पर 'वराहमिहिर' का काल ५६२ विक्रम संवत् ठहरता है।

हमारा ज्योतिष साहित्य—भारत ज्योतिष साहित्य की सबसे पुरानी प्राप्त कृति **'वेदांगज्योतिष'** है। यह दो खंडों में मिलती है। एक का नाम है—**'आर्चज्योतिष'** अर्थात् ऋग् की ज्योतिष, और दूसरे का **'याजुषज्योतिष'**। पहली में ३६ और दूसरी में ४३ श्लोक हैं। बहुत से श्लोक दोनों में समान हैं। 'लगधमुनि' इनके रचयिता माने गये हैं (कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः—आर्चज्यो० २)। यज्ञ की सुविधा की दृष्टि से 'लगध' ने इन श्लोकों का चयन किया था—

ज्योतिषामयनं पुण्यं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
सम्मतं ब्राह्मणेन्द्राणां यज्ञकालार्थसिद्धये ॥ (याजुष ज्यो० २)

वेदांगज्योतिष पर सोमाकर की टीका भी प्राप्त है। वेदांगज्योतिष की गणना बहुत स्थूल मानी जाती रही है, इसलिए वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त ने इस रचना को महत्त्व नहीं दिया। आधुनिक युग में सर विलियम जोन्स, वेबर, ह्विटनी, कोलब्रुक, थीबो आदि लेखकों का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ। वेदांगज्योतिष में जो अंक दिये हैं, उसके आधार पर इसकी रचना ऐसे स्थान पर की गई प्रतीत होती है जिसका अक्षांश ३५ अंश के लगभग रहा होगा (कश्मीर के श्रीनगर से भी उत्तर काबुल के आसपास)। इस ग्रन्थ में २७ नक्षत्रों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

---

(३४) प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुभौ।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा ॥ याजुषज्योतिष,७; आर्चज्योतिष,६।

जौद्राग: खे श्वे ह्रीः रो षा चिन्मूषक्ण्यः सूमाधानः ।
रेमृघास्वापोजः कृष्योह ज्येष्ठा इत्यृक्षालिंगैः ॥ याजुष० १८ ॥

जौ=अश्वयुजौ (अश्विनौ), द्रा=आर्द्रा, गः=भगः, खे=विशाखे, श्वे=विश्वेदेवा, हिः=अहिर्बुध्न्य, रो=रोहिणी, षा=आश्लेषा, चित्=चित्रा, मू=मूल, षक्=शतभिषक्, ण्यः=भरण्यः, सू=पुनर्वसू, मा=अर्यमा, धा=अनुराधा, नः=श्रवणः, रे=रेवती, मृ=मृगशिरा, घा=मघा, स्वा=स्वाती, पः=अपः, अजः=अज एकपाद, कृ=कृत्तिका, ष्यः=पुष्यः, ह=हस्त, ज्ये=ज्येष्ठा, ष्ठा=श्रविष्ठा ।

नक्षत्रों के साथ उनके देवताओं के नाम लेने का भी विधान इस ज्योतिष में दिया है ।

वेदांगज्योतिष के बाद लगभग दो हजार वर्ष तक इस देश में कोई भी ज्योतिष-ग्रन्थ क्यों नहीं लिखा गया, यह बात आश्चर्य की है । जान पड़ता है कि बौद्धधर्म के प्रचार के साथ-साथ जब वैदिक यज्ञ-यागादिक-कर्मों में शिथिलता आ गई, तब ज्योतिष-विद्या के प्रति लोगों की रुचि भी कम हो गई । बौद्धधर्म का ह्रास होते ही गुप्तकाल में इस शास्त्र को फिर प्रश्रय मिला और इसी समय यूनानियों का सम्पर्क भी इस देश से हुआ । यवन-ज्योतिष और आर्य-ज्योतिष दोनों की मैत्री ने ज्योतिषशास्त्र का अभूतपूर्व विकास किया । फलतः विक्रम की छठी शताब्दी में ज्योतिष के कई आचार्य उत्पन्न हुए ।

प्रथम आर्यभट—इन आचार्यों में सर्वप्रमुख 'प्रथम आर्यभट' थे, जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'आर्यभटीय' में अपना जन्मकाल कलियुग संवत् ३५७७ बतलाया है और ग्रहों की गणना के लिए ३६०० कलि-संवत् निश्चय किया । इन्होंने अपना ग्रन्थ आर्यभटीय 'कुसुमपुर' में लिखा जिसे आजकल 'पटना' कहते हैं[३५] । आर्यभट की आर्यभटीय में कुल १२१ श्लोक हैं जो चार खण्डों में विभाजित किये गये हैं—गीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद और गोलपाद । गीतिकापाद सबसे छोटा—केवल ११ श्लोकों का है; परन्तु इसमें इतनी सामग्री भर दी गई है जितनी सूर्यसिद्धान्त के पूरे मध्यमाधिकार और कुछ स्पष्टाधिकार में आई है । इसके लिए इन्होंने अक्षरों द्वारा संक्षेप में संख्या लिखने की एक अनोखी रीति का उपयोग किया है[३६] ।

इकाई, सैकड़ा, दस हजार, दस लाख आदि विषम स्थानों को वर्ग स्थान और दहाई, हजार, लाख आदि सम स्थानों को अवर्ग स्थान कहते हैं (१, १००, १०००० आदि का वर्गमूल पूर्णांकों में निकलता है, इसलिए) । वर्णमाला के ३३ व्यंजन दो भागों में बाँटे गये हैं—वर्ग और अवर्ग । क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग और प वर्ग

---

(३५) ब्रह्मकुशशिबुधभृगुरविकुजगुरुकोणभगणान्नमस्कृत्य ।
आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम् ॥ १ ॥ (गणितपाद)

(३६) वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात्ङ्मौ यः ।
खद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा ॥

के २५ अक्षर वर्ग हैं और शेष ८ अक्षर (य, र, ल, व, श, ष, स और ह) अवर्ग हैं। १६ स्वरों में नव स्वर अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ और औ, ये वर्ग और अवर्ग स्थानों को प्रकट करते हैं जिन्हें लिखने के लिए ९×२=१८ शून्यों का प्रयोग होता है।

अ=१, इ=१००, उ=$१००^{२}$, ऋ=$१००^{३}$, ऌ=$१००^{४}$..., ओ=$१००^{७}$, औ=$१००^{८}$

क=१	च=६	ट=११	त=१६	प=२१
ख=२	छ=७	ठ=१२	थ=१७	फ=२२
ग=३	ज=८	ड=१३	द=१८	ब=२३
घ=४	झ=९	ढ=१४	ध=१९	भ=२४
ङ=५	ञ=१०	ण=१५	न=२०	म=२५

य=३०, र=४०, ल=५०, व=६०, श=७०, ष=८०, स=९०, ह=१००। इस पद्धति पर ख्युघृ=ख्यु+घृ=खु+यु +घृ

खु= २×$१००^{२}$ = २,००००
यु=३०×$१००^{२}$ = ३०,००००
घृ= ४×$१००^{३}$ = ४००,००००
ख्युघृ= ४३२,००००

आर्यभट ने अपने गणितपाद में अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित के बहुत से कठिन प्रश्नों को ३० श्लोकों में भर दिया है। एक श्लोक में तो श्रेढी गणित के पाँच नियम आ गये हैं। एक श्लोक में संख्या लिखने की दशमलव-पद्धति की इकाइयों के नाम हैं। आगे के श्लोकों में वर्ग, वर्गक्षेत्र, घन, घनफल, वर्गमूल, त्रिभुज का क्षेत्रफल, त्रिभुजाकार शंकु का घनफल, वृत्त का क्षेत्रफल, गोल का घनफल, विषम चतुर्भुज क्षेत्र के कर्णों के सम्पात से भुज की दूरी और क्षेत्रफल तथा सब प्रकार के क्षेत्रों की मध्यम लम्बाई-चौड़ाई जान कर क्षेत्रफल जानने के साधारण नियम दिये गये हैं। एक श्लोक में यह बताया है कि वृत्त का व्यास २०००० हो तो उसकी परिधि ६२८३२ होती है (अर्थात् π पाई का मूल्य = ३·१४१६ है)। दो श्लोकों में ज्या-खंडों के जानने की व्युत्पत्ति बताई है जिससे सिद्ध होता है कि ज्याओं की सारिणी (sine table) आर्यभट ने कैसे बनाई थी।

इसके आगे आर्यभट ने वृत्त, त्रिभुज, चतुर्भुज खींचने की रीति, समतल धरातल के परखने की रीति, लम्बक (साहुल) प्रयोग करने की रीति, शंकु और छाया से छायाकर्ण जानने की रीति, किसी दीपक और उससे बनी हुई शंकु की छाया से दीपक की ऊँचाई और दूरी जानने की रीति, एक ही रेखा पर स्थित दीपक और दो शंकुओं के संबंध में प्रश्न की गणना करने की रीति, समकोण त्रिभुज के भुजाओं और कर्ण के वर्गों का सम्बन्ध (पाइथागोरस थ्योरम), वृत्त की जीवा और शरों का सम्बन्ध, दो काटते हुए वृत्तों के सामान्य खण्ड और शरों का सम्बन्ध, दो श्लोकों में श्रेढी गणित के कई नियम, एक श्लोक में एक-एक बढ़ती हुई संख्याओं के वर्गों और घनों का योगफल जानने का नियम, $(क + ख)^{२} - (क^{२} + ख^{२}) = २ क ख$, दो

राशियों का गुणनफल और अन्तर जानकर राशियों को अलग-अलग करने की रीति, ब्याज की दर जानने का एक कठिन प्रश्न, जो वर्गसमीकरण का उदाहरण है, त्रैराशिक का नियम, भिन्न के हरों को सामान्य हर में बदलने की रीति, भिन्नों को गुणा करने और भाग देने की रीति, बीजगणित के कुछ कठिन समीकरणों को सिद्ध करने के नियम, दो ग्रहों का युतिकाल जानने के नियम और कुट्टक नियम (solution of indeterminate equation) बताये गये हैं।

कालक्रियापाद में ज्योतिष सम्बन्धी बातें हैं। पहले दो श्लोकों में काल और कोण की इकाइयों का सम्बन्ध बताया गया है। आगे के ६ श्लोकों में अनेक प्रकार के मासों, वर्षों और युगों का सम्बन्ध दिया है। आर्यभट ने ब्रह्मा का दिन या कल्प १००८ महायुगों का बताया है जो मनुस्मृति के वर्णन के प्रतिकूल है (मनु ने एक कल्प १००० महायुगों का बताया है)। नवें श्लोक में बताया गया है कि युग का प्रथमार्द्ध उत्सर्पिणी और उत्तरार्ध अवसर्पिणी काल है और इनका विचार चन्द्रोच्च से किया जाता है (इसका अभिप्राय ठीक समझ में नहीं आता)। इसके आगे बतलाया गया है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से युग, वर्ष, मास और दिवस की गणना आरम्भ होती है। आगे के २० श्लोकों में ग्रहों की मध्यम और स्पष्ट गति सम्बन्धी नियम हैं।

आर्यभटीय के गोलपाद में ५० श्लोक हैं। पहले श्लोक से प्रकट होता है कि क्रान्तिवृत्त के जिस बिन्दु को आर्यभट ने मेषादि माना है, वह वसंत-संपातबिन्दु था ; क्योंकि वह कहते हैं कि मेष के आदि से कन्या के अन्त तक अपमण्डल (क्रान्तिवृत्त) उत्तर की ओर हटा रहता है, और तुला के आदि से मीन के अन्त तक दक्षिण की ओर। आगे के दो श्लोकों में बताया है कि ग्रहों के पात और पृथ्वी की छाया क्रान्तिवृत्त पर भ्रमण करते हैं। चौथे श्लोक में बताया है, कि सूर्य से कितने अन्तर पर चन्द्रमा, मंगल, बुध आदि दृश्य होते हैं। पाँचवाँ श्लोक बताता है कि पृथ्वी, ग्रहों और नक्षत्रों का आधा गोल अपनी ही छाया से अप्रकाशित है (नक्षत्रों के सम्बन्ध में यह बात ठीक नहीं मानी जा सकती)। गोलपाद के आठवें श्लोक में यह विचित्र बात बताई है कि ब्रह्मा के दिन में पृथ्वी की गोलाई एक योजन बढ़ जाती है, और रात्रि में एक योजन घट जाती है। नवें श्लोक में यह बताया है कि जैसे चलती नाव पर बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर पेड़ों को उलटी दिशा में चलता देखता है, वैसे ही लंका (पृथ्वी की विषुवत् रेखा) से स्थिर तारे पश्चिम की ओर घूमते दिखाई देते हैं। ११ वें श्लोक में सुमेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव) का आकार और १२ वें श्लोक में सुमेरु और बड़वामुख (दक्षिणी ध्रुव) की स्थिति बतलाई है। १४ वें श्लोक में लंका से उज्जैन का अन्तर बताया है। श्लोक १८-२१ में खगोल गणित की कुछ परिभाषाएँ दी हैं। श्लोक २४-३३ में त्रिप्रश्नाधिकार के प्रधान सूत्रों का वर्णन है। श्लोक ३४ में लम्बन, ३५ में दृक्कर्म और ३६ में आयन दृक्कर्म का वर्णन है। श्लोक ३७ से ४७ तक में सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहणों की गणना करने की रीतियाँ हैं।

आर्यभटीय के आधार पर ही बने हुए पंचांग आज भी वैष्णवों को मान्य हैं। ब्रह्मगुप्त ने इसी के आधार पर 'खण्डखाद्यक' नामक करण ग्रन्थ लिखा था। संस्कृत में

आर्यभटीय पर कई टीकाएँ हैं—प्रथम भास्कर की, सूर्यदेव यज्व की, परमेश्वर की और नीलकंठ की ।

वराहमिहिर— आर्यभट के शिष्य प्रथम भास्कर की 'महाभास्करीय' और 'लघुभास्करीय' पुस्तकों का भी पता चला है । पर आर्यभट के बाद के आचार्यों में वराहमिहिर ने बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की । इन्होंने ज्योतिष की प्रत्येक शाखा पर ग्रन्थ लिखा । ज्योतिष की तीन प्रधान शाखाएँ सिद्धान्त, संहिता और होरा या जातक हैं । सिद्धान्त शाखा ही गणित ज्योतिष से सम्बन्ध रखती है और विश्वसनीय है । इससे ही ग्रहों और नक्षत्रों की स्थिति आकाश में निश्चय की जाती है और ग्रहणों और ग्रहयुतियों का समय जाना जाता है । ज्योतिष के सिद्धान्तग्रन्थों में आर्यभटीय, सूर्यसिद्धान्त, ब्राह्म-स्फुटसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि आदि उल्लेखनीय हैं । वराहमिहिर का सिद्धान्त-ग्रन्थ 'पंचसिद्धान्तिका' है । जैसा नाम से स्पष्ट है, इसमें पाँच सिद्धान्तों—पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर और पैतामह—का संग्रह है । ग्रहणों की गणना करने का इसमें विशेष प्रसंग है । ४२७ शक (५०५ ई०) के चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सोमवार का समय ध्रुव माना गया है । यह आर्यभटीय के ध्रुवकाल (epoch) से केवल ६ वर्ष पीछे का है (४२१ शक) । वराहमिहिर आर्यभट के बाद के अथवा उनके समकालीन थे । उनके समय में दक्षिणायन पुनर्वसु के तीसरे चरण पर होता था और उत्तरायण मकर के आदि में । डाक्टर थीबो ने 'पंचसिद्धान्तिका' का अंग्रेजी अनुवाद किया और सुधाकर द्विवेदी जी ने इसपर संस्कृत टीका लिखी ।

वराहमिहिर के अन्य ग्रन्थों में 'बृहत्संहिता' या 'वाराहीसंहिता' और 'बृहज्जातक' मुख्य हैं । यूनानी ज्योतिष का इन ग्रन्थों पर स्पष्ट प्रभाव दीखता है ।

सूर्य्यसिद्धान्त—सूर्यसिद्धान्त ज्योतिष का एक प्रधान ग्रन्थ है । इसका लेखक 'मयासुर' कहा जाता है जिसने सूर्यांश पुरुष से सत्ययुग के अन्त में आज से लगभग २१६५०५२ वर्ष पहले इस ग्रन्थ को प्राप्त किया था । कुछ लोगों का विचार है कि यह ग्रन्थ पहले-पहल यवन ज्योतिष के आधार पर लिखा गया था जिसमें बाद को 'वराहमिहिर' ने भी सुधार किये । इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ प्राप्त हैं, और कई यूरोपीय भाषाओं में इसके अनुवाद भी हैं । सम्भव है कि यह ग्रन्थ विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से आरम्भ होकर दसवीं शताब्दी तक अपने वर्तमान रूप में आया हो । इस ग्रन्थ में १४ अध्याय हैं, जिनमें से पहले ११ को 'अधिकार' कहा गया है और शेष को अध्याय—१. मध्यमाधिकार, २. स्पष्टाधिकार, ३. त्रिप्रश्नाधिकार, ४. चन्द्रग्रहणाधिकार, ५. सूर्यग्रहणाधिकार, ६. परिलेखाधिकार, ७. ग्रहयुत्यधिकार, ८. नक्षत्रग्रहयुत्यधिकार, ९. उदयास्ताधिकार, १० श्रृंगोन्नत्यधिकार, ११. पाताधिकार, १२. भूगोलाध्याय, १३. ज्योतिषोपनिषदध्याय, और १४. मानाध्याय ।

लाटदेव आदि—वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्तिका में जिन ग्रन्थों का संग्रह किया है, वे हैं—पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर और पैतामह सिद्धान्त । इनमें से पहले दो ग्रन्थों के व्याख्याता 'लाटदेव' बतलाये गये हैं । अलबरूनी ने तो लाटदेव को 'सूर्य्य-सिद्धान्त' का रचयिता बताया है जो बात ठीक नहीं है । भास्कर प्रथम के रचे 'महा-

भास्करीय' से तो प्रकट होता है कि लाटदेव, पाण्डुरंग स्वामी, निःशंकु आदि आर्यभट के शिष्य थे। 'रोमक सिद्धान्त' निस्सन्देह यवन ज्योतिष के आधार पर बनाया गया था; क्योंकि इसमें यवनपुर के सूर्य्यास्त काल से अहर्गण बनाने की रीति बताई गई है (यवनपुर सम्भवतः एलेक्जैण्ड्रिया है)। मुसलमानी महीने आज भी सूर्यास्त के समय चन्द्रदर्शन से आरम्भ होते हैं।

ब्रह्मगुप्त ने श्रीषेण, विष्णुचन्द्र और विजयनन्दि नामक ज्योतिषियों की भी कई स्थलों पर चर्चा की है। ब्रह्मगुप्त का कथन है कि श्रीषेण ने लाट, वशिष्ठ, विजयनन्दि और आर्यभट के मूलांकों को लेकर रोमक नामक गुदड़ी तैयार की है (ब्राह्मस्फु० ११।४८-५१), और इन सबके आधार पर विष्णुचन्द्र ने वाशिष्ठ नामक ग्रन्थ लिखा।

ब्रह्मगुप्त—ज्योतिष के आचार्य्यों में ब्रह्मगुप्त का स्थान बहुत ऊँचा है। प्रसिद्ध भास्कराचार्य्य ने इनको 'गणकचक्रचूड़ामणि' कहा है, और इनके मूलांकों को अपने 'सिद्धान्तशिरोमणि' का आधार माना है। इनके ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में भी कराया गया था—'अस् सिन्ध हिन्द' ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त का अनुवाद है, और 'अल् अर्कन्द' खण्ड-खाद्यक का। इनका जन्म ६५३ वि० में हुआ और ६८५ वि० में इन्होंने ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त की रचना की। इन्होंने स्थान-स्थान पर लिखा है कि आर्यभट, श्रीषेण, विष्णुचन्द्र आदि की गणना से ग्रहों का स्पष्ट स्थान शुद्ध-शुद्ध नहीं आता, इसलिए वे मान्य नहीं। किन्तु ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त से दृग्गणितैक्य होता है, इसलिए यह मान्य है[३७]।

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में २४ अध्याय हैं और १००८ आर्य्याछन्द हैं (ध्यानग्रहोपदेशाध्याय के ७२ छन्द इससे पृथक् हैं)—मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार, सूर्य्यग्रहणाधिकार, उदयास्ताधिकार, चन्द्रशृंगोन्नत्यधिकार, चन्द्रच्छायाधिकार, ग्रहयुत्यधिकार, भग्रहयुत्यधिकार, तन्त्रपरीक्षाध्याय, गणिताध्याय, मध्यगति उत्तराध्याय, स्फुटगति उत्तराध्याय, त्रिप्रश्नोत्तराध्याय, ग्रहणोत्तराध्याय, शृंगोन्नत्युत्तराध्याय, कुट्टकाध्याय, शंकुच्छायादि ज्ञानाध्याय, छन्दश्चित्युत्तराध्याय, गोलाध्याय, यन्त्राध्याय, मानाध्याय और संज्ञाध्याय।

गणित की दृष्टि से इनमें से गणिताध्याय और कुट्टकाध्याय बड़े महत्त्व के हैं। ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त न केवल ज्योतिष का, प्रत्युत बीजगणित, अंकगणित और क्षेत्रमिति का भी उच्चकोटि का ग्रन्थ है।

ब्रह्मगुप्त ने खण्डखाद्यक शक ५८७ में अपनी ६९ वें वर्ष की आयु में लिखा। यह ग्रन्थ आर्यभटीय सिद्धान्तों के आधार पर है। इसमें १० अध्याय हैं और इनमें नक्षत्रादिकों की गणना के महत्त्वपूर्ण नियम दिये हुए हैं। अरब और तुर्क देशों तक ब्रह्मगुप्त की ख्याति थी।

लल्ल—ब्रह्मगुप्त के ८५–१४० वर्ष बाद लल्ल हुए। इनका अति प्रसिद्ध ग्रन्थ

---

(३७) तन्त्रभ्रंशे प्रतिदिनमेवं विज्ञाय धीमता यत्नः।
कार्य्यस्तस्मिन् यस्मिन् दृग्गणितैक्यं सदा भवति ॥ ६० ॥—तन्त्रपरीक्षाध्याय।

'शिष्यधीवृद्धिद तन्त्र' है जो आर्यभटीय के आधार पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में अंकगणित और बीजगणित सम्बन्धी अध्याय नहीं हैं, केवल ज्योतिष सम्बन्धी हैं। श्लोकों की संख्या १००० है, और उदाहरण देकर सिद्धान्त भली प्रकार समझाये गये हैं। लल्ल ने 'रत्नकोश' नाम का एक मुहूर्त्तग्रन्थ भी लिखा था।

आर्य्यभट द्वितीय—इनका बनाया 'महासिद्धान्त' ग्रन्थ ज्योतिष और गणित दोनों के लिए विख्यात है। ये ९५० ई० (८७२ शक) के लगभग थे। ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने अयनचलन के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की; परन्तु आर्य्यभट द्वितीय ने इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन किया है। पर अयनबिन्दु की वार्षिक गति इन्होंने १७३ विकला बताई है जो बहुत अशुद्ध है (अयन की वार्षिक गति ० से १७३ विकला तक कोई भी हो सकती है)। इससे सिद्ध होता है कि आर्यभट का समय वह था जब अयनगति के सम्बन्ध में हमारे सिद्धान्त निश्चित नहीं हो पाये थे। 'मुंजाल' के 'लघुमानस' में अयनचलन के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है जिसके अनुसार एक कल्प में अयनभगण १९९६६९ होता है (आर्यभट ने ५७८१५९ माना है), जो वर्ष में ५९.९ विकला होता है। 'मुंजाल' का समय ८५४ शक (९३२ ई०) है। आर्यभट का समय इससे पूर्व ८०० शक के लगभग होगा।

द्वितीय आर्यभट ने संख्याओं को लिखने की जो विशेष पद्धति बताई है, वह 'कटपयादि' पद्धति कहलाती है। इस पद्धति में मात्राओं के लगाने से संख्या में कोई भेद नहीं माना जाता। किस संख्या के लिए कौन-कौन अक्षर प्रयुक्त होते हैं, यह यहाँ दिया जाता है—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म					
य	र	ल	व	श	ष	स	ह		

उदाहरण के लिए—१ कल्प में चन्द्रमा के भगण = म थ थ म गग्ल भ न नु ना
= ५ ७ ७ ५ ३ ३ ३ ४ ० ० ०

आर्यभट द्वितीय के महासिद्धान्त में १८ अधिकार हैं और लगभग ६२५ आर्या-छन्द हैं। गोलाध्याय नामक १४ वें अध्याय में पाटीगणित के प्रश्न हैं, १५ वें अध्याय में १२० आर्या हैं जिनमें पाटीगणित, क्षेत्रफल, घनफल आदि विषय हैं।

भास्कराचार्य द्वितीय—इनका जन्म शक १०३६ (सन् १११४ ई०) में हुआ था और ३६ वर्ष की आयु में इन्होंने 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में दो भाग हैं—गणिताध्याय और गोलाध्याय। इनके अन्य तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लीलावती', 'बीजगणित' और 'करणकुतूहल' हैं। सिद्धान्तशिरोमणि पर इन्होंने स्वयं वासनाभाष्य नामक टीका भी लिखी। लीलावती में पाटीगणित, क्षेत्रमिति आदि के प्रश्न रोचक ढंग से बताये गये हैं। गणितपाश (permutations)

पर भी इसमें एक अध्याय है। 'लीलावती' पर अनेक टीकाएँ विद्यमान हैं। भास्कर के बीजगणित पर 'बीजनवांकुर' नाम से 'कृष्ण दैवज्ञ' (शक १५२४) की एक पुरानी टीका भी है। इसपर और टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। 'सिद्धान्तशिरोमणि' पर तो अनेक टीकाएँ हैं जैसे 'गणेशदैवज्ञ' की 'ग्रहलाघवाकार', 'नृसिंह' की 'वासनाकल्पलता' और 'वासनावार्त्तिक' (१५४३ शक) और 'मुनीश्वर' या 'विश्वरूप' की 'मरीचि' (१५५७ शक)। 'करणकुतूहल' में ग्रहों की गणना की सरल विधियाँ बताई गई हैं।

भास्कराचार्य्य के ग्रन्थों के अनुवाद अन्य भाषाओं में भी हुए। फैजी ने फारसी में 'लीलावती' का अनुवाद सन् १५८७ ई० में किया और अताउल्लाह रसीदी ने सन् १६३४ ई० में 'बीजगणित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी में टेलर ने १८१६ ई० में 'लीलावती' का और 'स्ट्रेची' ने १८१३ ई० में बीजगणित का और 'कोलब्रुक' ने १८१७ में लीलावती और बीजगणित दोनों के अनुवाद किये।

जयसिंह द्वितीय और जगन्नाथ सम्राट्—जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह द्वितीय सन् १६८६ ई० (शक १६०८) में उत्पन्न हुए थे। इसी वर्ष न्यूटन का 'प्रिन्सिपिया' प्रकाशित हुआ था। ये ज्योतिष के बड़े विद्वान् थे। इन्होंने टाल्मी के 'अलमेजिस्ट' और मिर्जा उलूगबेग की सारिणियों और यूक्लिड के रेखागणित का अच्छा अध्ययन किया था। ग्रहों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गति का निर्णय करने के लिए इन्होंने बड़े-बड़े यन्त्रों का निर्माण कराया था जो इनकी बनाई वेधशालाओं में जयपुर, दिल्ली, उज्जैन और काशी में अबतक विद्यमान हैं। इन्होंने 'जगन्नाथ' सम्राट् के द्वारा टाल्मी के 'अलमेजिस्ट' का संस्कृत में अनुवाद (अरबी अनुवाद मिजिस्ट्री की सहायता से) शक १६५३ में कराया, जिसका नाम 'सम्राट-सिद्धान्त' रक्खा। जयसिंह ने 'जिजमुहम्मदशाही' नाम की एक ज्योतिषसारिणी बादशाह 'मुहम्मद शाह' के नाम पर बनवाई थी, जिसमें अपने यन्त्रों के वेधों के अनुसार ध्रुवांक रक्खे थे। इसमें ४८ नक्षत्रों की सूची दी है जो उलूगबेग की सूची में संशोधन करके बनाई गई है।

जयसिंहजी की वेधशालाओं में कुछ यन्त्र तो प्रचलित मुसलमानी यन्त्रों की नकल थे; परन्तु तीन यन्त्र पूर्णतया या अंशतः नवीन थे। ये थे—सम्राट्यन्त्र, जयप्रकाश और रामयन्त्र। सम्राट्यन्त्र बहुत ही सुन्दर यन्त्र है। इसके बीच में दो समानान्तर भीतियाँ बनी हुई हैं, जिनका ऊपरी छोर ठीक ध्रुव की ओर रहता है। अगल-बगल अर्धबेलनाकार सतहें बनी हैं, जिनपर धूप में भीत के छोर की परछाईं पड़ती है। बेलनाकार सतहों पर चिह्न बने होते हैं, जिनसे दिन में तुरन्त ठीक समय का ज्ञान हो जाता है। दीवार की कोर भी अंकित है; बेलनाकार सतह के छोर पर आँख लगाकर और यह देख कर कि दीवार की कोर के किस बिन्दु की सीध में कोई तारा दिखाई देता है, तारे या ग्रह आदि की स्थिति भी जानी जा सकती है।

सूची—ज्योतिष की परम्परा हमारे देश में आज तक अक्षुण्ण बनी रही है। प्रत्येक शताब्दी में कुछ-न-कुछ ग्रन्थ या टीकाएँ रची गईं। हम नीचे उनमें से कुछ ज्योतिषियों के नाम की सूची देते हैं।

ज्योतिषी	काल	ग्रन्थ
प्रथम आर्य्यभट	३५७७ कलि० (४७६ ई०)	आर्यभटीय
वराहमिहिर	”	पंचसिद्धांतिका, बृहत्संहिता, बृहज्जातक
लाटदेव		
पांडुरंग, निःशंकु	सं० ५६२-६६५वि०	
श्रीषेण, विष्णुचन्द्र		
कल्याणवर्मा	५०० शक	सारावली
ब्रह्मगुप्त	६५३ वि०	ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त, खण्डखाद्यक
लल्ल	५६० शक	शिष्यधीवृद्धिदतन्त्र, रत्नकोश
पद्मनाभ	७०० शक	
श्रीधर	६७२ शक	त्रिशतिका
महावीर	७७२ शक	गणितसारसंग्रह
आर्यभट द्वितीय	८७२ शक	महासिद्धान्त
मुंजाल (मंजुल)	८५४ शक	लघुमानस
उत्पल (भटोत्पल)	८८८ शक	बृहत्संहिता आदि की टीका
श्रीपति	९६१ शक	सिद्धांतशेखर, धीकोटिकरण, रत्नमाला, जातकपद्धति
भोजराज	९६४ शक	राजमृगांक
ब्रह्मदेव	१०१४ शक	करणप्रकाश
शतानन्द	१०२१ शक	भास्वतीकरण
भास्कराचार्य द्वितीय	१०३६ शक	सिद्धान्तशिरोमणि, लीलावती, बीजगणित, करणकुतूहल
बाविलाल कोच्चन्ना	१२२० शक	करणग्रन्थ
बल्लालसेन	१०९० शक	अद्भुतसागर
महेन्द्र सूरि	१२९२ शक	यन्त्रराज
पद्मनाभ	१३२० शक	ध्रुवभ्रमयन्त्र
दामोदर	१३३९ शक	भटतुल्य
गंगाधर	१३५६ शक	चान्द्रमानाभिधानतन्त्र
मकरन्द	१४०० शक	सारिणी
गणेश दैवज्ञ	१४४२ शक	ग्रहलाघव
ज्ञानराज	१४२५ शक	सिद्धान्तसुन्दर
सूर्य	१४६३ शक	लीलावती की टीका, श्रीपतिपद्धतिगणित, बीजगणित
नीलकंठ	१५०९ शक	ताजिक नीलकंठी

ज्योतिषी	काल	ग्रन्थ
राम दैवज्ञ	१५२२ शक	मुहूर्त्तचिन्तामणि
कृष्ण दैवज्ञ	१४८७ शक	छादकनिर्णय, श्रीपतिपद्धति की टीका
कमलाकर	१५३० शक	सिद्धान्ततत्त्वविवेक
जयसिंह द्वितीय	१६०८ शक	सम्राट्सिद्धान्त, जिजमुहम्मदशाही
नृसिंह (बापूदेव शास्त्री)	१७४३ शक	रेखागणित, त्रिकोणमिति, सायनवाद, अंकगणित आदि।
विनायक (केरो लक्ष्मण छत्रे)	१७४६ शक	ग्रहसाधनकोष्ठक
विसाजी रघुनाथ लेले	१७४९ शक	पंचांग
चिंतामणि रघुनाथ आचार्य	१७५० शक	ज्योतिषचिन्तामणि
शंकर बालकृष्ण दीक्षित	१७७५ शक	सृष्टिचमत्कार, ज्योतिर्विलास, भारतीय ज्योतिषशास्त्र
वेंकटेश बापूजी केतकर	१७७५ शक	ज्योतिर्गणित, केतकी, ग्रहगणित आदि
सुधाकर द्विवेदी	१७८२ शक	दीर्घवृत्तलक्षण, गोलीय रेखागणित, भास्कराचार्य के ग्रन्थों की टीकाएँ, ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त की टीका आदि

तृतीय अध्याय

कौटिल्यकालीन वैज्ञानिक परम्परा

अर्थशास्त्र की परम्परा—जिन व्यक्तियों ने, किसी भी भाषा में, 'मुद्राराक्षस' नामक ग्रन्थ पढ़ा है, वे चन्द्रगुप्त और चाणक्य के नाम से परिचित हैं। चाणक्य का नाम ही 'विष्णुगुप्त' या 'कौटिल्य' है। कामन्दक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नीतिसार' के प्रारम्भ में विष्णुगुप्त के सम्बन्ध में लिखा है—

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः ।
पपातामूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः ॥
एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः ।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥
नीतिशास्त्रामृतं श्रीमानर्थशास्त्रमहोदधेः ।
य उद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥ (१।१।४-६)

कामन्दक का 'नीतिसार' कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर ही संक्षेप से लिखा गया है। 'दशकुमारचरित' (दण्डि-विरचित) में विष्णुगुप्त सम्बन्धी यह वाक्य महत्त्व का है—

अधीष्व तावद्दण्डनीतिम् । इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिश्श्लोकसहस्रैस्संक्षिप्ता सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्त-कार्यक्षमेति (२।८)।

इस वाक्य से प्रतीत होता है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र में लगभग ६००० श्लोक हैं। चाणक्य के अर्थशास्त्र का उल्लेख 'पंचतंत्र' में भी है (**ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि···**)। वात्स्यायन का 'कामसूत्र' भी चाणक्य के अर्थशास्त्र को देखकर लिखा गया प्रतीत होता है। फलतः दोनों ग्रन्थों में अनेक उद्धरण एक-से हैं। मल्लिनाथ ने कालिदास के ग्रन्थों की टीकाओं में कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनेक उद्धरण दिये हैं। कालिदास ने स्वयं 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में मृगया के पक्ष में जो वाक्य दिये हैं, वे कौटिल्य अर्थ-शास्त्र के वचनों को साक्षी रख कर लिखे गये प्रतीत होते हैं (शाकुन्तला—२।५; अर्थशास्त्र—८।३)। वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता (२।४) में आचार्य विष्णुगुप्त का नाम लिया है—**उक्तं आचार्य विष्णुगुप्तेन, तथाह···**। जैन आचार्यों ने भी विष्णुगुप्त का बहुधा उल्लेख किया है। राजा यशोधर के समय के सोमदेव सूरि ने अपना 'नीतिवाक्यामृत' कौटिल्य अर्थशास्त्र के आधार पर रचा है—**श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघानेति** । 'नन्दिसूत्र' में वाक्य इस प्रकार हैं—

खमए अमच्चपुत्ते चाणक्के चेव थूलभद्देय।
भारहं रामायण भीमासूरक्कं कौडिल्लयम्॥

अर्थात् क्षपक, अमात्यपुत्र, चाणक्य और स्थूलभद्र ये विश्वसनीय हैं।

कौटिल्य या चाणक्य का यह अर्थशास्त्र बहुत दिनों से लुप्त-प्राय हो गया था। अड़तालीस वर्ष की बात है कि मैसूर राज्य की अर्थशास्त्र ओरियंटल लाइब्रेरी को तंजोर के एक पंडित ने एक हस्तलिखित प्रति इस ग्रन्थ की दी। साथ में इसकी टीका की भी एक खंडित प्रति थी। उक्त पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री श्याम शास्त्री ने अत्यन्त परिश्रम से इस पुस्तक की प्रामाणिकता की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। मैसूर राज्य के अनुग्रह से सन् १९०९ ई० में पूर्ण ग्रन्थ छप कर प्रकाशित हुआ। सन् १९१५ ई० में श्याम शास्त्री द्वारा किया गया अनुवाद भी अंग्रेजी में छपा। पंजाब ओरिएंटल सीरीज में प्रोफेसर जॉली के सम्पादन में और ट्रावनकोर राज्य की संरक्षता में प्रकाशित होनेवाली संस्कृत सीरीज में स्वर्गीय पंडित गणपति शास्त्री के सम्पादकत्व में इसके दो संस्करण और निकले। इधर हिन्दी में भी इस अर्थशास्त्र के दो अनुवाद, पंडित गंगाप्रसाद शास्त्री कृत (महाभारत-कार्य्यालय, दिल्ली से) और प्रोफेसर उदयवीर शास्त्री कृत (मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, लाहौर से), छपे हैं।

जो अर्थशास्त्र कौटिल्य अर्थशास्त्र के नाम से इस प्रकार प्रसिद्ध है, वह चाणक्य का रचा है या नहीं, यह बात कुछ विवादास्पद है। संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता 'कीथ' के अनुसार यह ग्रन्थ ईसा के बाद तीसरी शताब्दी में सम्भवतः दक्षिण भारत के किसी पंडित ने लिखा है। यह ग्रन्थकार दाक्षिणात्य था; क्योंकि इसमें जिन मुक्ताओं, हीरकों और रत्नों का उल्लेख है, वह प्रधानतया दक्षिण भारत के हैं और कुछ सिंहल द्वीप के हैं।

इस 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' के चाणक्य के बनाये होने में सबसे बड़ा सन्देह इस बात से होता है कि इसमें कहीं भी चन्द्रगुप्त, मौर्यसाम्राज्य या नन्दवंश का उल्लेख नहीं आता। यह एक आश्चर्यजनक बात है।[१]

---

(१) Nor can we make much progress by discussing the probability whether an Indian statesman would write memoirs like Bismarck, for, while the indifference to morality and the insistence on distrust as a quality of wise king are common to both, there is all the difference in the world between the detailed accounts of real events in which he figured given in Bismarck's *Gedanken und Erinnerungen* and the absolutely general and very pedantic utterances of the Arthasastra, which never anywhere hints that its author had any knowledge of the overthrow of the Nandas and the wars which brought Chandragupta his empire and the cessions made by Seleukos. His sovereign's name, his family, what is still more amazing his country, his capital, are passed over in absolute silence by this alleged ancient statesman meditating in his days of retirement on the maxims of policy—A. B. Keith (*A History of Sanskrit Literature*, 1941, p. 459).

यह अर्थशास्त्र अपनी परम्परा का पहला ग्रन्थ नहीं है। इसमें पूर्ववर्त्ती अनेक आचार्यों का उल्लेख है, जैसे विशालाक्ष (१।८।३), पराशर (१।८।७), पिशुन (१।८।१२), बाहुदन्तीपुत्र (१।८।२७), कौणपदन्त (१।८।१६), वातव्याधि (१।८।२३), कात्यायन (५।५।५३), कणिङ्क भारद्वाज (५।५।५४), चारायण (५।५।५५), घोटमुख (५।५।५६), किंजल्क (५।५।५७), पिशुनपुत्र (५।५।५९)। इनके अतिरिक्त मानवों, बार्हस्पत्यों, औशनसों और आम्भीयों का भी उल्लेख है। विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए बीच-बीच में कौटिलीय मत क्या है, यह भी दिया है—जैसे **सर्वमुपपन्नमिति कौटिल्यः** (१।८।३१)। इस प्रकार के वाक्यों से कुछ विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि इस अर्थशास्त्र का लेखक कोई अन्य है, जिसने अन्य आचार्यों के मतों के साथ-साथ ग्रन्थ में कौटिल्य-मत भी दे दिये हैं। अन्तिम अधिकरण में 'अपदेश' (एवमसावाहेत्यपदेशः) के अन्तर्गत जहाँ मनु, बृहस्पति और उशनस् के विचार दिये हैं, वहाँ 'यथा सामर्थ्यमिति कौटिल्य इति' ऐसा भी कहा है।

प्रारम्भ

आचार्य्य चाणक्य चार प्रकार की विद्याएँ मानते हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति। सांख्य, योग आदि के समान आर्ष दर्शन और लोकायत के समान नास्तिक दर्शन आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत हैं। धर्माधर्म की व्यवस्था करनेवाली वेदविद्या ही त्रयी विद्या है—साम, ऋग् और यजुः। अथर्व, इतिहास, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष (वेदांग) ये सब त्रयी के अन्तर्गत हैं। वेदत्रयी से ही चातुर्वर्ण्य और चारों आश्रमों के धर्मों की मर्य्यादा स्थापित होती है। इनमें से वैश्य का कर्म अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य है। कारुकर्म (शिल्प, कारीगरी) शूद्र का कार्य्य है। वैज्ञानिक परम्परा की दृष्टि से हमारे काम की चीज चाणक्य की वार्त्ता है। कृषि, पाशुपाल्य और वाणिज्य इन तीनों को वार्त्ता कहते हैं[2]। वार्ता के कारण ही धान्य, पशु, हिरण्य और ताम्रादि (कुप्यादि) धातुएँ प्राप्त होती हैं, अतः जनता का वार्ता से बड़ा उपकार होता है[3]। कौटिल्य-मत यह है कि अर्थ अर्थात् धन ही प्रधान वस्तु है। धर्म और काम की सिद्धि अर्थ से ही होती है[4]।

कौटिल्य अर्थशास्त्र उस समय की व्यवस्था का अच्छा प्रतिबिम्ब है। इस ग्रन्थ का 'अध्यक्ष प्रचार' नामक द्वितीय अधिकरण हमारे विशेष काम का है। हम इस अधिकरण से उन सब विषयों का विशेष उल्लेख देंगे, जो उस समय की वैज्ञानिक परम्परा का परिचायक है। यह स्मरण रखना चाहिए कि कौटिल्य अर्थशास्त्र कोई वैज्ञानिक ग्रन्थ नहीं है; फिर भी इस ग्रन्थ में बहुत से ऐसे विषयों की ओर विस्तृत संकेत हैं जो उस समय की वैज्ञानिक परिस्थितियों के भी परिचायक हैं।

---

(२) कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। (१।४।१)

(३) धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी। (१।४।२)

(४) अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति। (१।७।१०-११)

जनपद निवेश

[State and Town Planning]

भूतपूर्व या अभूतपूर्व दो प्रकार के जनपद बसाये जा सकते हैं। भूतपूर्व जनपद वे हैं, जो पहले भी जनपद थे; पर युद्धादि कारणों से जो उजड़ गये हों। अभूतपूर्व जनपद वे हैं जो उस स्थान पर बसाये जाते हैं जहाँ पहले कभी जनपद न रहे हों। इन दोनों प्रकारों के जनपदों को बसाने के लिए राजा को चाहिये कि या तो परदेश से मनुष्यों को लाकर बसाये या अपने ही देश से। सबसे पहले जनपदों में शूद्र (जो कारुकर्म या शिल्प करते हों) और कृषक ही अधिक बसें। जनपदों में इन्हीं की संख्या अधिक होनी चाहिए; क्योंकि उत्पादन-शक्ति द्वारा जनपद को ये ही सम्पत्तिवान् बना सकेंगे। एक गाँव में सौ से कम नहीं और पाँच सौ से अधिक घर नहीं होने चाहिए। दो गाँवों के बीच में सिर्फ कोस-दो-कोस का अन्तर होना चाहिए, जिससे आवश्यकता पड़ने पर ये एक दूसरे की रक्षा भी कर सकें।[५]

आठ सौ गाँवों के बीच में एक 'स्थानीय' (district town) बसाना चाहिए। प्रत्येक चार सौ गाँवों के बीच में 'एक द्रोणमुख' (sub-town); और प्रत्येक दो सौ गाँवों के बीच में एक खार्वटिक (कसबा) होना चाहिए। प्रत्येक दश गाँवों के बीच में कर आदि वसूल करने के लिए एक 'संग्रहण' की स्थापना होनी चाहिए[६]। इस प्रकार बसाये प्रदेश की सीमा पर एक दुर्ग बनाना चाहिये जिसका अध्यक्ष 'अन्तपाल' कहलावे।

इस नये प्रदेश में राज्य की ओर से ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय, अध्यक्ष, संख्यायक, गोप (दश गावों का अधिकारी), स्थानिक (नगररक्षक), अनीकस्थ (सेनाध्यक्ष), अश्वदमक (अश्वशिक्षक) और जङ्घाकरिक (दौतसैनिक)—इस प्रकार से विभिन्न कोटि के नागरिकों को भी जमीन देनी चाहिये[७]।

यदि किसी को खेती के लिए जमीन दी गई है और वह उस जमीन में खेती नहीं कर रहा है, तो उससे जमीनें छीन कर अन्यों को प्रदान कर देनी चाहिए। ग्रामभृतक या वैदेहक (गाँव के चौधरी पटेल) उस जमीन को जोत-बो सकते हैं[८]।

---

(५) भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्। शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामं क्रोश-द्विक्रोशसीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत्। (२।१।१-२)

(६) अष्टशत ग्राम्या मध्ये स्थानीयं चतुःशतग्राम्या द्रोणमुखं द्विशतग्राम्याः खार्वटिकं दशग्रामी संग्रेहण संग्रहणं स्थापयेत्। (२।१।४)

(७) ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेयान्यदण्डकराण्यभिरूपदायकानि प्रयच्छेत्। अध्यक्षसंख्यायकादिभ्यो गोपस्थानिकानीकस्थचिकित्साश्वदमकजङ्घाकरिकेभ्यश्च विक्रयाधानवर्जम्। (२।१।८–९)

(८) अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत्। ग्रामभृतकवैदेहका वा कृषेयुः। (२।१।१२–१३)

अकृषन्त व्यक्तियों (जो बोने योग्य जमीन को बो न रहे हों) को अपहीन (हर्जाना) देना चाहिए। राज्य की ओर से कृषकादिकों को धान्य, पशु और स्वर्णादि धन की सहायता मिलनी चाहिए जिसे वे सुखपूर्वक सहज किश्तों में चुका दें। अनुग्रह ऋण ग्राम-स्वच्छता (loan for village sanitation) के लिए और परिहार ऋण (loan for village health and hygiene) स्वास्थ्य के लिए भी राज्य की ओर से जनता को दिया जाय। यह दिया गया ऋण राज्यकोश की वृद्धि का ही अन्त में कारण होता है। यह परिहार जब जनता चुका दे, तब राजा पिता के समान प्रजा के प्रति अनुग्रह प्रकट करे[९]।

राजा नये बसाये नगर में खनिज द्रव्यों के बाज़ार, हस्ति-वन (जहाँ हाथी चर सकें), वणिक् पथ (दूकानों वाली सड़कें) अथवा व्यापार-मार्ग, वारिस्थल-पथ (जलमार्ग, थलमार्ग) और पण्यपत्तन (विस्तृत बाजार) स्थापित करे[१०]।

राज्य की ओर से नहरों और नदियों (सहोदक और आहार्योदक) पर सेतु बनते रहना चाहिए। यदि प्रजा में से कोई व्यक्ति धर्मार्थ कार्यों के लिए पुण्यस्थान या आराम (बाग) बनवाना चाहे तो मार्ग, भूमि और वृक्षादि के रूप में राज्य की ओर से उसे सहायता मिलनी चाहिए[११]।

बड़े-बड़े बागों में विहारशालाएँ नहीं बननी चाहिए; क्योंकि इनमें नट, नर्तक, गायक, वादक आदि की आड़ में बहुत-से उपद्रवी आकर कर्मविघ्न उपस्थित करने लगते हैं। गाँवों में विहारशालाएँ न होंगी तो लोग कृषि आदि कर्म में अधिक तल्लीन रहेंगे और गाँव में कोश, द्रव्य, धान्य, रसादि की वृद्धि होगी। दण्ड, विष्टि (बेगार) और कर आदि की बाधा से कृषि की रक्षा करनी चाहिए[१२]।

जिन स्थलों पर खेती न हो सकती हो, उस 'अकृष्य' भूमि को पशुओं के चरने के लिए छोड़ देनी चाहिए। अकृष्य भूमि के उपयोग में लाने को 'भूमिच्छिद्र विधान' कहते हैं। अकृष्य भूमि में ही एक द्वार के खातगुप्त, स्वादिष्ट फलों से युक्त, लता झाड़ियों, जलाशयों आदि से सम्पन्न, ऐसे वनैले जानवर जिनके नख और दाँत तोड़ दिये गये हों, और हाथी, हथिनी और उनके बच्चों से पूर्ण चिड़िया-खाना अथवा 'मृगवन' बनवावे। इस मृगवन में बाहर के प्रदेशों से लाकर अतिथि-मृग भी रक्खे। एक अलग हस्तिवन या नागवन भी हो, जिसमें हाथियों का शिकार

(९) अनुग्रहपरिहारौ चैभ्यः कोशवृद्धिकरौ दद्यात् (२।१।१६)। निवृत्तपरिहारान्पितेवानुगृह्णीयात्। (२।१।२०)

(१०) आकरकर्मान्तद्रव्यहस्तिवनव्रजवणिक्पथप्रचारान्वारिस्थलपथपण्यपत्तनानि च निवेशयेत्। (२।१।२१)

(११) सहोदकमाहार्योदकं वा सेतुं बन्धयेत्। अन्येषां वा बन्धतां भूमि-मार्ग-वृक्षोपकरणानुग्रहं कुर्यात्। पुण्यस्थानारामाणां च। (२।१।२२-२४)

(१२) न च तत्रारामविहारार्थाः शालाःस्युः। नटनर्तनगायनवादकवाग्जीवनकुशीलका वा न कर्मविघ्नं कुर्युः। निराश्रयत्वाद् ग्रामाणां क्षेत्राभिरतत्वाच्च पुरुषाणां कोशविष्टि-द्रव्यधान्यरसवृद्धिर्भवतीति (२।१।४१-४२)

मना हो; पर जो व्यक्ति मरे हाथियों के दोनों दाँत लाकर दे, उसे सवा चार पण का पुरस्कार दे। (२।२।१-१०)

दुर्गविधान और दुर्गनिवेश

आजकल की नगर आयोजना और प्रदेश आयोजना में दुर्गों का कोई स्थान नहीं है; पर जब स्थल-युद्ध ही की प्रधानता थी, तब दुर्ग ही राजकीय नगरों की केन्द्रीय क्रिया-स्थली थे। दुर्ग कई प्रकार के होते थे—(१) 'औदक' दुर्ग, जो स्वाभाविक जल से (जैसे नदियों से) अथवा खाईं आदि खोद कर लाये गये जल से परिवेष्ठित रहते थे; (२) 'पर्वत' दुर्ग, जो पहाड़ियों के बीच में प्रस्तर, गुहा आदि से घिरे होते थे; (३) 'धान्वन' दुर्ग जो घास आदि से रहित ऊषर प्रदेश में होते थे, और (४) 'वन'दुर्ग जो दलदल और काँटेदार झाड़ियों से घिरे होते थे। धान्वन और वन-दुर्ग जंगलों में बनाये जाते थे, और आपत्ति के समय भाग कर राजा इनमें शरण लेता था। औदक दुर्ग (नदी दुर्ग) और पर्वत दुर्ग जनपद की रक्षा करते थे। जनपद के मध्य में ही समुदय स्थान (बड़े-बड़े नगर) बसाये जाते थे। (२।३।२-४)

वास्तुकप्रशस्त देश में, अर्थात् उस स्थान पर जहाँ वास्तुकला-विशारदों की राय बैठे, ये दुर्ग या नगर बनाने चाहिए। ये नगर वृत्ताकार, दीर्घाकार या चतुरस्राकार (चौकोर) होने चाहिए। इनमें व्यापार के जल-मार्ग और स्थल-मार्ग होने चाहिए। इन नगरों के चारों ओर चार-चार हाथ की दूरी पर तीन परिखाएँ (खाइयाँ) खुदी होनी चाहिए जो क्रमशः ५६, ४८ और ४० हाथ चौड़ी और इसी विस्तार की आधी या तीन भाग या एक भाग न्यून गहराई की हों। इनके फर्श में पत्थर के इष्टक (ईंट) हों, और खाइयों में वर्षा का या नहरों का जल भरने का प्रबन्ध हो। (२।३।५-७)

परिखा से चार दण्ड (१६ हाथ) दूर पर छः दण्ड (८४ हाथ) ऊँचा वप्र (सफील) होना चाहिए। ऊपर जितना चौड़ा यह हो, उसका दुगुना यह चौड़ा नींव में हो। ऊँचाई के हिसाब से ये वप्र ऊर्ध्वचय, मञ्चपृष्ठ और कुम्भकुक्षिक तीन प्रकार के होते हैं। बनाते समय इन्हें हाथी, बैलादि पशुओं से खुदवाना चाहिए जिससे इनकी दृढ़ता का अनुमान हो सके। (२।३।८-९)

वप्र के ऊपर ईंटों का प्राकार बनवाना चाहिए। यह ऊपर इतना चौड़ा हो कि इस पर रथ चल सके और ऊपर से पहाड़-ऐसा दीखे, ऐसा होना चाहिए। इसके बनाने में कहीं भी लकड़ी का प्रयोग न होना चाहिए; क्योंकि लकड़ी रहने से आग लगने का भय रहता है। ऊपर चल कर प्राकार में अट्टालिकाएँ बनी हों, जिन तक पहुँचने के लिए सोपान हों, और तीस-तीस दण्ड की दूरी पर चारों ओर ये स्थित हों। (२।३।१०-१३)

दो अट्टालिकाओं के बीच में अच्छे हर्म्यों से युक्त दो-तली (द्वितला) और ढाई याम चौड़ी 'प्रतोली' बनावे। अट्टालिका और प्रतोली के बीच में तीन धनुष चौड़ा 'इन्द्रकोश' बनावे जिसके पिधान या ढकने में बहुत से छिद्र और फलक हों। (२।३।१५-१६)

इनके बीच में दो हाथ चौड़ा और पार्श्व में आठ हाथ चौड़ा और आठ हाथ ही लम्बा देवपथ (गुप्तमार्ग) बनावे। इनमें एक या दो दण्ड के अन्तर से सीढ़ियाँ बनी हों। किसी अग्राह्य स्थल पर (जहाँ से शत्रु न देख सके) एक प्रधावितिका (छिपने का स्थान) और निष्कुह द्वार (शत्रु के देखने का छिद्रद्वार) बनावे। (२।३।१७-१९)

आदितल (basement) में शाला, वापी और सीमागृह बनवावे, गूढ़भित्ति सोपान (गुप्त सीढ़ियाँ) भी बनें। तोरणशिर (द्वार का बुर्ज) दो हाथ का हो। तीन या पाँच भागवाले इसमें दो किवाड़ (कवाट) लगे हों। किवाड़ में एक हाथ की इन्द्रकील (चटखनी) हो। मणिद्वार (किवाड़ों की खिड़की) पाँच हाथ की हो। (२।३।२५-३६)

प्राकार के मध्य में वापी बनवा कर उसमें 'पुष्करिणी' द्वार बनवाये। इसमें 'कुमारीपुर' नामक द्वार इस द्वार से ड्योढ़ा बने। बिना कँगूरे के द्वितलवाले मुण्डहर्म्य भी बनें और मुण्डक द्वार भी हों। एक चौड़ी भाण्डवाहिनी कुल्या (लम्बी-चौड़ी वस्तु ले जानेवाली नहर या सुरंग) भी बने। (२।३।३९-४०)

राजमार्ग और पथ—वास्तुविद्या के अनुसार दुर्ग में तीन प्राचीन (पूर्व-पश्चिम) और तीन उदीचीन (उत्तर-दक्षिण) मार्ग हों। इस दुर्ग में चारों ओर तीन-तीन करके बारह द्वार हों। पानी के प्रबन्ध से युक्त भूमिच्छन्नपथ (सुरंगें) भी हों। राजमार्ग और द्रोणमुख के भीतर के मार्ग, स्थानीय तक (नगरों तक) जानेवाले मार्ग, राष्ट्र के विवीत (घूमते, चक्कर वाले) पथ, व्यापारी मण्डियों के मार्ग ये सब आठ दण्ड चौड़े (३२ हाथ) होने चाहिये, सेतुवनपथ चार दण्ड चौड़ा, हस्तिक्षेत्रपथ दो दण्ड चौड़ा, रथपथ पाँच हाथ चौड़ा और पशुपथ चार हाथ चौड़ा होना चाहिये। दो हाथ चौड़े क्षुद्रपशुपथ और मनुष्यपथ होने चाहिये। (२।४।१-८)

राजभवन, अमात्यभवन और प्रजाभवन—दुर्ग में चातुर्वर्ण्य के रहने की सुविधा होनी चाहिए। दुर्ग के हृदय-स्थल से उत्तर की ओर नौ भाग में विधानपूर्वक अन्तःपुर बने, इसके द्वार प्राङ्मुख या उदङ्मुख (पूर्व या उत्तर की ओर) हों।

पूर्वोत्तर भाग में आचार्य, पुरोहित और मन्त्रियों के घर हों, और इज्या (यज्ञस्थली) और तोय-स्थान (जल-स्थान) भी इसी ओर हों। पूर्व-दक्षिण भाग में महानस (रसोईघर), हस्तिशाला और कोष्ठागार (भंडार) हों। इसके बाद गन्ध, माल्य, धान्य और रस के पण्य (दूकानें) हों। पूर्व दिशा में प्रधान कारु (शिल्पी) और क्षत्रियों के भवन हों। दक्षिण-पूर्व भाग में भाण्डागार और अक्षपटल (treasury) हो। दक्षिण-पश्चिम भाग में कुप्यगृह (धातुकर्मगृह या workshop) और आयुधागार (armoury) हों। इनके आगे धान्य व्यावहारिक (grain dealers), कार्मान्तिक (खनिजवेत्ता), बलाध्यक्ष (सेना के अध्यक्ष) और पक्वान्न, सुरा और मांस के पण्य हों। दक्षिण भाग में रूपाजीव (वेश्या), तालापचार (गाने-बजानेवाले) और वैश्यों के घर हों। पश्चिम-दक्षिण भाग में खरोष्ट्र गुप्तिस्थान (जहाँ ऊँट गदहों आदि की रक्षा हो) और कर्मगृह हों। पश्चिमोत्तर भाग में यानशालाएँ हों। इसके आगे ऊर्ण, सूत्र, वेणु, चर्म, वर्म (कवच), शस्त्र और आवरण

(हाथी की झूल) बनानेवाले कारीगरों के स्थान हों तथा इसी पश्चिम की ओर शूद्रों (labour and artisons) के घर हों। उत्तर-पश्चिम भाग में पण्यगृह और भैषज्यगृह (hospitals) हों। उत्तर-पूर्व भाग में कोश और गोशाला (dairy) भी हो।

इसके पीछे फिर नगर और राजकुल के देवमन्दिर और लोहकार और मणिकार (मनिहार) के स्थान हों। ब्राह्मण उत्तर दिशा में बसें। धोबी, जुलाहे और डोली ले जानेवाले आदि के घर खाली स्थानों में बना दिये जायँ। (२।४।९-२३)

उत्तर-पूर्व भाग में श्मशानघाट हो। दक्षिण दिशा में हीनवर्ण के लोगों के श्मशान हों। पाषंडी (कापालिक) और चाण्डाल श्मशान की सीमा पर रहें। (२।४।२८-२९, ३१)

नगर में पुष्प, फल आदि की क्यारियाँ (kitchen garden) और धान्य-पण्य भी होने चाहिए।

हस्ति, अश्व, रथ और पादात (पैदल) सेना को मुख्य-मुख्य अधिकारियों के अधीन यत्र-तत्र व्यवस्था के लिए भी रक्खे। (२।४।३६)

इन सबके अतिरिक्त कोशगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार (अन्न घृत का भण्डार), कुप्यगृह (धातुशाला), आयुधागार (शस्त्रशाला) और बन्धनागार (जेलखाना या हवालात) बनवावे (२।५।१)। एक भूमिगृह (तहखाना) बनवावे जिसमें एक द्वार और यन्त्रयुक्त सोपान (mechanical lift) हो।[13]

इस भूमिगृह के ऊपर ही इष्टक (ईंट) से बना हुआ प्रग्रीव (बराम्दा) से युक्त कोशगृह बनवावे। यह ऐसे व्यक्तियों से बनवावे जिन्हें निकट में ही फाँसी देनी हो; क्योंकि यह आपदर्थ बनवाया जाता है—"**प्रासादं वा जनपदान्ते ध्रुवनिधिमापदर्थमभित्यक्तैः पुरुषैः कारयेत्**"। इस प्रकार यह कोशगृह गुप्त रह सकेगा और चोरी होने की आशंका न रहेगी। (२।५।३-४)

पण्यगृह और कोष्ठागार के सम्बन्ध में पक्व-इष्टका का शब्द प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् पक्की ईंटों का। खम्भों के लिए स्तम्भ, मंजिल के लिए तल (एक तल, द्वितल, अनेक तल आदि), के लिए भीत कक्ष्य और कोठरी के लिए कुड्य शब्द उल्लेखनीय हैं।

कोष्ठागार में वर्षा के नापने का (वर्षमान) एक हाथ के मुखवाला कुण्ड बनवावे।[14] आजकल जिस सिद्धान्त पर वर्षमान (rain gauge) बनाये जाते हैं, वे भी इसी प्रकार के हैं।

मोती और अन्य रत्न

मोती—मोतियों के अनेक प्रकार अर्थशास्त्र में दिये हैं—(१) ताम्रपर्णिक

(१३) चतुरश्रां वापीमनुदकोपस्नेहां खानयित्वा पृथुशिलाभिरुभयतः पार्श्वं मूलं च प्रचित्य सारदारुपञ्जरं भूमिसमत्रितलमनेकविधानं कुट्टिमदेशस्थानतलमेकद्वारं यन्त्रयुक्तसोपानं देवतापिधानं भूमिगृहं कारयेत्। (२।५।२)

(१४) कोष्ठागारे वर्षमानमरत्निमुखं कुण्डं स्थापयेत्। (२।५।७)

(ताम्रपर्णी नदी में से प्राप्त), (२) पाण्ड्यक वाटक (मलयकोटि पर्वत के समीपस्थ सरोवरों से प्राप्त), (३) पाशिक्य (पटना के निकट पाशिका नदी से प्राप्त), (४) कौलेय (सिंहल द्वीप की कुला नदी से प्राप्त), (५) चौर्णेय (केरल की चूर्णी नदी से प्राप्त), (६) माहेन्द्र (महेन्द्र समुद्र से प्राप्त), (७) कार्दमिक (फारस की कर्दमा नदी से प्राप्त), (८) स्रौतसीय (बर्बर देश की स्रौतसी नदी से प्राप्त), (९) ह्रादीय (बर्बर देश की श्रीकण्ठ या श्रीघण्ट झील से प्राप्त) और (१०) हैमवत (हिमालय से प्राप्त) । (२।११।२)

मोती प्राप्त करने के तीन स्थल हैं—शुक्ति (सीप), शंख और प्रकीर्णक (गजमस्तक) ।

अप्रशस्त मोती वे हैं जो आकार में मसूरक, त्रिपुटक, कूर्मक, अर्धचन्द्रक, कञ्चुकित (ऊपर से मोटे छिलकेवाले), यमक (जुड़वाँ), कर्तक (कटे हुए), खरक (खुरदरे), सिक्थक (दागवाले), कामण्डलुक, श्याव (काले), नील और दुर्विद्ध (अस्थान पर बिंधे) हों ।

प्रशस्त मोती वे हैं जो स्थूल, वृत्त (गोल), निस्तल, भ्राजिष्णु (Lustrous) श्वेत, स्निग्ध और देशविद्ध (ठीक स्थान पर बिंधे) हों ।

मोतियों की लड़ी का नाम यष्टि है । बड़े और छोटे मोतियों के क्रम को भिन्न करके जो यष्टि-प्रदेश बनते हैं, उन्हें शीर्षक, उपशीर्षक, प्रकाण्डक, अवघाटक और तरल प्रतिबन्ध कहा है । मोतियों के आभरण अनेक नामों के प्रसिद्ध थे । लड़ियों में मोतियों की संख्या इनमें इस प्रकार थी (२।११७-१६)—

इन्द्रच्छन्द	१००८ मोतियोंवाला	गुच्छक	३२ मोतियोंवाला
विजयच्छन्द	५०४ ,,	नक्षत्र माल	२७ ,,
देवच्छन्द	१०० ,,	अर्ध गुच्छक	२४ ,,
अर्धहार	६४ ,,	माणवक	२० ,,
रश्मिकलाप	५४ ,,	अर्धमाणवक	१० ,,

सूत्र में पिरोये मोतियों की लड़ी 'शुद्ध' कहलाती है; पर यदि मणि के साथ पिरोये जायँ तो इसे यष्टि कहते हैं । यदि यह स्वर्ण और मणि से युक्त हो तो इसे रत्नावली कहेंगे । सोने के सूत्र में पिरोये हों तो सोपानक । इसी प्रकार अनेक भेद हैं । ये आभरण सिर, हाथ, पाद, कटि आदि स्थलों पर पहने जाते थे और उन स्थलों के नाम पर इनके नाम पड़ते थे । (२।११।२२-२८)

मणि—मणियों की तीन जातियाँ ये हैं—(१) कौट (मलयसागर के निकट कोटि स्थान से प्राप्त), (२) मौलेयक (मुलय देश से प्राप्त), (३) पारसामुद्रिक (समुद्र-पार सिंहल द्वीप से प्राप्त) । इनके पाँच भेद हैं—सौगन्धिक (नीलकमल-सी), पद्मराग (लालकमल सी), अनवद्य राग (कमलकेसर-सी), पारिजातपुष्पक और बालसूर्यक (बालसूर्य-सी) । (२।११।२९-३०)

वैदूर्य मणि के भेद हैं— उत्पलवर्ण (नील कमल-सा), शिरीषपुष्पक, उदकवर्ण,

वंशराग (बाँस-सा हरा), शुकपत्रवर्ण, पुष्यराग (हल्दी-सा पीला), गोमूत्रक (गोमूत्र-सा पीला), गोमेदक (गोरोचन-सा)।

इन्द्रनील मणि के भेद हैं—नीलावलीय, इन्द्रनील (मोरपंख-सा नीला), कलाय-पुष्पक (मटर के पुष्प-सा), महानील, जाम्बवाभ (जामुनी), जीमूतपुत्र (बादल के रंग-सा), नन्दक (श्वेत और नील), स्रवन्मध्य (मध्य से किरणें छोड़नेवाला)।

श्वेत मणि के भेद हैं—शुद्ध स्फटिक, मूलाटवर्ण (तक्रवत् श्वेत), शीतवृष्टि और सूर्यकान्त। (२।११।३१-३३)

अच्छे मणियों के लक्षण ये हैं—षडतुरश्र (छः कोनेवाली), चतुरश्र (चार कोनेवाली), अथवा वृत्त (गोल), तीव्र रंगवाली, निर्मल, स्निग्ध, गुरु (भारी), अर्चिष्मान (दीप्तिवाली), अन्तर्गतप्रभ (भीतर प्रभावाली) और प्रभानुलेपी (दूसरे को चमकानेवाली)।

मणियों के सात दोष ये हैं—मन्दराग, मन्दप्रभ, सशर्करा (छोटे दानोंवाली), पुष्पच्छिद्र (छोटे छेदों से युक्त), खण्ड (कटी हुई), दुर्विद्ध (गलत स्थान पर छिदी) और लेखाकीर्ण (रेखाओं से युक्त धारीदार)।

मणियों के कुछ अवान्तर भेद ये हैं—विमलक, सस्यक, अञ्जनमूलक, पित्तक, सुलभक, लोहिताक्ष, मृगाश्मक, ज्योतीरसक, मैलेयक, आहिच्छत्रक, कूर्प (खुरदरा), प्रतिकूर्प (धब्बेवाला), सुगन्धिकूर्प, क्षीरपक, शुक्तिचूर्णक, शिलाप्रवालक, पुलक (मध्यकृष्ण) और शुक्रपुलक (मध्य श्वेत)। अन्य मणियों को 'काच मणि' कहते हैं। (२।११।३४-३७)

वज्र या हीरा—प्राप्ति-स्थान के अनुसार हीरे के ६ भेद बतलाये गये हैं—(१) सभाराष्ट्रक (विदर्भदेशोत्पन्न), (२) मध्यम राष्ट्रक (कोसलदेशोत्पन्न), (३) कश्मीर राष्ट्रक (कश्मीरोत्पन्न), (४) श्रीकटनक (श्रीकटनक-पर्वतोत्पन्न), (५) मणिमन्तक (मणिमान्पर्वतोत्पन्न) और (६) इन्द्रवानक (कलिंगोत्पन्न)। हीरों की योनियाँ तीन हैं—खनि, स्रोत और प्रकीर्णक। रंगों के हिसाब से हीरों के भेद ये हैं—मार्जाराक्षक (बिल्ली की आँख के रंग का), शिरीषपुष्पक, गौमूत्रक, गोमेदक, शुद्ध स्फटिक (बिल्लोर के तुल्य श्वेत), मूलाटीपुष्पक वर्ण और मणि वर्णों में से किसी भी वर्ण का।

प्रशस्त हीरे में गुण ये हों—स्थूल, गुरु, प्रहारसह, समकोटिक (समान कोणोंवाला), भाजनलेखित (बर्तन पर लकीर करनेवाला), कुभ्रामि (तकुवे की तरह घूम जानेवाला) और भ्राजिष्णु (चमकदार)।

अप्रशस्त हीरा वह है जो नष्टकोण हो, निरश्रि हो और पार्श्व अपावृत्त (बेडौल) हो। (२।११।३८-४२)

प्रवाल या मूँगा—यह आलकन्दक (आलकन्दक स्थान में पाया जानेवाला) और वैवर्णिक (विवर्ण नामक समुद्र स्थान से प्राप्त) दो प्रकार का स्थानभेद के अनुसार होता है। यह रक्त (लाल) या पद्मराग दो वर्णों का होता है। जो मूँगा

करट (कीड़े से खाया) या .गर्भिणिक (बीच से मोटा) हो, वह दोषयुक्त है। (२।११।४३)

धातुकर्म और आकरज पदार्थ

वह व्यक्ति आकराध्यक्ष (Director-General of Mines) हो, जो शुल्व-धातु-रस-पाक-मणि-रागज्ञ हो अर्थात् जिसे ताम्रादि धातुओं के मारणादि की रसायन-विधियों से परिचय हो और मणियों के रंगों की भी जिसे पहिचान हो। इसे और इसके सहकारियों को किट्ट (ores), मूषा (crucible), अंगार (fuels), भस्म और अन्य उपकरणों से परिचय हो, जिससे यह पता लग सके कि कहाँ नई खान निकल सकती है। नई खानों के पता लगाने में यह भूमि, प्रस्तर, और रस की परख करे और गौरव (गुरुता, भारीपन या घनत्व) और उग्रगन्ध का सहारा ले। (२।१२।१)

सोने की खान की पहिचान—पर्वतों के अभिज्ञात प्रदेशों के बिल, गुहा, उपत्यका, आलय और उनमें छिपे खातों में बहनेवाले पानी में, जामुन (जम्बू), आम, तालफल, पक्व हरिद्रा, हरिताल, मनःशिला (मैनसिल), क्षौद्र (शहद), हिंगुल, पुण्डरीक (कमल), शुकपंख, मयूरपंख आदि के से रंगवाले, औषधियों के से रंगवाले चिक्कण (चिकने), विशद (स्वच्छ) और भारिक (भारी) जलों में संभव हो सकता है कि स्वर्ण हो।

अगर अन्य पानी में मिलाने पर यह तैल के समान फैल जाय, अथवा यह पंक-जल-ग्राही हो (पंक के समान कुछ भाग नीचे बैठ जाय और पानी अलग हो जाय), अथवा सौ पल चाँदी और ताँबे को एक पल जल सुनहरा बना दे तो समझना चाहिए कि इस जल में सोना है। यदि ऐसा ही पानी हो; पर उसमें उग्र गन्ध और उग्र रस हो तो शिलाजतु समझना चाहिये। (२।१२।३-४)

यदि भूमिप्रस्तरधातुएँ पीतक (पीले), ताम्रक (ताम्र वर्ण से लाल) या ताम्र-पीतक वर्ण की हों और गलाने पर इनमें नील राजियाँ (streaks) पड़ जावँ (नीलराजीवन्तः), अथवा इनमें मुद्ग-माष के कृसर (gruel) का-सा रंग हो, और गरम करने पर गोली-सी पड़ जायँ; पर ताप्यमान होने पर टूटें नहीं और उसमें से बहुत-सा फेन और धूम निकले तो समझो कि इस मिट्टी में सोने की धातु है। (२।१२।५)

चाँदी की पहिचान—शंख, कर्पूर, स्फटिक, नवनीत (मक्खन), कपोत (भूरा कबूतर), पारावत (कबूतर), विमलक (पक्षीविशेष), मयूरग्रीवावर्ण, सस्यक, गोमेदक, गुड, मत्स्यण्डिक (खांड की राब), कोविदार (कचनार), पद्म, पाटली (नया धान्य), कलाय (मटर), क्षौम (अलसीविशेष), आतसीपुष्प (अलसी का फूल) आदि वर्णवाली मिट्टियों में चाँदी के होने की सम्भावना है। ये मिट्टियाँ **'ससीसाः साञ्जनाः'**, सीस (lead) और आञ्जन (antimony sulphide) युक्त होती हैं, तपाने पर यह मृदु हो जाती हैं; पर स्फुटित नहीं होतीं और इनमें से बहुत-सा फेन और धूम निकलता है। ये धातुएँ जितनी ही गुरुतावाली होंगी, उतनी ही चाँदी के लिए अच्छी समझी जावँगी (सर्वधातूनां गौरववृद्धौ सत्त्ववृद्धिः)। (२।१२।६-७)

धातुकर्म—इन धातुओं में जो अशुद्ध और मूढगर्भ पदार्थ (impurities) हों, उन्हें अलग करने के लिए तीक्ष्ण मूत्रक्षार की भावना देनी चाहिए। फिर राजवृक्ष, वट, पीलु गोपित्तरोचन अथवा महिष, खर और करभ (ऊँट या हाथी के बच्चे) के मूत्र और लण्ड-पिंड (लेंड़ी या विष्ठा) में तपावे, तो धातुएँ शुद्ध होकर बह आती हैं।

जौ, माष, तिल, पलाश, पीलु क्षार या गाय अथवा बकरी के दूध, कदली या वज्रकन्द (सूरन) की भावना दे तो ये धातुखण्ड मृदु हो जाते हैं। (२।१२।८-९)

जो धातुखण्ड सैकड़ों चोटों से भी नहीं टूटते, वे मधु, मधुक (मुलहठी), बकरी के दूध, तेल, घृत, गुड़, किण्व और कन्द के साथ तीन भावनाएँ देने पर ही मृदु हो जाते हैं।

धातुओं को गलाने की विधि का शास्त्रीय नाम 'प्रतीवाप' है[१५]। गोदन्त और गोश्रृंग के साथ प्रतीवाप करने से इन धातुओं का मृदुस्तम्भन (hardening) हो जाता है। (२।१२।११)

ताँबा और सीसा धातु—यदि प्रस्तरधातु भारी, स्निग्ध और मृदु हो तथा भूमिभाग जहाँ पिंगल, हरित या पाटल वर्ण का हो, तो ऐसे स्थान पर ताम्र धातु समझनी चाहिए।

जो भूमिभाग रंग में कांकमेचक (कौए-सा काला), कपोत या गोरोचन-सा, भूरा, श्वेत राजियों (धारियों) से युक्त और दुर्गन्धपूर्ण हो, वहाँ सीसा धातु होती है। (२।१२।१२-१३)

त्रपु और लोह—ऊषर वर्ण, कर्बुर वर्ण या पक्वलोष्ठ वर्ण भूमिखण्ड हो, तो उसमें त्रपु (रांगा, tin) धातु समझनी चाहिए।

कुरुम्ब (चिकने पत्थरवाला), पाण्डुरोहित अथवा सिन्दुवार पुष्प (निर्गुण्डी-पुष्प) जैसे रंग का भूमिभाग हो, तो वहाँ तीक्ष्ण धातु (लोह धातु) समझनी चाहिए।

काकाण्डवर्ण अथवा भुजपत्र (भोजपत्र) वर्ण के भूमि भाग में वैकृन्तक धातु (steel) समझना चाहिए। (२।११।१४-१६)

लोहाध्यक्ष का कार्य्य यह है कि ताम्र, सीस, त्रपु, वैकृन्तक, आरकूट, वृत्त, कंस, ताल आदि के लोहकर्मों को करे[१६]। यह लोह शब्द धातु मात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। वैकृन्तक, आरकूट और वृत्त ये तीन प्रकार के लोहे हैं। (आरकूट का अर्थ पीतल भी किया गया है, और किसी अन्य आचार्य ने वैकृन्तक शब्द का प्रयोग लोहे या इस्पात के अभिप्राय में किया है या नहीं, यह संदिग्ध है)[१७]।

---

(१५) प्रतीवाप—Calcining or fluxing metals–आप्टे।

(१६) लोहाध्यक्षस्ताम्रसीसत्रपुवैकृन्तकारकूटवृत्तकंसताललोहकर्मान्तान् कारयेत्। (२।१२।२५)

(१७) अन्यत्र भी लोह अर्थात् धातुएँ इस प्रकार गिनाई हैं—'कालायसताम्रवृत्तकांस्य-सीस-त्रपुवैकृन्तकारकूटानि लोहानि (२।१७।१५)। इसमें कालायस (काला लोहा), काँसा, सीस और त्रपु तो ठीक हैं; पर वृत्त, वैकृन्तक और आरकूट के विषय में सन्देह है।

अक्षशाला—खान से निकले सोने-चाँदी की जहाँ सफाई की जाती है, उस स्थान या गृह को 'अक्षशाला' कहते हैं। कौटिल्य ने ऐसी अक्षशाला बनवाने का निर्देश किया है, जिसमें एक द्वार और चारों ओर चार कमरे हों (जिनमें परस्पर आने-जाने का सम्बन्ध न हो)। विशिखा या सराफे में विश्वसनीय कुशल सौवर्णिक और शिल्पवान व्यक्ति रक्खे जायँ। (२।१३।१-२)

सोना—सुवर्ण या सोने के इतने भेद हैं—जाम्बूनद (जम्बू नदी से उत्पन्न), शातकुम्भ (शतकुम्भ पर्वत से प्राप्त), हाटक (खान से प्राप्त), वैणव (वेणु पर्वत से प्राप्त), शृंग शुक्तिज (भूमि से उत्पन्न), जातरूप (पर्वत से उत्पन्न शुद्ध सोना), रसविद्ध और आकरोद्‌गत। (२।१३।३)

वह सोना श्रेष्ठ माना गया है जो किञ्जल्क वर्ण हो—मृदु, स्निग्ध और भ्राजिष्णु हो। रक्तपीतक सोना मध्यम है और रक्त वर्ण का निकृष्ट है। श्रेष्ठ स्वर्ण को गलाने पर पाण्डु-श्वेत भाग रह जाता है, उसे 'अप्राप्तक' कहते हैं (**श्रेष्ठानां पाण्डुश्वेतं चाप्राप्तकम्**)।

जो सोना अप्राप्तक रह गया, उसमें चारगुना सीसा डाल कर शोधन करना चाहिए (**तद्येनाप्राप्तकं तच्चतुर्गुणेन सीसेन शोधयेत्**। २।१३।८)। यदि यह सोना सीसा से अन्वयित करने पर फटने लगे तो उसे सूखे कण्डों (शुष्क पटल) के साथ फूँके (**सीसान्वयेन भिद्यमानं शुष्कपटलैर्ध्मापयेत** (२।१३।९)। यदि रुक्षता के कारण फटता हो तो उसमें तेल और गोबर की भावना दे (**रुक्षत्वाद्भिद्यमानं तैलगोमये निषेचयेत्**। **२।१३।१०**)। यदि आकरोद्गत (खान से निकला) सुवर्ण सीसा मिलाने पर फटने लगे तो, तपा कर उसके पत्र बना ले और घन (गण्डिका) पर उसे कूटे और कंदली और वज्रकन्द के कल्क में इसे बुझावे। (**आकरोद्‌गतं सीसान्वयेन भिद्यमानं पाकपात्राणि कृत्वा गण्डिकासु कुट्टयेत्। कन्दली-वज्रकन्दकल्के वा निषेचयेत्**। २।१३।११-१२)

स्वर्णशोधन की इस विधि में सीसे का आयोग बड़े महत्त्व का है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

चाँदी—चाँदी या रूप्य के इतने भेद हैं—तुत्थोद्गत (तुत्थपर्वत से प्राप्त), गौडिक (आसाम से प्राप्त), काम्बुक (कुम्ब पर्वत से प्राप्त) और चाक्रवालिक (चक्रवाल खान से प्राप्त)। श्रेष्ठ चाँदी श्वेत, स्निग्ध और मृदु होती है। इसके विपरीत गुणोंवाली (काली, रुक्ष और खुरदरी) और फटनेवाली चाँदी खराब होती है। उस दुष्ट चाँदी में चौथाई भाग सीसा मिला कर शोधन करे (**तत्सीसचतुर्भागेन शोधयेत्। २।१३।१६**)। जब उसमें चूलिका-सी उठ आवे और दही के रंग-सी चमकने लगे, तो उसे शुद्ध मानना चाहिए (**उद्‌गत चूलिकमच्छं भ्राजिष्णु दधिवर्णं च शुद्धम्। १।१३।१७**)

सोने के परीक्षण में कसौटी (निकष) का प्रयोग—हलदी के समान पीले वर्णवाला शुद्ध स्वर्ण 'एकवर्णक' कहा जाता है। इसमें क्रमशः एक-एक

कांकणी उत्तरोत्तर ताँबा मिलाते जाने पर (चार कांकणी तक) जो सोना मिलता है, उसे षोडशवर्णक कहते हैं।

स्वर्ण की परीक्षा करने के लिए पहले इसे कसौटी पर कसे और फिर कर्णिका को कसे। कसौटी पर खींची रेखा का रंग केसर का-सा हो, स्निग्ध हो, मृदु और भ्राजिष्णु हो तो स्वर्ण श्रेष्ठ समझना चाहिए (**सकेसर स्निग्धो मृदुर्भ्राजिष्णुश्च निकषरागः श्रेष्ठः। २।१३।२४**)। यदि अनिम्नोन्नत देश में (समतल स्थान पर) कसौटी पर रेखा खींची गई है, तो यह एक से रंग की होनी चाहिए (**समरागलेखमनिम्नोन्नते देशे निकषितम्। २।११।२१**), रेखा खींचने में बहुत-से लोग छल भी करते हैं—कभी अधिक रगड़ते हैं, कभी अच्छे सोने की हलकी-सी रेखा खीच देते हैं, कभी नख में गेरू लगा लेते हैं और तब खींचते हैं, ये सब छल हैं (**परिमृदितं परिलीढं नखान्तराद्वा गैरिकेणावचूर्णितमुपधिं विद्यात्, २।१३।२२**)। पुष्पकासीस (पीला हरताल) और हिंगुलक के साथ गोमूत्रभावित हाथ से छूने पर सोने में सफेद-सा रंग आ जाता है। (**जातिहिंगुलकेन पुष्पकासीसेन वा गोमूत्रभावितेन दिग्धेनाग्रहस्तेन संस्पृष्टं सुवर्णं श्वेतीभवति**। २।१३।२३)

कसौटी—कलिंग देश का या तापी नदीवाला मुद्गवर्ण (मूंग के रंग-सा) पाषाण से बना निकष (कसौटी) श्रेष्ठ होता है। यदि इस पर खींची रेखा पूरी लम्बाई में एक रंग की हो, तो यह निकष खरीदने और बेचनेवालों दोनों के लिए हितकर है—(**समरागी विक्रयक्रयहितः** २।१३।२६)। हाथी के चमड़े के समान खुरदरी हरे रंग की कसौटी बेचनेवालों के लिए लाभकर होती है (**हस्तिच्छविकः सहरितः प्रतिरागी विक्रयहितः**। २।१३।२७)। स्थिर, परुष और विषम रंग न देनेवाली खरीदनेवाले के हित की होती है। (**स्थिरः परुषो विषमवर्णश्चाप्रतिरागी क्रयहितः**। २।१३।२८)

चिकना, समवर्णवाला, श्लक्ष्ण, मृदु और भ्राजिष्णु सोना श्रेष्ठ होता है। गरम करने पर बाहर-भीतर एक-सा, किंजल्क वर्ण का या कुरण्डक पुष्प के वर्ण का सोना भी श्रेष्ठ होता है। गरम करने पर जो श्याव (भूरा) या नील रंग का हो जाय, वह 'अप्राप्तक' अथवा खोटा सोना है (२।१३।२९-३१)

इस 'अक्षशाला' में अनायुक्त (बिना आज्ञा प्राप्त व्यक्ति) को भीतर घुसने की आज्ञा नहीं है। कंचन निकालनेवाले, पृषत (गोलियाँ) बनानेवाले, त्वष्ट्र (बढ़ई ?), तपनीयकारव (तपानेवाले कारीगर), धौंकनेवाले (ध्मायक), चरक (दूत या खुफिया), पांसुधावक (झाड़ू देनेवाले और धोनेवाले)—इन सब व्यक्तियों के वस्त्र, हाथ और गुह्य स्थानों की तलाशी ('विचयन') अक्षशाला में घुसते समय और वहाँ से बाहर आते समय लेनी चाहिए। (२।१३।३४-३७)। इसी प्रकार की अन्य सावधानियों के रखने का भी कौटिल्य ने आदेश दिया है।

अक्षशाला में क्या होता है ?—अक्षशाला में तीन कर्म होते हैं—(१) क्षेपण, (२) गुण और (३) क्षुद्रक। काचार्पण आदि करना (अर्थात् काच या मणि आदि का आभरणों में लगाना) क्षेपण कहलाता है। स्वर्ण आदि के सूत्र को

गूँथना गुण कहलाता है। ठोस (घन) या पोली (सुषिर) पृषतों (गोलियों या घुँघरुओं) का बनाना क्षुद्रक कहलाता है।

ताम्रपादयुक्त रूप्य और रूप्यपादयुक्त स्वर्ण अर्थात् ताँबायुक्त चाँदी और चाँदी-युक्त स्वर्ण भी 'संस्कृत' (शुद्ध स्वर्ण) के नाम से ही बिकते हैं। इनसे सावधानी रखनी चाहिए। (२।१३।४१-४६)

त्वष्टृ-कर्म—वैसे तो यह शब्द बढ़ई आदि की कारीगरी के लिए प्रयुक्त होता है; पर चाणक्य ने इस शब्द का प्रयोग चाँदी-ताँबे पर पत्र चढ़ाने के अर्थ में किया है। शुल्बभांड अर्थात् ताँबे के बर्तन या आभूषण पर बराबर भाग सोना चढ़ावे (**त्वष्टृकर्मणः शुल्बभाण्डं समसुवर्णेन संयूहयेत्**—२।१३।४९)। चाँदी का भाण्ड घन हो या घनसुषिर (पोला और कुछ ठोस), तो उसपर आधे सोने का अवलेप करे (**रूप्यभाण्डं घनं घनसुषिरं वा सुवर्णार्धेनावलेपयेत्**। २।१३।५०)। अथवा चतुर्थांश भाग सोना लेकर वालुका और हिंगुलक के रस अथवा चूर्ण के साथ उसपर पानी चढ़ावे (**चतुर्भागसुवर्णं वालुकाहिंगुलकस्य रसेन चूर्णेन वा वासयेत्**। २।१३।५१)। इस काम के लिए 'तपनीय स्वर्ण' श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें सुन्दर रंग होता है। इसमें बराबर का सीसा डाल कर इसके पत्रों को तपावे। इसे सैन्धविका (सिन्धु देश की मिट्टी—जैसे मुलतानी मिट्टी) से उज्ज्वल करे और तब इसे नील, पीत, श्वेत, हरित, कपोत आदि रंगवाले मणियों के साथ जड़े। तीक्ष्ण ताप देने पर यह मयूर-ग्रीवा के रंग का और काटने पर श्वेत और चिमचिमाता हुआ ('चिम-चिमायितम्') निकलता है। पीत सुवर्ण में एक काकणि (¼ माशा ताँबा) मिला देने से चमक बढ़ जाती है। (२।१३।५२-५३)

चाँदी का शोधन और मिश्रण—चाँदी का नाम चाणक्य ने 'तार' भी दिया है और एक विशेष प्रकार की चाँदी को 'श्वेत तार' भी कहा है।

अस्थितुत्थ में (हड्डी की आग में अथवा हड्डी की बनी मूषा में) चार बार, बराबर भाग सीसा और मिट्टी की बनी मूषा में चार बार, शुष्क तुत्थ में (शुष्क कंकड़ों की मिट्टी में) चार बार, कपाल में तीन बार और गोबर की आग में दो बार तुत्थातिक्रान्त करने पर तथा सत्रह बार आग में तपाने पर एवं अन्त में सैन्धविका मिट्टी से रगड़ने पर 'तार' (चाँदी) शुद्ध हो जाता है (**तारमुपशुद्धं वास्थितुत्थे चतुः समसीसे चतुः शुष्कतुत्थे चतुः कपाले त्रिर्गोमये द्विरेवं सप्तदशतुत्थातिक्रान्तं सैन्धविकयोज्ज्वालितम्**। २।१३।५४)

इस 'तार' चाँदी को एक-एक काकणि (¼ माशा) लेकर सोने में तबतक मिलाता जावे जबतक कि दो माशा चाँदी न हो जाय और फिर रंग चमकाया जाय (राग योग या पॉलिश)। इस तरह बनी चाँदी को 'श्वेत तार' कहेंगे।

तीन अंश 'तपनीय स्वर्ण' को लेकर उसमें 'श्वेत तार' के ३२ अंश मूर्छित कर दिये जायँ तो 'श्वेत लोहितक' नामक स्वर्ण बनेगा।

'तपनीय स्वर्ण' को उज्ज्वल करके उसमें तीन भाग ताँबा मिला दे तो रंग पीला और लाल हो जाता है। 'श्वेत तार' नामक चाँदी में सोना मिलाने से मुद्ग वर्ण (मूँग

के रंग) का सोना मिलेगा। कालायस लोहे के मिला देने से 'कृष्ण' स्वर्ण मिलेगा। इसी प्रकार शुक-पत्र के रंग-सी मिश्र धातु बनाने का भी विधान है (२।१३।५५-६२)।

कौटिल्य ने विस्तार से इस बात की भी मीमांसा की है कि सुनारी के कार्य में सोने का कितना 'क्षय' (छीजन) क्षम्य है और कितनी मात्रा से अधिक क्षय हो जाय तो सौवर्णिक को दण्ड देना चाहिए। (२।१४।७-१५)

सिक्कों में ताँबा, सोना, चाँदी आदि—पण या सिक्के बनानेवालों के अध्यक्ष को चाणक्य की परिभाषा में लक्षणाध्यक्ष कहते हैं—

लक्षणाध्यक्षश्चतुर्भाग-ताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्यतमं माषबीजयुक्तं कारयेत् पणमर्धपणं पादमष्टभागमिति । (२।१२।२७)

ये सिक्के ताँबे, चाँदी, तीक्ष्ण त्रपु, सीस और अञ्जन को मिलाकर बनाये जाते थे। एक पण १६ माषा का होता था जिसमें ४ माषा ताँबा, १ माषा तीक्ष्ण त्रपु, सीस और अञ्जन और शेष ११ माषा चाँदी होती थी। **पण** का आधा **अर्धपण** (जैसे अठन्नी), चौथाई **पादपण** (चवन्नी), आठवाँ भाग **अष्टभागपण** (दुअन्नी) कहलाता था।

चवन्नी के स्थान में ताँबे का एक सिक्का जिसे **'माषक'** भी कहते हैं, प्रचलित था जिसमें ग्यारह माषा ताँबा, चार माषा चाँदी और एक माषा लोहा होता था। इसी हिसाब से **अर्धमाषक, काकणी** और अर्धकाकणी नामक सिक्के भी चलते थे। (२।१२।२७,२८)।

स्वर्णापहरण की विधियाँ—सुनार लोग चार प्रकार के आभूषण तैयार करते थे—संयूह्य (मोटे पत्र चढ़े हुए), अवलेप्य (पतले पत्र चढ़ाये हुए), वासितक (पानी दिये हुए) और संघात्य (कड़ियाँ जोड़ कर बने हुए)। इनमें से कुछ आभरण तो ठोस (घन) बनते थे और कुछ ठोस-पोले (घन सुषिर)। **घनं घनसुषिरं संयूह्यमवलेप्यं संघात्यं वासितकं च कारुकर्म** । (२।१४।१८)

स्वर्णादि धातुओं से आभरण बनाने की क्रिया में सौवर्णिक (सुनार) तरह-तरह से सोने को उड़ा सकता है। चालाकी से इस उड़ा देने का नाम 'अपहरण' करना है। स्वर्णापहरण पाँच प्रकार से किया जाता है—

तुलाविषममपसारणं विस्रावणं पेटकः पिंकश्चेति हरणोपायाः । (२।१४।१९)

अर्थात् तुलाविषम (तराजू खराब करके), अपसारण (अन्य धातुएँ मिला कर अपहरण कर देना), विस्रावण(परीक्षा हो लेने के बाद उड़ा देना), पेटक (लाख आदि से जोड़ते समय उड़ा देना), और पिंक (सोने-चाँदी के स्थान पर काँच जड़ कर सोना चाँदी उड़ा देना)।

तुलाविषमता—यह आठ प्रकार की है—संनामिनी (अँगुली से तराजू की डंडी झुक जानेवाली), उत्कीर्णिका (ऐसी डंडी हो जिसमें लोहा भरा जा सके), भिन्न मस्तका, उपकण्ठी (गाँठोंवाली), कुशिक्या (खराब पलड़ेवाली), सकटुकक्ष्या (खराब डोरी से बनी तुला), पारिवेली (वायुप्रवाह से हिलनेवाली) और अय-

स्कान्ता (चुम्बक लगी)। इस प्रकार की तराजुएँ धोखेवाली होती हैं और स्वर्ण के व्यापार में छली व्यक्ति इनका उपयोग करते हैं। **सन्नामिन्युत्कीर्णिका भिन्नमस्तकोपकण्ठी कुशिक्या सकटुकक्ष्या पारिवेल्ययस्कान्ता च दुष्टतुलाः**। २।१४।२०)

अपसारण—यह कई प्रकार का होता है—त्रिपुटकापसारण, शुल्वापसारण, वेल्लकापसारण, हेमापसारण आदि।

दो भाग चाँदी में एक भाग ताँबा मिला देने से त्रिपुटक बनता है। त्रिपुटक मिलाकर जब सोना उड़ाते हैं, तब उसे त्रिपुटकापसारण कहते हैं। केवल ताँबा मिलाकर जब उड़ाते हैं, तब शुल्वापसारण कहते हैं। लोहे और चाँदी के मिश्रण से 'वेल्लक' तैयार करते हैं, और इसकी सहायता से जो अपसारण होता है, वह वेल्लकापसारण है। ताँबा और सोना मिलाकर हेमन् बनता है और इससे जो अपसारण होता है, वह हेमापसारण कहलाता है।

मूकमूषा पूतिकिट्टः करटकमुखं नाली संदंशो जोङ्गनी सुवर्च्चिका लवणम्। तदेवसुवर्णमित्यपसारणमार्गाः। (२।१४।२६,२७)

अपसरण के काम में मूकमूषा (छिपी मूषा), पूतिकिट्ट (लोहकिट्ट या जंग), करटकमुख (कन्नी), नाली (नाल), संदंश (संड़ासी), जोङ्गनी (लोहे या लकड़ी की छड़ी) और सुवर्च्चिक (शोरा या सुहागादि-लवण) सहायता देते हैं। इनके द्वारा सोना उड़ा दिया जाता है, और 'तुम्हारा सोना ऐसा ही है' कह कर स्वर्णकार सोना अपहरण कर लेता है।

पूर्णप्रणिहिता वा पिण्डवालुका मूषाभेदादग्निष्ठा उद्ध्रियन्ते। (२।१४।२८)

बहुत-सी पिण्डवालुका पहले से ही छिपा कर रख दी जाती है, और मूषाएँ छल पूर्वक बदल दी जाती हैं और इस प्रकार भी सोने का अपहरण हो जाता है।

विस्रावण—विस्रावणक्रिया का वर्णन चाणक्य ने इस प्रकार किया है—**पश्चाद् बन्धने आचितकपत्रपरीक्षायां वा रूप्यरूपेण परिवर्त्तनं विस्रावणम्**। (२।१४।२९)

कड़ियाँ जोड़ लेने के बाद और जड़े हुए (आचितक) पत्रों की परीक्षा हो लेने के बाद चाँदी मिले हुए पत्रों को बदल देने का नाम विस्रावण है।

पिण्डवालुकानां लोहपिण्डवालुकाभिर्वा (२।१४।३०)। स्वर्ण की बालू को लोहे की खान की बालू से बदल देने को भी विस्रावण कहते हैं।

पेटक—यह दो प्रकार का है—गाढ और अभ्युद्धार्य। अपहरण की इस विधि का उपयोग संयूह्य, अवलेप्य और संघात्य कर्मों में करते हैं—

(**गाढश्चाभ्युद्धार्यश्च पेटकः संयूह्यावलेप्य संघात्येषु क्रियते**। २।१४।३१)

सीसे के पत्रों को स्वर्ण के पत्रों से लाख आदि द्वारा जोड़कर जो स्वर्ण उड़ाया जाता है, उसे गाढपेटक कहते हैं (**सीसरूपं सुवर्णपत्रेणावलिप्तमभ्यन्तरमष्टकेन**

बद्धं गाढपेटकः । २।१४।३२)। यही बन्धन अष्टक अर्थात् लाख आदि द्वारा दृढ़ न किया जाय तो इसे अभ्युद्धार्यपेटक कहते हैं (**स एव पटलसंपुटेष्वभ्युद्धार्यः** । २।१४।३३)।

अवलेप्य कर्म में या तो दो पत्रों को जोड़कर एक-सा कर देते हैं, या दो स्वर्ण-पत्रों के बीच में चाँदी या ताँबे का पत्र लगा देते हैं। यह भी पेटक है (**पत्रमाश्लिष्टं यमकपत्रं वावलेप्येषु क्रियते** । २।१४।३४), पत्रों के गर्भ में शुल्ब और तार (ताँबा और चाँदी) भी कभी-कभी लगा देते हैं (**शुल्बं तारं वा गर्भः पत्राणाम्** । २।१४।३५)

संघात्य क्रिया में (कड़ियाँ जोड़ने में) ताँबे के पत्र सोने के पत्रों में छिपा कर जोड़ दिये जाते हैं (**संघात्येषु क्रियते शुल्बरूपसुवर्णपत्रसंहतं प्रमृष्टं सुपार्श्वम्** । २।१४।३६)। कभी-कभी भीतर से ताँबा-चाँदी भर के ऊपर से अच्छा रंग बना देते हैं–(**तदेव यमकपत्रसंहतं प्रमृष्टं ताम्रताररूपं चोत्तरवर्णकः** । २।१४।३७)

इनकी परीक्षा ताप से, निकष (कसौटी) से, निश्शब्द (चोट मारने से) और उल्लेखन (लकीर खींचने) से हो सकती है (**तदुभयं तापनिकषाभ्यां निःशब्दोल्लेखनाभ्यां वा विद्यात्** । २।१४।३८) । अभ्युद्धार्यपेटक की पहिचान बदराम्ल (बेर के खट्टे रस) या लवणोदक (नमक के पानी) से भी हो सकती है— **अभ्युद्धार्यं बदराम्ले लवणोदके वा साधयन्तीति पेटकः** । (२।१४।३९)

पिङ्क अपहरण— ठोस या पोले चाँदी सोने के आभूषणों में काँच जड़ कर सोना-चाँदी उड़ा देना 'पिङ्कापहरण' कहलाता है (**मणयो रूप्यं सुवर्णं वा घनसुषिराणां पिङ्कः** । २।१४।४६)। इस पिङ्क कर्म का पता गरम करने या तोड़ देने से ही हो सकता है (**तस्य तापनमध्वंसनं वा शुद्धिरिति पिङ्कः** । २।१४।४७)

पुराने आभूषणों में से अपहरण—चाणक्य ने इसकी चार विधियाँ बताई हैं - परिकुट्टन, अवच्छेदन, उल्लेखन और परिमर्दन (**परिकुट्टनमवच्छेदनमुल्लेखनं परिमर्दनं वा** (२।१४।५०)।

पेटकपरीक्षा के बहाने घुँघरू (पृषत), तार (गुण) और पत्र (पिटक) को जो काट लिया जाता है, उसे 'परिकुट्टन' कहते हैं (**पेटकापदेशेन पृषतं गुणं पिटकां वा यत्परिशातयन्ति तत्परिकुट्टनम्** । २।१४।५१)

द्विगुणित स्वर्णवाले आभूषण के भीतर कुछ सीसा या चाँदी भर देना और उतना ही सोना काट लेना 'अवच्छेदन' कहलाता है। (**यद् द्विगुणवास्तुकानां वा रूपे सीसरूपं प्रक्षिप्याभ्यन्तरमवच्छिन्दन्ति तदवच्छेदनम्** । २।१४।५२)

घन (ठोस) सोने में से तीक्ष्ण यंत्र (रेती आदि द्वारा सोना खुरेत लेने को 'उल्लेखन' कहते हैं (**यद्घनानां तीक्ष्णेनोल्लिखन्ति तदुल्लेखनम्** । २।१४।५३)।

हरिताल, मनःशिला और हिंगुलक चूर्णों से अथवा कुरुविन्दचूर्ण (corundum powder) से रगड़ कर सोना अपहरण करना 'परिमर्दन' कहलाता है (**हरिताल-मनःशिला-हिङ्गुलकचूर्णानामन्यतमेन कुरुविन्दचूर्णेन वा वस्त्रं संयूह्य यत्परिमृदुनन्ति तत्परिमर्दनम्** । २।१४।५४ ।) इन विधियों से सुवर्ण और रजत के भाण्डों का क्षय होता है।

इन विधियों से सोना हरने की प्रथा चाणक्य के समय में थी और चाणक्य ने इनकी ओर से सावधान रहने का उल्लेख किया है।

अन्त में चाणक्य का कहना है कि जब कभी स्वर्णाध्यक्ष यह देखे कि कोई सौवर्णिक (सुनार) अनावश्यक या अनुचित रूपसे निम्नलिखित कार्य कर रहा है, या निम्नलिखित पदार्थों की ओर ध्यान दे रहा है, तब उसे समझना चाहिए कि वह अपहरण करने का अवसर ढूँढ़ रहा है—

अवक्षेपः प्रतिमानमग्निर्गण्डिकाभण्डिकाधिकरणी पिच्छः सूत्रं चेल्लं बोल्लनं शिर उत्संगो मक्षिका स्वकायेक्षादृतिरुदकशरावमग्निष्ठमिति काचं विद्यात्। (२।१४।६०)

अवक्षेप (इधर-उधर फेंकना), प्रतिमान (उलट देना या बदल देना—तौलते समय), अग्नि (आग में), गण्डिका (घन), भण्डिका (मिट्टी आदि के पात्र, सम्भवतः सोना गलाने के बाद डालने के समय), अधिकरणी (बैठने seat या सोना रखने के पात्र), पिच्छ (assaying balance), चेल्ल (वस्त्र), बोल्लनं (कहानी द्वारा गाहक का ध्यान बटाना), शिर उत्संग (गोदी), मक्षिका (मक्खी उड़ाने के बहाने), अपनी काया की ओर देखने की उत्सुकता, उदकशराव (जलपात्र), दृति (धौंकनी), अग्निष्ठ (अंगीठी)।

तोल और माप

[Weights and Measures]

जिस विभाग का सम्बन्ध तोल और माप के स्थिरीकरण से है, उसके अध्यक्ष को 'पौतवाध्यक्ष' कहते हैं और इसके कार्य्य का नाम पौतवकर्म है। तौलने में माष (उड़द का दाना), गुञ्जा (रत्ती), सर्षप (सरसों का दाना), शैम्ब्य (सेम का दाना) और तण्डुल (तिल का दाना)—ये आदर्श मान माने गये हैं।

१० माषा या ५ गुञ्जा = १ सुवर्णमाषा [**धान्यमाषादशसुवर्णमाषकः पंच वा गुञ्जाः** । २।१९।२]

१६ माषा = १ सुवर्ण या कर्ष [**ते षोडश सुवर्णः कर्षो वा** । २।१९।३]

४ कर्ष = १ पल [**चतुःकर्षं पलम्** । २।१९।४]

८८ श्वेत सरसों = १ रूप्य-माषक [**अष्टाशीतिर्गौरसर्षपा रूप्यमाषकः** । २।१९।५]

१६ माषा = २० शैम्ब्य = १ धरण [**ते षोडशधरणम्** । **शैम्ब्यानि वा विंशतिः** । २।१९।६–७]

२० तंडुल = १ वज्रधरण (हीरा तौलनेका धरण) [**विंशति तण्डुलं वज्रधरणम्** । २।१९।८]

तौलनेवाले के पास निम्नांकित बाट होने चाहिए—

अर्धमाषकः माषकः द्वौ चत्वारः अष्टौ माषकाः सुवर्णो द्वौ चत्वारः

अष्टौ सुवर्णाः दशविंशतिः त्रिंशत् चत्वारिंशत् शतमिति। तेन धरणानि व्याख्यातानि। (२।१९।९–१०)

(१) अर्धमाषक, (२) माषक, (३) द्विमाषक, (४) चतुःमाषक, (५) अष्टमाषक, (६) सुवर्ण, (७) द्विसुवर्ण, (८) चतुःसुवर्ण, (९) अष्ट सुवर्ण, (१०) दश सुवर्ण, (११) विंशति सुवर्ण, (१२) त्रिंशत् सुवर्ण, (३० सुवर्ण), (१३) चत्वारिंशत् सुवर्ण और (१४) शत सुवर्ण और इसी प्रकार धारण नामक बाट भी हो।

ये बाट (प्रतिमान) लोहे के बनाये जावँ अथवा मगध या मेकल देश के पत्थर के बने हों। ये ऐसे पदार्थ के हों जो पानी आदि पदार्थों से वृद्धि को न प्राप्त हों और न गरमी से जिनमें ह्रास हो—

प्रतिमान्ययोमयानि मागधमेकलशैलमयानि यानि वा
नोदकप्रदेहाभ्यां वृद्धिं गच्छेयुरुष्णेन वा ह्रासम्। (२।१९।११)

अन्य मान—

२०० पल (धान्य माष के) =१ आयमान द्रोण [**अथ धान्यमाषद्विपलशतं-द्रोणमायमानम्**। २।१९।३२]

१८७½ पल =१ व्यावहारिक द्रोण [**सप्ताशीतिपलशत-मर्धपलं च व्यावहारिकम्**। २।१९।३३]

१७५ पल =१ भाजनीय द्रोण [**पञ्चसप्ततिपलशतं भाजनीयम्। २।१९।३४**]

१६२½ पल =१ अन्तःपुर भाजनीय द्रोण [**द्विषष्टिपलशत-मर्धपलं चान्तःपुरभाजनीयम्**। २।१९।३५]

आयमानी माप वह है जो राजकीय कार्य्यों में चले। व्यावहारिक माप जनता के लिए है। भाजनीय माप नौकरों के लिए और अन्तःपुर भाजनीय माप रनिवास या अन्तःपुर में प्रयुक्त होने के लिए है। यह भेद अन्य मापों में भी रक्खा गया है। ऊपर दिये गये द्रोण मापों में क्रमशः १२½ पल की कमी आयमान से लेकर अन्तःपुर के मापों में होती गई है।

द्रोण के चौथाई भाग को '**आढक**' और आढक के चौथाई भाग को '**प्रस्थ**' और प्रस्थ के चौथाई भाग को '**कुडुब**' या '**कुडुम्ब**' कहते हैं। [**तेषामाढक-प्रस्थ-कुडुम्बश्चतुर्भागावराः। षोडशद्रोणा खारी। विंशतिद्रोणिकः कुम्भः। कुम्भै-र्दशभिर्वहः**। २।१९।३६–३९]

४ कुडुम्ब = १ प्रस्थ
४ प्रस्थ = १ आढक
४ आढक = १ द्रोण
१६ द्रोण = १ खारी या वारी
२० द्रोण = १ कुम्भ
१० कुम्भ = १ वह

अनाजों को नापने की तौल (आयतन से)—सूखी बढ़िया लकड़ी का बना हुआ, नीचे ऊपर से बराबर, चतुर्भाग शिखावाला (The conically heaped up portion of the grains standing on the mouth of the measure is equal to 1/4 of the quantity of the grains so measured) अन्न नापने का मानपात्र होना चाहिए। यह मान अन्तःशिख भी बनाया जा सकता है (measures can be so made that grains can be measured level to the mouth)। [**शुष्कसारदारुमयं समं चतुर्भागशिखं मानं कारयेत्। अन्तःशिखं वा** । २।१९।४०-४१]।

द्रवपदार्थ आदि नापने के मान—अन्तःशिखमान का उपयोग रसों के नापने में भी होता है अर्थात् नापते समय उन्हें मुखतल तक भरना चाहिए (**रसस्य तु** । २।१९।४२)।

सुरा, पुष्प, फल, तुषा (भूसा), अंगार (कोयला) और सुधा (सफेदी के काम का चूना) नापने में शिखामान को और दुगुना बढ़ा कर देना चाहिए (**सुरायाः पुष्पफलयोस्तुषाङ्गाराणां सुधायाश्च शिखामानं द्विगुणोत्तरा वृद्धिः** । ।१९।४३)।

१ द्रोण का मूल्य = १¼ पण [**सपादपणो द्रोणमूल्यम्** । २।१९।४४]
१ आढक ,, = ¾ पण [**आढकस्य पादोनः** । २।१९।४५]
१ प्रस्थ ,, = ६ माषक [**षण्माषकाः प्रस्थस्य** । २।१९।४६]
१ कुडुब ,, = १ माषक [**आषकः कुडुबस्य** । २।१९।४७]

रसों की मापों का मूल्य इनका दुगुना होता है (**द्विगुणं रसादीनां मान-मूल्यम्** । २।१९।४८)। प्रतिमान का मूल्य २० पण और तुलामूल्य इसका एक तिहाई अर्थात् ६⅔ पण है (**विंशतिपणाः प्रतिमानस्य । तुलामूल्यं त्रिभागः** । २।१९।४९,५०)।

प्रतिवेधन (मुहर लगाने) के कार्य्य के लिए पौतवाध्यक्ष चार माषा ग्रहण कर सकता है (**चतुर्माषकं प्रातिवेधनिकं कारयेत्**[१८] २।१९।५१)। जो व्यक्ति अप्रतिविद्ध प्रतिमानों (बिना मुहर लगे बाटों का उपयोग करेगा उसे २७¼ पण का दण्ड लगेगा। (**अप्रतिविद्धस्यात्ययः सपादः सप्तविंशति पणः** । २।१९।५२)।

घी के व्यापारी यदि पिघला घी बेचें तो उन्हें १/३२ भाग अधिक 'ततव्याजी' के रूप में देना चाहिए (**द्वात्रिंशद्भागस्तप्तव्याजी सर्पिषश्चतुःषष्टिभाग-स्तैलस्य** । २।१९।५४)। तेल के व्यापारी को १/६४ भाग ततव्याजी देनी चाहिए।

तेल के समान द्रव नापते समय कुछ द्रव नपने में रह जाता है। इसकी पूर्ति का नाम मानस्राव है। मानस्राव के रूप में (घेलुआ के रूप में) ५० वाँ भाग देना चाहिए (**पञ्चाशद्भागो मानस्रावो द्रवाणाम्** । २।१९।५५)

(१८) अथवा चतुर्मासिकं प्रतिवेधनिकं कारयेत् अर्थात् प्रतिवेधनकार्य्य (बाँटों और तुला की जाँच पड़ताल का काम) प्रत्येक चौथे महीने होना चाहिए।

कुडुव के अर्ध, चौथाई और आठवें भाग के नपने भी बनने चाहिए। घी के तौलने में—

८४ कुडुब=१ वारक

और तेल के तौलने में—

६४ कुडुब=१ वारक

घी या तेल के ¼ वारक नपने को घटिका कहते हैं।

कुडुबाश्चतुरशीतिर्वारकः सर्पिषो मतः।
चतुःषष्टिस्तु तैलस्य पादश्च घटिकानयोः ॥ २।१९।५७।

तुला या तराजू—चाणक्य ने अपने इसी अध्याय में विभिन्न तुलाओं का अच्छा विवरण दिया है।

छः अंगुल से लेकर ८-८ अंगुल बढ़ाते हुए और भार में एक पल से लेकर एक-एक पल लोह बढ़ाते हुए दश प्रकार की तुलाएँ बनाई जाती हैं। (अन्तिम तुला का लीवर ७८ अंगुल का होगा और इससे १० पल तौल तुल सकेगी)। इस तुला में दोनों ओर शिक्य (Pan with strings) होंगे—

षडङ्गुलादूर्ध्वमष्टाङ्गुलोत्तरा दशतुलाः कारयेल्लोहपलादूर्ध्व-
मेकपलोत्तरा। यन्त्रमुभयतः शिक्यं वा। (२।१९।१२)

'समवृत्ता' तुला ३५ पल लोह तौलनेवाली और ७२ अंगुल आयाम (length) की होती है। इसके सिरों पर पाँच पल तौल का मण्डल (scale pan) दोनों ओर लटका कर समकरण (balanced) किया होता है। काँटे की डण्डी पर एक कर्ष, दो कर्ष, तीन कर्ष, पल, दश पल, द्वादश पल, पंचदश पल और विंशति पल सूचक चिह्न लगा दे। बीस पल के आगे दस-दस पल के अन्तर से सौ पल तक के चिह्न लगावे। पाँच और पाँच के गुणितों अर्थात् अक्षों को सूचित करने के लिए **नान्दी चिह्न** (स्वस्तिक आदि) लगा दे[१९]। (२।१९।१३-१६)

समवृत्ता तुला से दुगुनी लोह तौलनेवाली और ९६ अंगुल आयाम की तुला को 'परिमाणी' तुला कहते हैं—**द्विगुणलोहां तुला मतः षण्णवत्यङ्गुलायामां परिमाणीं कारयेत्** (२।१९।१७)। इसके लीवर में शत के चिह्न के ऊपर २०,५० और १०० के चिह्न लगे होते हैं—**तस्याःशतपदादूर्ध्वं विंशतिः पञ्चाशत् शतमिति पदानि कारयेत्** (२।१९।१८)—इसमें माप इस प्रकार है—

१०० पल = १ तुला

२० तुला = १ भार

१० धरण=१ पल (धरण पल)—यह पहले पल से भिन्न है। उससे १ कर्ष अधिक होता है।

---

(१९) पञ्चत्रिंशत्पललोहां द्विसप्तत्यंगुलायामां समवृत्तां कारयेत्। १३।
तस्याः पञ्चपलिकं मण्डलं बद्ध्वा समकरणं कारयेत्। १४।
ततः कर्षोत्तरं पलं पलोत्तरं दशपलं द्वादशपञ्चदशविंशतिरिति पदानि कारयेत्।१५।
तत आशताद्दशोत्तरं कारयेत्। १६। अक्षेषु नान्दीपिनद्धं कारयेत्। १७।



चित्र ४—मोगल समय का मीना किया हुआ हुक्के
का आधार-पात्र। (पृष्ठ २११)

इस प्रकार का १०० पल=१ आयमानी (राजकीय आय का माप)

आयमानी की अपेक्षा व्यावहारिका, भाजिनी और अन्तःपुर भाजनी मापें क्रमशः पाँच-पाँच पल कम होती जाती हैं। व्यावहारिका माप का उपयोग जनता के लिए, भाजिनी का नौकरों के लिए और अन्तःपुर भाजिनी का रनिवास के लिए होता है। अर्थात् (**पंचपलावरा व्यावहारिकी भाजिन्यन्तःपुरभाजनी च** । २।१९।२३)

व्यावहारिका	तुला में	९५	धरण पल तुलते हैं।
भाजिनी	,,	९०	,,
अन्तःपुर भाजिनी	,,	८५	,,

इस तरह परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार का है—**तासामर्धधरणावरं पलम्** । २।१९।२४)

१० धरण	=१ पल	आयमानी
९½ ,,	=१ पल	व्यावहारिका
९ ,,	=१ पल	भाजिनी
८½ ,,	=१ पल	अन्तःपुर भाजिनी।

लीवर की लोह तौल क्रमशः दो-दो पल कम होती जाती है और आयाम छः-छः अंगुल कम होता जाता है (**द्विपलावरमुत्तरलोहम्। षडङ्गुलावराश्चायामाः** । २।१९।२५-२६)

आयमानी	७२ इञ्च आयाम की (लम्बी), और	५३ पल तौल की है।
व्यावहारिका	६६ ,,	५१ ,,
भाजिनी	६० ,,	४९ ,,
अन्तःपुर भाजिनी	५४ ,,	४७ ,,

आठ हाथ लम्बे लीवरवाली, पद (चिह्नों) से अंकित (graduated पदवती) और बाटोंवाली (प्रतिमानवती) लकड़ी की बनी मयूर के समान पदाधिष्ठित होनी चाहिये (**काष्ठतुला अष्टहस्ता पदवती प्रतिमानवती मयूरपदाधिष्ठिता** २।१९।२८)

पच्चीस पल काष्ठसे एक प्रस्थ चावल पकता है (Fuel value)—**काष्ठपञ्चविंशति पलं तण्डुलप्रस्थसाधनम्** (२।१९।२९)

देश के मान (लम्बाई आदि के)—मानाध्यक्ष को देश और काल के मान का ज्ञाता होना चाहिए। इस देश-काल के मान का उल्लेख एक पूरे अध्याय (२।२०) में किया गया है। रथचक्र से उड़ी धूल का कण 'रथचक्र-विप्रुट्' कहलाता है। उसकी लम्बाई आठ परमाणुओं की लम्बाई के बराबर मानी जाती है।

८ परमाणु	=	१ विप्रुट
८ विप्रुट	=	१ लिक्षा
८ लिक्षा	=	१ यूकामध्य (औसत जुआँ) या यूक
८ यूक	=	१ यवमध्य (औसत यव)

८ यव	=	१ अंगुल❀ (मध्यमस्य पुरुषस्य मध्यमाया अंगुल्या मध्यप्रकर्षो वाङ्गुलम् । २।२०।७)
४ अंगुल	=	१ धनुर्ग्रह
८ अंगुल	=	१ धनुर्मुष्टि
१२ अंगुल	=	१ वितस्ति (बिलांद या बीता) या छाया पुरुष
१४ अंगुल	=	१ शम, शल, परिरय या पद
२ वितस्ति	=	१ अरत्नि (१ हाथ) या प्राजापत्यहस्त
१ अरत्नि+१ धनुर्ग्रह	=	१ पौतव या विवीतमान (तराजू और चरागाह भूमि नापने का)
१ अरत्नि+१धनुर्मुष्टि	=	१ किष्कु या १ कंस
४२ अंगुल	=	१ क्राक-चिक किष्कु (आराकसों और लोहारों का; और स्कान्धावार और दुर्ग नापने का)
५४ अंगुल	=	१ कुप्यवन हस्त (जंगली लकड़ी नापने का)
८४ अंगुल	=	१ व्याम (रस्सी नापने का या गड्हे की गहराई नापने का)
४ अरत्नि	=	१ दण्ड = १ धनु = १ नालिक
१०८ अंगुल	=	१ गार्हपत्य धनु (गृहपति = बढ़ई); यह सड़क और किले की दीवारें नापने का है ।
१०८ अंगुल	=	१ पौरुष (यज्ञभूमि नापने का)
६ कंस	=	१९२ अंगुल = १ दण्ड (ब्राह्मणों को दी भूमि नापने का)
१० दण्ड	=	१ रज्जु (१ दण्ड = ४ हस्त)
२ रज्जु	=	१ परिदेश (वर्गमाप)
३ रज्जु	=	१ निवर्त्तन (वर्गमाप)
३ रज्जु + २ दण्ड	=	१ बाहु
१००० (२०००?) धनु	=	१ गोरुत (= १ कोश)
४ गोरुत	=	१ योजन

कालमान (Measures of time)—काल को निम्नांकित इकाइयों में विभक्त किया है—तुट या त्रुटि, लव, निमेष, काष्ठा, कला, नालिका, मुहूर्त्त, पूर्वभाग (forenoon), अपरभाग (अपराह्ण afternoon), दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर और युग । (२।२०।३०)

२ तुट	=	१ लव
२ लव	=	१ निमेष
५ निमेष	=	१ काष्ठा

❀ औसत पुरुष की बीच की अंगुली (मध्यमा) का बीच का भाग—इतनी मोटाई एक अंगुल कहलाती है ।

३० काष्ठा = १ कला
४० कला = १ नालिका
२ नालिका = १ मुहूर्त्त
१५ मुहूर्त्त = १ दिन = १ रात्रि (चैत्र और आश्विन के दिनरात)
१५ अहोरात्र = १ पक्ष
२ पक्ष = १ मास
२ मास = १ ऋतु
३ ऋतु = १ अयन
२ अयन = १ संवत्सर
५ संवत्सर = १ युग

जब धूपघड़ी में छाया ८ पौरुष (९६ अंगुल) की हो, तब दिन का १८वाँ भाग व्यतीत हुआ। बहत्तर अंगुल छाया रहने पर दिन का चौदहवाँ भाग व्यतीत होता है, अड़तालीस अंगुल (४ पौरुष) छाया रहने पर दिन का आठवाँ भाग होता है, दो पौरुष (२४ अंगुल) छाया रहने पर छठा भाग और एक पौरुष छाया रहने पर दिन का चौथा भाग, ८ अंगुल छाया रहने पर ३/१० भाग और ४ अंगुल छाया रहने पर ३/८ भाग। जब छाया बिल्कुल न रहे तो मध्याह्न समझना चाहिए। परावृत्त दिवस में (यानी यदि दिन उलट पड़े) तो इसी प्रकार से शेष की गणना करनी चाहिए[२०] (२।२०।४० + ४८)

आषाढ़ मास में मध्याह्न में छाया का पता नहीं चलता। श्रावण के मास से आगे छः मास तक दो अंगुल छाया बढ़ती है और माघ मास से लेकर शेष छः महीनों तक दो अंगुल छाया घटती है।[२१]

नालिका—चार स्वर्ण माषक मोटा और चार अंगुल लम्बा छिद्र यदि कुम्भ (घड़े) में कर दिया जाय, तो उसमें से एक आढक जल जितनी देर में निकले, उस समय को नालिका कहते हैं।

दो नालिका का एक मुहूर्त्त, १५ मुहूर्त्त के दिन और रात चैत्र एवं आश्विन मास में होते हैं। इनके आगे तीन मुहूर्त्त तक दिन और रात घट बढ़ जाते हैं।(२।२०।३६-३९)[२२]

विभिन्न प्रकार के मास—तीस अहोरात्र (दिनरात) के मास का नाम

(२०) छायायामष्टपौरुष्यामष्टादश भागश्छेदः। षट्पौरुष्यां चतुर्दशभागः। चतुष्पौरुष्यामष्टभागः। द्वि-पौरुष्यां षड्भागः। पौरुष्यां चतुर्भागः। अष्टाङ्गुलायां त्रयोदशभागाः। चतुरङ्गुलायां त्र्योऽष्टभागाः। अच्छायो मध्याह्न इति। परावृत्ते दिवसे शेषमेवं विद्यात्। (२।२०।४०—४८)

(२१) आषाढे मासि नष्टच्छायो मध्याह्नो भवति। अतःपरं श्रावणादीनां षण्मासानां द्व्यङ्गुलोत्तरा माघादीनां द्व्यङ्गुलावरा छाया इति। (२।२०।४९-५०)

(२२) सुवर्णमाषकाश्चत्वारश्चतुरंगुलायामाः कुम्भच्छिद्रमाढकमम्भसो वा नालिका। द्विनालिको मुहूर्त्तः। पंचदश मुहूर्तो दिवसो रात्रिश्च चैत्रे मास्याश्वयुजे च मासि भवतः। ततःपरं त्रिभिर्मुहूर्तैरन्यतरः षण्मासं वर्धते ह्रसते चेति।(२।२०।३६-३९)

प्रकर्ममास (वेतनादि का) है (**त्रिंशदहोरात्रः प्रकर्ममासः**), साढ़े तीस दिनरात का एक सौर मास होता है (**सार्धः सौरः**), साढ़े उनतीस दिनरात का चान्द्रमास होता है (**अर्धन्यूनश्चान्द्रमासः**); सत्ताइस दिन-रात का नाक्षत्र-मास होता है (**सप्तविंशतिर्नाक्षत्रमासः**), बत्तीस दिनरात का मलमास होता है (**द्वात्रिंशत् मलमासः**), पैंतीस दिन-रात का अश्ववाहा (सईस) का और चालीस दिन-रात का हस्तिवाहा (पीलवान) का मास होता है (**पंचत्रिंशदश्ववाहायाः। चत्वारिंशद्धस्तिवाहयाः**) । (२।२०।५५-६१)

सूर्य प्रतिदिन दिन के ६० वें भाग (१ घटिका) का छेद कर लेता है अर्थात् बढ़ा देता है। इस प्रकार एक ऋतु (दो मास) में एक दिन बढ़ जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमा प्रत्येक ऋतु में एक दिन कम करता चला जाता है। इसी कारण प्रत्येक ढाई वर्ष में एक 'अधिमास' पड़ता है। जब पहला अधिमास या मलमास ग्रीष्म में पड़ेगा तो दूसरा मलमास पाँच वर्ष बाद हेमन्त में होगा।[२३]

सीता या कृषिकर्म

कौटिल्य की शब्दावली में कृषिकर्म का नाम 'सीता' है। हल के फाल से बने हलचिह्न (track, furrow) का नाम भी 'सीता' है। पशुपालन और कृषि के लिए भी, सीताद्रव्य शब्द का प्रयोग मनुस्मृति में कृषि और पशुपालन के उपकरणों के लिए हुआ है (मनु० ९।२९३)। कृषिकर्म के अध्यक्ष का नाम सीताध्यक्ष है। सीताध्यक्ष को कृषितन्त्र गुल्मतन्त्र, वृक्षतन्त्र और आयुर्वेद का ज्ञाता होना चाहिए (**सीताध्यक्षः कृषितन्त्रगुल्मवृक्षायुर्वेदज्ञः। २।२४।१**) और इसका कर्तव्य है कि यथासमय धान्य, पुष्प, फल, शाक, कन्द, मूल, वाल्लिक्य (बेल का फल), क्षौम (सन), कार्पास इन सबके बीजों का संग्रह करे। कौटिल्य ने बीजों के संग्रह, उनके संरक्षण और समय पर उचित रीति से उनके बोने पर विशेष बल दिया है, और राज्य की व्यवस्था पर इनका उत्तरदायित्व सौंपा है, यह विशेष उल्लेखनीय है।

सीताध्यक्ष का कर्तव्य है कि 'बहुहलपरिकृष्ट भूमि' में (अच्छी तरह जोती भूमि में) दासों और बन्दियों द्वारा बीजों को बुवावे। इन दासों का कर्षणयन्त्र और कर्षण-उपकरण एवं बलीवर्दों (बैल-बरधा) से कोई सम्बन्ध न हो। कृषिकर्म के लिए उपयुक्त शिल्पी (कारु), कर्मार, कुट्टाक (डले फोड़नेवाले), मेदक (गड्ढे भरने और खोदनेवाले), रज्जुवर्तक (रस्सी बटनेवाले), और सर्पग्राह (साँप पकड़ने वाले) भी होने चाहिए।

वर्षा—जांगलदेश (मरु प्रदेश) में १६ द्रोण वर्षा, अनूप (moist) देशों में २४ द्रोण वर्षा, वापदेश (बोने योग्य देश, कृषिकर्म के योग्य) में से १३½ द्रोण

(२३) **दिवसस्य हरत्यर्कः षष्टिभागमृतौ ततः। करोत्येकमहश्छेदं तथैवैकं च चन्द्रमाः॥ एवमर्धतृतीयानामब्दानामधिमासकम्। ग्रीष्मे जनयतः पूर्वं पञ्चाब्दान्ते च पश्चिमम्॥ (२।२०।७३-७४)**

अश्मक देश (महाराष्ट्रादि) में, २३ द्रोण अवन्ती देश तथा अपरान्त (इनसे इतर) देश में और हिमालय के प्रदेशों में, जहाँ नहरों के प्रदेश–कुल्यावाप हैं, अमित वर्षा होती है।[२४] (२।४।६–७)

वर्षा ऋतु के प्रारम्भिक और अन्तिम काल में ⅓ वर्षा हो, और मध्यकाल में ⅔ भाग, तो ऐसी वर्षा को सुषमारुप (very even) कहा गया है। ऐसी वर्षा का अनुमान बृहस्पति के स्थान, गमन और गर्भाधान को देखकर, शुक्र के उदय, अस्त और गति को देखकर तथा सूर्य्य की प्रकृति और विकृति को देखकर किया जा सकता है। सूर्य्य को देखकर बीजसिद्धि का पता चल सकता है और बृहस्पति को देखकर अन्नों की स्तम्बकारिता का (अर्थात् पौधोंकी बालों के परिपुष्ट होने का)। शुक्र से वृष्टि का अनुमान होता है। (२।२४।८–१२)

एक बरस में सर्वोत्तम परिस्थितियों में बहुधा तीन तो साप्ताहिक मेघ (बराबर सात दिन तक बरसने वाले), अस्सी कणशीकर (बूँद-बूँद बरसने वाले), और साठ बार कभी धूप कभी वर्षा वाले यदि मेघ हों, तो वर्षा अच्छी समझनी चाहिए।[२५]

वायु के चलने और धूप के खिलने को अवकाश देकर तथा तीन बार हल चलने का अवसर छोड़ कर जहाँ वर्षा होती है, वहाँ अन्न की निश्चयपूर्वक अधिक उत्पत्ति होती है।[२६]

वर्षा और बीजवपन—प्रभूतोदक (अधिक वर्षा) और अल्पोदक (कम वर्षा) के अनुसार बीज बोने चाहिए (**ततः प्रभूतोदकं अल्पोदकं वा सस्यं वापयेत्**)। शालि, व्रीहि (चावल), कोद्रव (कोदो), तिल, प्रियंगु (कांगनी), दारक और वराक (लोभिया अथवा Phraseolus Trilobus) ये पूर्ववाप हैं अर्थात् इन्हें वर्षा के प्रारम्भ होने पर बोना चाहिए (**शालिव्रीहिकोद्रवतिलप्रियंगुदारक-वराकाः पूर्ववापाः**)।

मुद्ग, माष और शैम्बी (सेम)—ये मध्यवाप हैं (बरसात के मध्य में इन्हें बोना चाहिए)। कुसुम्भ (कुसुम), मसूर, कुलुत्थ (कुलथी), यव, गोधूम (गेहूँ) कलाय (उड़ीध), अतसी (अलसी) और सर्षप (सरसों)—ये पश्चाद्वाप हैं अर्थात् इन्हें अन्त में बोना चाहिए[२७]।

---

(२४) षोडशद्रोणं जाङ्गलानां वर्षप्रमाणमध्यर्धमानूपानाम्। देशवापानामर्धत्रयोदशाश्मकानां त्रयोविंशतिरवन्तीनाममितमपरान्तानां, हैमन्यानां च कुल्यावापानां च कालतः॥ (२।२४।६–७)

(२५) त्रयः सप्ताहिका मेघा अशीतिः कणशीकराः।
षष्टिरातपमेघानामेषा वृष्टिः समाहिता॥ (२।२४।१३)

(२६) वातमातपयोगं च विभजन्यत्र वर्षति।
त्रीन् कर्षकांश्च जनयंस्तत्र सस्यागमो ध्रुवः॥ (२।२४।१४)

(२७) मुद्गमाषशैम्बया मध्यवापाः। कुसुम्भमसूरकुलुत्थयवगोधूमकलायातसीसर्षपाः पश्चाद्वापाः। (२।२४।१५–१८)

जैसी ऋतु हो उसके अनुसार बीज बोने चाहिए (**यथर्तु वशेन वा बीजोवापाः**)।

सिंचाई के साधन—वर्षा के अतिरिक्त सिंचाई के अन्य साधन भी हैं जिनका प्रयोग कौटिल्य के समय होता था—जैसे स्वसेतु (अपना पोखर या तालाब) से जिससे (१) हाथ से पानी ढोकर सिंचाई की जा सकती थी (हस्तप्रावर्त्तिमम्), (२) कन्धों पर ढोकर सिंचाई की जा सकती थी (स्कन्धप्रावर्त्तिमम्) और (३) स्रोतुर्यंत्र (water lifts) द्वारा सिंचाई की जा सकती थी और इनके अतिरिक्त सिंचाई के लिए नदी, सर, तटाक (tanks) और कूप से पानी लिया जाता था[२८]।

तीन फसलें—इस देश में तीन प्रकार की फसलें जल की मात्रा और कर्म (labour) के अनुसार मानी गई हैं।—(१) केदार (जो वर्षा में बोई जाय), (२) हैमन (जो जाड़े में बोई जाय) और (३) ग्रैष्मिक (जो गरमी की ऋतु में बोई जाय)—**कर्मोदकप्रमाणेन केदारं हैमनं ग्रैष्मिकं वा सस्यं स्थापयेत्** (२।२४।२६)। आजकल हम लोग साधारणतया इन्हें रबी और खरीफ कहते हैं।

उपज की दृष्टि से शाल्यादि (चावल आदि) की खेती सर्वश्रेष्ठ, षण्ड (खण्ड—जैसे आलू, जमीकन्द, शकरकन्द आदि ? अथवा तरकारी मात्र अथवा बाल से उत्पन्न गेहूँ ? आदि) की खेती मध्यम और ईख की खेती निम्नतम मानी गई है। ईख की खेती, मालूम होता है, उस समय बड़ी कठिनाई से होती थी और खर्चीली थी। उसके लिए कौटिल्य ने कहा है कि '**इक्षवो हि बह्वा बाधा व्ययग्राहिणश्च**'[२९] (२।२४।३०)

फसलों के उपयुक्त प्रदेश—'फेनाघात' प्रदेश अर्थात् नदियों के तट के प्रदेश वल्लीफलों (ककड़ी, तरबूज, खरबूज आदि) के लिए अच्छे होते हैं। 'परीवाहान्त' प्रदेश (जहाँ नदियों की बाढ़ का पानी विशेष आता हो) मृद्वीक (अंगूर या मुनक्का) और ईख के लिए अच्छे हैं। शाक मूलों के लिए (तरकारी और मूली आदि) कूप के निकट का प्रदेश 'कूपपर्यन्त' अच्छा माना गया है। हरितकों (हरे शस्यों, green vegetables या सागपात) के लिए 'हरिणपर्यन्त' (low grounds) स्थान अच्छा माना गया है। 'पाल्योलवान' भूमि (marginal furrows between any two rows of crops) गन्ध, भैषज्य, उशीर (खस), ह्रीबेर (?) और पिंडालुक (जमीकन्द या रतालू आदि) के लिए श्रेष्ठ मानी गई है[३०]।

---

(२८) **स्वसेतुभ्यः हस्तप्रावर्तिममुदकभागं पंचमं दद्युः। स्कन्धप्रावर्त्तिमं चतुर्थम्। स्रोतोयन्त्रप्रावर्तिमं च तृतीयम्। चतुर्थं नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्। (२।२४।२२-२५)**

(२९) **शाल्यादि ज्येष्ठम्। षण्डो मध्यमः। इक्षुः प्रत्यवरः। (२।२४।२७-२९)**

(३०) **फेनाघातो वल्लीफलानां, परीवाहान्ताः पिप्पली मृद्वीकेक्षूणां, कूपपर्यन्ताः शाकमूलानां, हरिणपर्यन्ताः हरितकानां, पाल्योल्वानां गन्धभैषज्योशीरह्रीबेर-पिण्डालुकादीनाम्। (२।२४।३१)**

ऐसी ओषधियाँ जो 'अनूप्य' हैं (दलदल में (marshy) उत्पन्न होनेवाली) उन्हें उनके अनुकूल भूमि में अथवा स्थलियों (गमलों) में लगाना चाहिए—(**यथास्वं भूमिषु च स्थल्याश्चानूप्याश्चौषधीः स्थापयेत्**–२।२४।३२)

बीजों का संरक्षण—(१) धान्य बीजों को रात में ओस में और दिन में धूप में सात दिनों तक रखना चाहिए। (२) कोशीधान्य (जैसे मूँग, उड़द) को ओस और धूप में तीन या पाँच दिनों तक इसी प्रकार रखना चाहिए। (३) कांडबीजों को (जैसे ईखादि) कटे सिरे पर मधु, घृत और सूकरवसा से और उसमें गोबर मिलाकर उससे लेप करके रक्खे। (४) कन्दों के बीजों को मधु-घृत से लेप करके रक्खे। (५) अस्थिबीजों (जो गुठली के भीतर होते हैं) को गोबर में लपेटकर रक्खे।

जड़ों के निकट के गर्तों को जला देना चाहिए और उनमें हड्डी और गोबर की खाद समय-समय पर देनी चाहिए। अंकुर निकलने पर अशुष्क छोटी-छोटी मछलियों की खाद देनी चाहिए और सैंढ के दूध से (स्नुहिक्षीरं) से सींचना चाहिए।[31]

इस प्रकार इस स्थल पर तीन प्रकार की खादों की ओर संकेत है—गोस्थि (पशुओं की हड्डी), गोशकृद् (गोबर और अन्य पशुओं की विष्ठा) और अशुष्क कटुमत्स्य (छोटी ताजी मछली) की खाद।

खेती और खलिहान—यथासमय उत्पन्न अन्नादि का संग्रह सुरक्षित स्थानों पर होना आवश्यक है। विचारवान व्यक्ति खेतों में पयाल (पलाल या भूसा) भी नहीं छोड़ते (इसे भी संग्रहस्थानों में सुरक्षित रखते हैं)। धान्य रखने के ये संग्रह-स्थान (अर्थात् प्रकर) ऊँचे ढेर के समान बनने चाहिए अथवा इन्हें 'वलभी' (turrets) रूप का होना चाहिए। ये वलभियाँ एक स्थान पर पास-पास बहुत-सी नहीं बननी चाहिए और न इनके शिर तुच्छ (नीचे) हों।

मण्डलान्त में खल (खलिहान) के 'प्रकर' बनाने चाहिए। इसमें कार्य करने वाले 'परिकर्मी' अनग्निक (बिना अग्नि के, अर्थात् हुका बीड़ी से मुक्त) और सोदक (सदा जल से युक्त) होने चाहिए जिससे आग लगने से सदा रक्षा हो सके।

प्रकराणां समुच्छ्रायान्वलभीर्वा तथा विधाः।
न संहतानि कुर्वीत न तुच्छानि शिरांसि च॥
खलस्य प्रकरान्कुर्यान्मण्डलान्ते समाश्रितान्।
अनग्निकाः सोदकाश्च खले स्युः परिकर्मिणः॥ २।२४।४४–४५।

अन्नशोधन के प्रकार—कौटिल्य ने एक स्थल पर निम्न व्यवसाय वाले व्यक्तियों के कर्म का नाम 'सिंहनिका' दिया है—

(३१) तुषारपायनमुष्णशोषणं चा सप्तरात्रादिति धान्यबीजानां त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा कोशीधान्यानां, मधुघृतसूकरवसाभिः शकृद्युक्ताभिः काण्डबीजानां छेदलेपो, मधुघृतेन कन्दानाम्। अस्थिबीजानां शकृदालेपः। शाखिनां गर्तदाहो गोस्थिशकृद्भिः काले दौहृदं च। प्ररूढांश्चाशुष्ककटुमत्स्यांश्च स्नुहिक्षीरेण पाययेत्। (२।२४।२३-२४)

कुट्टकरोचकसक्तुशुक्तपिष्टकर्म तज्जीवनेषु तैलपीडनमौरभ्रचाक्रिकेष्विक्षूणां च क्षारकर्म सिंहनिका। (२।१५।८)

कुट्टक कर्म—धान कूटना	तैलपीडन कर्म—तेल निकालना
रोचक कर्म—चक्की में दाल दलना	औरभ्र कर्म—ऊनी कपड़ा तैयार करना
सक्तु कर्म—भाड़ में भूजना	क्षार कर्म—ईख को पेर कर रस और उससे गुड़, राब, शक्कर आदि बनाना
शुक्त कर्म—सिरका आदि तैयार करना	
पिष्ट कर्म—पीसना	

इस उल्लेख से उन विधियों का स्पष्टीकरण हो जायगा, जिनका उपयोग अन्न-शोधन के लिए होता था।

अन्नों के सम्बन्ध में अन्य बातें—(१) जनपद में जितना अन्न उत्पन्न हो, राजा उसका आधा, विपदा के समय में काम आने के लिए, रख ले और आधा प्रजा के भोग के लिए छोड़ दे। नई फसल तैयार होने पर, पुराने संग्रह को व्यवहार में ले आवे और नया फिर भर ले। (**ततोऽर्धमापदर्थं जानपदानां स्थापयेत्। अर्धमुपयुञ्जीत। नवेन चानवं शोधयेत् २।१५।२३-२५**)

(२) अन्न के कूटने (क्षुण्ण), घिसने या मलने (घृष्ट), पीसने (पिष्ट) और भूनने (भृष्ट) पर एवं पानी में भिगोने के बाद सुखाने पर धान्य की वृद्धि या क्षय जितना होता है, इसे कोष्ठागाराध्यक्ष स्वयं प्रत्यक्ष देखे (**क्षुण्णघृष्टपिष्टभृष्टानामार्द्रशुष्कसिद्धानां च धान्यानां वृद्धिक्षयप्रमाणानि प्रत्यक्षी कुर्वीत २।१५।२६**)।

(३) कोद्रव (कोदों) और व्रीहि (धान) में सार आधा भाग निकलता है। शालि चावल में आधे में से आधा भाग और कम हो जाता है। वरक (लोभिया) में आधे में से एक तिहाई भाग सार और कम हो जाता है। प्रियंगु (कांगनी) में सार आधा भाग होता है, और कभी-कभी नवाँ और अधिक होता है। उदारक (मोटा चावल) भी प्रियंगु के समान है।[१२]

(४) यव और गेहूँ क्षुण्ण (कूटने पर निकलने वाले) कहलाते हैं। तिल, यव, मूँग और उड़द घृष्ट (घिसने या मलने पर निकलने वाले) कहलाते हैं (**यवागोधूमाश्च क्षुण्णाः। तिलायवा मुद्गमाषाश्च घृष्टाः—२।१५।३१-३२**)।

(५) गेहूँ और यव के भूनने पर पाँचवें भाग की वृद्धि हो जाती है और कलाय की पिट्ठी एक पाद (चौथाई भाग) घट जाती है। मूँग और उड़द में अर्ध-पाद (१/८) की कमी होती है। शिम्बि (सेम) में आधा भाग सार निकलता है। मसूर में तिहाई भाग कम हो जाता है। पीसे हुए या पकाये हुए अन्न ड्योढ़े हो जाते हैं। पके हुए जौ (यावक) दुगना हो जाते हैं। पीसे हुए या पकाये हुए पुलाव दुगुने हो जाते हैं। कोद्रव (कोदों), वरक (लोभिया), और उदारक (मोटा

(३२) कोद्रवव्रीहीणामर्धं सारः, शालीनामष्टभागोनः, त्रिभागोनो वरकाणाम्। प्रियंगूणामर्धं सारो नवभागवृद्धिश्च। उदारकस्तुल्यः। (२।१५।२७-३१)

चावल) और प्रियंगु (कांगनी) पकाये जाने पर तिगुने बैठते हैं। व्रीहि चावल चार गुना और शाली चावल पाँच गुना बैठते हैं। भिगोये जाने पर अन्न दुगुने बैठते हैं, और अंकुर निकल आवे इतना अगर भींगें तो २½ गुना बैठेंगे। भूनने पर १/५ भाग की वृद्धि होती है। मटर आदि (कलाय) भुनने पर दुगुनी हो जाती हैं। लाजा (लावा, खील) और भरुजा (भूँजे पदार्थ) भी दुगुने हो जाते हैं।[३३]

तिलहन और तेल—अलसी (अतसी) के बीजों में छठा भाग तेल निकलता है। निमकोरी (निम्ब) और कुशाम्र और कपित्थ (कैथ) के बीजों में से पाँचवा भाग तेल निकलता है। तिल, कुसुम्भ (कसूम), मधूक (महुआ) और इंगुदी में से चौथाई भाग तेल निकलता है[३४]।

अन्नसंबंधी उपकरण—तुलामानभाण्डं रोचनी दृषन्मुसलोलूखल-कुट्टकरोचकयन्त्रपत्रकशूर्पचालनिकाकण्डोलीपिटकसंमार्जन्यश्चोपकरणानि । (२।१५।८२) अर्थात् तराजू, बाट (मान), नापने के बर्तन (मानमाण्ड), दलने का चकला (रोचनी), सिल (दृषद्), मूसल, उलूखल, कुट्टक (कूटने का), चक्की (रोचक यंत्र), पत्रक (भूसा उड़ाने का पंखा), सूप, चलनी (चालनिका), डलिया (कंडोली), पिटारी (पिटक) और झाड़ू (संमार्जनी)—ये यंत्र काम में आते हैं।

खटाई और मसाले—वृक्षाम्ल (इमली), करमर्द (करौंदा), आम्र (आम), विदल (अनार), आमलक (आँवला), मातुलुंग (नीबू-संतरा), कोल (झरबेरी), बदर (बेर), सौवीरक (उन्नाव) और परूषक (फालसा) ये खट्टे फल हैं जिनका चटनी-खटाई के रूप में उपयोग हो सकता है। द्रवाम्लवर्ग में दही और धान्याम्ल हैं[३५]।

पिप्पली (पीपल), मरीच (मिर्चा), शृंगिबेर (अदरख), आजाजि (जीरा), किराततिक्त (चिरायता), गौर सर्षप (सफेद सरसों), कुस्तुम्बुरु (धनिया), चोरक (चोरबेल), दमनक (artemisia indica), मरुवक (vangneria spinosa) और शिग्रुकाण्ड (सैंजन) ये कटुक वर्ग के मसाले माने गये हैं।[३६]

(३३) पञ्चभागवृद्धिर्गोधूमः सक्तवश्च। पादोना कलायचमसी। मुद्गमाषाणामर्धपादोनाः। शैम्बानामर्धं सारः। त्रिभागोनः मसूराणाम्। पिष्टमामं कुल्माषाश्चाध्यर्धगुणाः। द्विगुणोयावकः। पुलाकः पिष्टं च सिद्धम्। कोद्रववरकोदारकप्रियङ्गूणां त्रिगुणमन्नम्। चतुर्गुणं व्रीहीणाम्। पञ्चगुणं शालीनम्। तिमितमपरान्नं द्विगुणमर्धाधिकं विरूढानाम्। पञ्चभागवृद्धिः भृष्टानाम्। कलायो द्विगुणः। लाजाभरुजाश्च। (२।१५।३३–४८)

(३४) षट्कं तैलमतसीनाम्। निम्बकुशाम्रकपित्थादीनां पञ्चभागः। चतुर्भागिकास्तिलकुसुम्भमधूकेङ्गुदीस्नेहाः (२।१५।४९–५१)

(३५) वृक्षाम्लकरमर्दाम्रविदलामलकमातुलुङ्गकोलबदरसौवीरकपरूषकादिः फलाम्लवर्गः। दधिधान्याम्लादिः द्रवाम्लवर्गः। (२।१५।१९-२०)

(३६) पिप्पलीमरीचशृंगिबेराजाजीकिराततिक्तगौरसर्षपकुस्तुम्बुरुचोरकदमनकमरुवकशिग्रुकाण्डादिः कटुकवर्गः। (२।१५।२१)

सुरा और किण्व

किण्व की सहायता से सुरा तैयार करने का जितना विस्तृत विवरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है, उतना अन्य किसी प्राचीन पुस्तक में नहीं। यह सुरा सुराध्यक्ष के निरीक्षण में जनपद में और दुर्ग तथा स्कन्धावार (छावनी) में सुरा-किण्व के अनुभवी व्यक्तियों द्वारा तैयार की जाती थी। इसके क्रय-विक्रय के ठेके भी दिये जाते थे।[३७] सुरा से मदहोश व्यक्तियों के गमनागमन पर नियंत्रण था—कोई अपने साथ कितनी सुरा ले जाय, केवल पानागारों (सुरापानालयों या हौलियों) में ही पान किया जाय, जब तक नशा रहे वह कहीं न जाय, इत्यादि विषयों की व्यवस्था थी। इन पानागारों का उपयोग कूटनीति के लिए भी होता था, यहाँ नशे में मदहोश व्यक्ति अपने गोपनीय भेद भी कह डालते थे, जिनका लाभ राज्य के दूत उठा सकते थे। ये पानागार साधारण नहीं थे। आजकल के होटलों के सदृश उनमें अनेक कक्ष्य होते थे जिनमें शय्या आदि की सुव्यवस्था थी। ये गन्ध, माल्य और जल से सम्पन्न होते थे।[३८]

सुरा के छः भेद बताये गये हैं—मेदक, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु।

मेदक—एक द्रोण जल, आधा आढक चावल, तीन प्रस्थ (तीन सेर) किण्व, इन्हें मिलाकर मेदक सुरा बनाई जाती है।[३९]

प्रसन्ना—बारह आढक पिट्ठी (चावल की), पाँच प्रस्थ किण्व या पुत्रक वृक्ष की त्वचा और फल तथा कुछ अन्य जाति के संभार (spices) मिलाकर जो सुरा तैयार होती है, वह प्रसन्ना कहलाती है।

द्वादशाढकं पिष्टस्य पञ्चप्रस्थाः किण्वस्य पुत्रकत्वक्फलयुक्तो वा जातिसंभारः प्रसन्नायोगः । (२।२५।१८)।

आसव—एक तुला अर्थात् १०० पल कैथ (कपित्थ) में पाँच तुला (५०० पल) फाणित (गुड़ की राब) और एक प्रस्थ मधु मिलाकर जो सुरा बनती है, वह आसव कहलाती है—

कपित्थतुलाफाणितं पञ्चतौलिकं प्रस्थो मधुन इत्यासवयोगः।(२।२५।१९)

इसमें चौथाई भाग मदकारी फलों का योग और बढ़ा देने से ज्येष्ठ जाति (superior) का आसव और एक चौथाई भाग कम कर देने से कनिष्ठ जाति (inferior) का आसव मिलेगा (पादाधिको ज्येष्ठः पादहीनः कनिष्ठः)।

---

(३७) सुराध्यक्षः सुराकिण्वव्यवहारान्दुर्गे जनपदे स्कन्धावारे वा तज्जातसुराकिण्वव्यवहारिभिः कारयेत् एकमुखमनेकमुखं वा विक्रय-क्रयवशेन वा ॥२।२५।१॥

(३८) पानागाराण्यनेककक्ष्याणि विभक्तशयनासनवन्ति पानोद्देशानि गन्धमाल्योदकवन्त्यृतु सुखानि कारयेत् (२।२५।१२)।

(३९) मेदकप्रसन्नासवारिष्टमैरेयमधूनामुदकद्रोणं तण्डुलानामर्धाढकं त्रयः प्रस्थाः किण्वस्येति मेदकयोगः। (२।२५।१७)।

अरिष्ट—वैद्य चिकित्सक इन्हीं सब सुराओं को चिकित्सा-कार्य के लिए तैयार करें तो उन्हें अरिष्ट कहेंगे—

चिकित्सकप्रमाणाः प्रत्येकशो विकाराणामरिष्टाः। (२।२५।२१)

इन्हें क्रमशः मेदकारिष्ट, प्रसन्नारिष्ट, आसवारिष्ट आदि कहते हैं।

मैरेय—मेषशृंगी की छाल का क्वाथ या निष्कर्ष रस (अभिषु) लेकर और उसमें गुड़ मिलाकर तथा पिप्पली, मरिच और त्रिफला आदि मसाले (संभार) मिलाकर जो सुरा बनती है, उसे मैरेय कहते हैं—

मेषशृंगीत्वक्क्वाथाभिषुतो गुडप्रतीवापः पिप्पलीमरिचसंभारस्त्रिफलायुक्तो वा मैरेयः। (२।२५।२२)

गुड़ से बनी सभी सुराओं में त्रिफला का मसाला मिलाया जा सकता है (**गुडयुक्तानां वा सर्वेषां त्रिफलासंभारः।** (२।२५।२३)

मधु—मृद्वीक अर्थात् मुनक्के से जो सुरा बनती है, उसे मधु कहते हैं—यह कपिशानाग नदी पर कौटिल्य के समय पर अधिक बनती थी, अतः कापिशायन भी कही जाती थी। यह हरहूर नगर में संभवतः बनने के कारण 'हारहूरक' भी कहलाती थी—

मृद्वीका रसो मधु। तस्य स्वदेशो व्याख्यानं कापिशायनं हारहूरकमिति। (२।२५।२४–२५)

किण्व, किण्वबन्ध, किण्वबीज या बीजबन्ध—किण्वीकरण या खमीर उठाने (fermentation) के लिए जिस द्रव्य का उपयोग होता है, उसे ये सब नाम दिये गये हैं। इनकी सहायता से सुरा बनाई जाती है। विभिन्न प्रकार की सुराओं के लिए ये किण्वबन्ध अलग अलग तरह से तैयार किये जाते थे। इनके तैयार करने की विधि 'कौटिल्य अर्थ शास्त्र' ने इस प्रकार दी है—

(१) कच्चे या पकाये माष (उड़द) की कलनी (आटा) एक द्रोण और पौने दो द्रोण चावल और उसमें एक कर्ष मोरट आदि ओषधियाँ मिलाकर किण्वबन्ध तैयार होता है।—**माषकलनीद्रोणमात्रं सिद्धं वा त्रिभागाधिकं तण्डुलं मोरटादीनां कार्षिकभागयुक्तः किण्वबन्धः।** (२।२५।२६)

(२) पाठा, लोध्र, तेजोवती (तेजपात), एलावालुक, मधु, मधुरस (अंगूर का रस), प्रियंगु, दारुहरिद्रा, मरिच, पिप्पली इन सबको पाँच-पाँच कर्ष मिलाकर मेदक और प्रसन्ना सुराओं का किण्वबन्ध तैयार होता है—

पाठालोध्रतेजोवत्येलावालुकमधुकमधुरसाप्रियंगुदारुहरिद्रामरिचपिप्पलीनां च पञ्चकर्षिकः संभारयोगो मेदकस्य प्रसन्नायाश्च। (२।२५।२७)

मधुक (मुलहठी) के निर्यूह (काढ़ा) में कटशर्करा (दानेदार चीनी) मिला देने से 'प्रसन्ना' सुरा का रंग बड़ा अच्छा निकल आता है (मधुकनिर्यूहयुक्ता कटशर्करावर्णप्रसादिनी च–२।२५।२८)।

(३) चोच (दालचीनी की छाल), चित्रक (चीता), विलंग, गजपिप्पली, इन सबके चूर्ण का एक-एक कर्ष लेकर इनमें दो-दो कर्ष क्रमुक (सुपारी), मधुक (मुलहठी); मुस्ता (मोथा), लोध्रा (लोध) मिला देने से 'आसव सुरा' तैयार होती है—

चोचचित्रकविलंगगजपिप्पलीनां च पंच कार्षिकः क्रमुकमधुकमुस्तालोध्राणां द्विकार्षिकश्चासवसंभारः । (२।२५।२९)

इन सब का दसवां भाग प्रयोग में लाने पर 'बीजबन्ध' तैयार होता है—दशभागश्चैषां बीजबन्धः । (२।२५।३०)

जो द्रव्य 'प्रसन्ना' सुरा तैयार करने में काम आते हैं, उनमें ही 'श्वेत सुरा' तैयार होती है—**प्रसन्नायोगः श्वेतसुरायाः** । (२।२५।३१)

(४) आम का रस (सहकार-रस) डालकर जो सुरा तैयार होती है उसे 'सहकार सुरा' कहते हैं । यह रसोत्तरा, बीजोत्तरा और महासुरा तीन भेद की हो सकती है । आम का रस अधिक पड़ने पर रसोत्तरा, किण्वबीज अधिक पड़ने पर बीजोत्तरा और संभार (spices, मसाले) अधिक पड़ने पर महासुरा कहलाती है ।

सहकार सुरा, रसोत्तरा, बीजोत्तरा वा महासुरा संभारिकी वा । (२।२५।३२)

राजपेय सुरा--राजा के पीने योग्य सुरा में अनेक मसाले मिलाये जाते हैं । जैसा मौरटा, पलाश, पत्तूर या धतूर (?), मेषश्रृंगी, करञ्ज, क्षीरवृक्ष, इनके काढ़े में रवेदार चीनी का चूर्ण (बूरा) और फिर इसमें लोध्र, चित्रक, विलङ्ग, पाठा, मुस्ता, कलिंगयव, दारु हरिद्रा, इन्दीवर, शतपुष्प (सौंफ), अपामार्ग, सप्तपर्ण, निम्ब और आस्फोत कल्क । इस प्रकार तैयार राजपेय सुरा में यदि फाणित (राब) मिला दी जाय तो स्वाद की और वृद्धि हो जाती है । (२।२५।३३–३४)

सुराकिण्व के चयन का कार्य स्त्रियों और बच्चों को सौंपा जाता था । (**सुराकिण्वविचयं स्त्रियो बालाश्च कुर्युः** । २।२४।३८)

एक स्थल पर कौटिल्य ने सुरा के समान निम्नलिखित द्रव्यों का नामोल्लेख भी किया है—सुरका, मेदक, अरिष्ट, मधु, फलाम्ल (फल से निकले खट्टे पेय) और अम्लशीधु (spirit distilled from molasses) ।

अराजपण्याः पञ्चकं शतं शुल्कं दद्युः सुरकामेदकारिष्टमधुफलाम्लाम्लशीधूनां च । (२।२६।३९)

गोधन और पशुपालन

गोविभाग के सबसे ऊँचे कर्मचारी का नाम 'गोऽध्यक्ष' है । इसकी संरक्षणता में वेतनोपग्रहिक (वेतन लेकर गो-सेवा करनेवाले), करप्रतिकर (थोड़ा सा कर देने वाले सेवक), भग्नोत्सृष्टक (बेकार और जीर्ण पशुओं के सेवक) और भागानुप्रविष्टक (गोधन में से थोड़ा सा भाग लेकर काम करनेवाले व्यक्ति) गो-रक्षा का कार्य करें ।[४०] (२।२९।१) ।

(४०) **गोऽध्यक्षो वेतनोपग्राहिकं करप्रतिकरं भग्नोत्सृष्टकं भागानुप्रविष्टकं व्रजपर्यग्रं नष्टं विनष्टं क्षीरघृतसंजातं चोपलभेत** । (२।२९।१) ।

सौ-सौ गौओं के यूथ पर एक-एक गोपालक, पिण्डारक (भैंस का पालक), दोहक (दूध दुहने वाला), मन्थक (मथने वाला) और लुब्धक (जंगली पशुओं से रक्षा करने वाला शिकारी) ये पाँच सेवक हों। इन्हें नकद वेतन मिलना चाहिए, न कि दूध-घी में हिस्सा, अन्यथा ये बछड़ों को भूखा मार डालेंगे।

गोपालकपिण्डारकदोहकमन्थकलुब्धकाः शतं शतं धेनूनां हिरण्यभृताः पालयेयुः। क्षीरघृतभृता हि वत्सानुपहन्युरिति वेतनोपग्राहिकम्।

(२।२९।२–३)

सौ गायों के यूथ में बराबर-बराबर (यानी २०-२०) निम्नलिखित पशु हों— जरद्गु (बुड्ढी गाय), धेनु (दूध देनी वाली गाय), गर्भिणी (गर्भवती गाय), प्रष्ठौही (पटोरी या पहलोटी, जिसका पहला बछड़ा पैदा हुआ हो), और वत्सतरी (बछिया)—**जरद्गुधेनुगर्भिणीप्रष्ठौहीवत्सतरीणां समविभागं रूपशतमेकः पालयेत्** (२।२९।४)।

पुंगव या बैल छः प्रकार के बताये गये हैं—वत्स (दूध पीने वाले बछड़े), वत्सतर (दूध छोड़ देने वाले बछड़े), दम्य (हल में चलने योग्य अर्थात् वश में रहने वाले), वहिन (बोझा ढोने वाले), वृष (सवारी के बैल), और उक्षाण (साँड़)।

चार प्रकार के भैंसे (महिष) होते हैं—युगवाहन (जुए में जोते जाने वाले), शकटवह (गाड़ी, शकट या छकड़ा को खींचने वाले), वृषभः (साँड़ का कृत्य करने वाले) और सून (अर्थात् मांस के काम आने वाले)। पृष्ठ-स्कन्ध वाहिन भैंसे (पीठ और कन्धे पर बोझा ढोने वाले) भी होते हैं।

गाय और भैंस (महिषी) निम्न प्रकार की होती हैं—वत्सिका (बछिया), वत्सतरी (बड़ी बछिया), प्रष्ठौही (पहलौठी), गर्भिणी, धेनु (दूध देने वाली), अप्रजाता (बच्चेरहित) और वन्ध्या।

मास दो मास के बछड़े बछियों को उपजावत्स और उपजावत्सिका कहते हैं। इन सबको लोह-चिह्नों से अंकित कर देने की प्रथा थी, जिसमें खो जाने पर इन्हें ढूँढ़ने में आसानी हो। बाहर से भी जो गायें राजकीय गोशाला में आती थीं, उन्हें अंकित कर दिया जाता था। रजिस्टर में गायों का अंक-चिह्न, वर्ण (रंग), शृङ्ग की बनावट आदि लक्षण अंकित रहते थे।[४१] इस प्रकार विवरण रखने को 'व्रजपर्यग्र' कहते हैं।

गायें तीन प्रकार से 'नष्ट' होती हैं—चोर चुरा ले, वे दूसरे के यूथ में मिल

(४१) वत्सा वत्सतरा दम्या वहिनो वृषा उक्षाणश्च पुंगवाः। युगवाहनशकटवहा वृषभाः सूना महिषाः पृष्ठस्कन्धवाहिनश्च महिषाः। वत्सिका वत्सतरी प्रष्ठौही गर्भिणी धेनुश्चाप्रजाता वन्ध्याश्च गावो महिष्यश्च। मासद्विमासजातास्तासामुपजा वत्सा वत्सिकाश्च। मासद्विमासजातानङ्कयेत्। मासद्विमासपर्युषितमङ्कयेत्। अङ्कचिह्नं वर्णं शृंगान्तरं च लक्षणमेवमुपजा निबन्धयेदिति व्रजपर्यग्रम्। (२।२९।८–१०)

जायँ अथवा कहीं भटक कर पहुँच जायँ (**चोरहृतमन्ययूथप्रविष्टमवलीनं वा नष्टम**—२।२९।११)।

इनके विनष्ट होने के ये कारण हैं—विषम पंक (दलदल) में फँसकर, व्याधि और जरा से, जलधारा में (बाढ़ में) डूब कर (तोयाधारावसन्न), वृक्ष, तट, काष्ठ और शिला की चोट से, बिजली आदि के गिरने से, व्याल, सर्प, ग्राह आदि द्वारा काटे जाने या खाये जाने से और दावाग्नि से।[४२]

गोवधनिषेध—चाणक्य ने लिखा है कि जो व्यक्ति गाय का स्वयं हनन करे या किसी अन्य से मरवावे, हरण करे या हरण करवावे उसे मृत्यु दण्ड मिलना चाहिए।—**स्वयं हन्ता घातयिता हर्ता हारयिता च वध्यः** (२।२९।१५)।

यही नहीं, गोपालकों को यह चाहिए कि बाल, वृद्ध और व्याधिग्रस्त गौओं की देखरेख करें (**बालवृद्धव्याधितानां गोपालकाः प्रतिकुर्युः**—२।२९।१८)। गौएँ ऐसे वनों में चरें जहाँ चोर, शेर, साँप आदि का भय न हो और इन भयों से बचाने के लिए चरवाहों के साथ लुब्धक (शिकारी) और कुत्ते रहें तथा विपदा-संकेत के लिए गायों के गलों में घण्टियाँ बँधी रहें[४३]।

यदि कोई गाय चोरी चली जाय या हिंस्र जन्तुओं द्वारा खा ली जाय या साँप द्वारा डँस ली जाय या रोग बुढ़ापे से मर जाय तो गोऽध्यक्ष को फौरन सूचना देनी चाहिए अन्यथा चरवाहे को हरजाना देना पड़ेगा। मरे पशु के प्रमाण स्वरूप चरवाहे को चाहिए कि पशु का बाल, चर्म, वस्ति, पित्त, स्नायु, दन्त, खुर, शृंग और हड्डियाँ लाकर दिखावे। गाय-भैंस का अंकित चर्म, अजा और भेड़ों का चिह्नित कान और अश्व, खर और ऊँटों का अंकित चर्म तथा पुच्छ दिखाना पर्याप्त होगा[४४]।

पशुओं का भोजन—जो बैल नथ चुके हैं और जो घोड़े रथादि में सवारी का काम देते हैं, उनको यह भोजन मिले (२।२९।४५)—

यवस (meadow grass) = ½ भार (= १० तुला = १०००पल)
तृण (भूसा) = १ भार (= २० तुला)
पिण्याक (खली, oilcake) = १ तुला
दाना कुट्टी या कण कुण्डक (bran) = १० आढक
मुख लवण (नमक) = ५ पल
नस्य तैल (नाक में डालने का) = १ कुडुब

(४२) पङ्कविषमव्याधिजरातोयाधारावसन्नं वृक्षतटकाष्ठशिलाभिहतमीशानव्यालसर्पग्राहदावाग्निविपन्नं विनष्टम्, प्रमादादभ्यावेहयुः। (२।२९।१२)

(४३) लुब्धकश्वगणिभिरपास्तस्तेन व्यालपरबाधभयमृतुविभक्तमरण्यं चारयेयुः। सर्पव्यालत्रासनार्थं गोचरानुपातज्ञानार्थं च त्रस्नूनां घण्टातूर्यं च बध्नीयुः॥ (२।२९।१९–२०)

(४४) स्तेनव्यालसर्पग्राहगृहीतं व्याधिजरावसन्नं चावेदयेयुरन्यथा रूपमूल्यं भजेरन्। कारणमृतस्याङ्कचर्मगोमहिषस्य कर्णलक्षणमजाविकानां, पुच्छमङ्कचर्मचाश्वखरोष्ट्राणां, बालचर्म वस्तिपित्तस्नायुदन्तखुरशृंगास्थीनि चाहरेयुः (२।२९।२२-२३)।

पीने के लिए तैल	=	१ प्रस्थ
मांस	=	१ तुला
दधि	=	१ आढक
यव (जौ) और माष (पुलाक)	=	१ द्रोण (पुलाक = पुलाव)
क्षीर (दूध)	=	१ द्रोण
सुरा	=	१/२ आढक
स्नेह (घी या तैल)	=	१ प्रस्थ
गुड़ या क्षार (molasses)	=	१० पल
शृंगिबेर (सौंठ)	=	१ पल

अश्वतर (खच्चर) और गाय एवं गदहों को ऊपर दिये प्रमाण का १/४ भाग कम करके अर्थात् ३/४ भाग मिलना चाहिए। भैंसों और ऊँटों को ऊपर दिये प्रमाण का दुगुना मिलना चाहिए। दूध देनेवाली गायों और खेत में काम करनेवाले बरधों (बलीवर्द) को क्रमशः उनके दूध के अनुपात अथवा खेत में कितने समय परिश्रम करते हैं, उसके अनुपात से भोजन मिलना चाहिए। (**धेनूनां कर्मकालतः फलतश्चविधादानम्** । २।२९।४७) । सबको तृण (चारा) और उदक (पानी) तो इच्छानुसार भरपेट मिलना ही चाहिए। (**सर्वेषां तृणोदकप्राकाम्यम्**—(२।२९।४८) ।

ऋषभ और वृष—गर्भधारक साँड़ और मेढ़ों की व्यवस्था इस प्रकार है—

पञ्चर्षभं खराश्वानामजावीनां दशर्षभम् ।
शत्यं गोमहिषोष्ट्राणां यूथं कुर्याच्चतुर्वृषम् ॥ (२।२९।४९)

खर और अश्वों के १०० के झुंड में ५ ऋषभ हों, बकरी और भेड़ों के १०० के झुंड में दश गर्भधारक हो एवं गाय, भैंस और ऊँट के १०० के झुण्ड में ४ वृष (पुं-पशु) हों।

दूध और घी का संबंध— कौटिल्य के अनुसार गाय के एक द्रोण दूध में एक प्रस्थ घी निकलता है (१ द्रोण = १६ प्रस्थ) अर्थात् एक सेर दूध में एक छटांक घी। उतने ही भैंस के दूध में पंच भाग अधिक घी निकलेगा अर्थात् एक सेर दूध में १ १/५ छटाँक (१ द्रोण दूध में १ १/५ प्रस्थ घी)। भेड़ और बकरियों के दूध में अर्धभाग अधिक अर्थात् एक सेर दूध में १ १/२ छटाँक घी निकलेगा। मथ कर घी का प्रमाण मालूम कर लेना चाहिए। भूमि, तृण और जल के अनुसार दूध और घी की मात्रा में विशेष वृद्धि हो जाती है।[४५]

अश्वपालन—कौटिल्य ने जिस राज्यविधान की कल्पना की है, उसमें अश्वाध्यक्ष का यह कर्तव्य है कि वह राज्य के लेखा में अश्वों के कुल, वय, वर्ण, चिह्न, वर्ग और

(४५) क्षीरद्रोणे गवां घृतप्रस्थः। पञ्चभागाधिको महिषीणाम्। द्विभागाधिकोऽजावीनाम्। मन्थो वा सर्वेषां प्रमाणम्। भूमितृणोदकविशेषाद्धि क्षीरघृतवृद्धिर्भवति। (२।२९।३४-३८)

उनके आगम (आने के स्थान, तिथि आदि) का विवरण लिखकर रक्खे (**कुल-वयोवर्णचिह्नवर्गागमैर्लेखयेत्—** (२।३०।१) । जो घोड़े अप्रशस्त, न्यङ्ग (अंग-भंग) और व्याधिग्रस्त हों, उनकी सूचना भी रक्खे और उनके उपचार का भी ध्यान रक्खे। (२।३०।२) ।

अश्वशाला में सात उद्देश्यों से लाये गये अश्व होंगे—(१) पण्यागारिक—बेचे जानेवाले, (२) क्रयोपागत—अभी खरीदकर लाये गये, (३) आहवलब्ध—युद्ध में से पकड़ कर लाये गये, (४) आजात—वहीं पर पैदा हुए, (५) साहाय्यकागतक-सहायता के लिए बाहर से लाये गये, (६) पणस्थित—जमानत पर या कुड़की में रक्खे गये—(mortgaged) और (७) यावत्कालिक—थोड़े से समय के लिए रक्खे गये । (२।३०।१)

अश्वशाला अश्वों की संख्या के अनुसार लम्बी चौड़ी, घोड़ों को लम्बाई की दुगुनी चौड़ी, चार द्वारों से युक्त, मध्य भाग अपावर्तन के योग्य (जहाँ घोड़े लोट सकें), प्रग्रीव (कंगूरा या बरामदा) सहित, प्रद्वार पर आसन (बैठने के स्थान) से युक्त और वानर, मयूर, हिरण, नेवला, चकोर, शुक, शारिका से युक्त[४६] होनी चाहिए (२।३०।४) । इस अश्वशाला का फलक (फर्श) श्लक्ष्ण (चिकना) होना चाहिए और इसमें खादन-कोष्ठक (घास-कुट्टी के भण्डार) और पुरीष (लीद) और मूत्रोत्सर्ग के लिए सुचारु प्रबन्ध होने चाहिए। घोड़ी (बडवा), वृष (गर्भधारक) और किशोर—इनके लिए पृथक् पृथक् स्थान होने चाहिए **(वडवा-वृषकिशोराणामेकान्तेषु**—२।३०।७) ।

अश्वों का भोजन— घोड़ी जब बच्चा जने, तो उसे तीन दिन एक-एक प्रस्थ घी पिलाना चाहिए और फिर आगे दश रात्रि तक प्रति दिन एक प्रस्थ सत्तू, तैल और भैषज्य (ओषधियाँ) देनी चाहिए, और ऋतु के अनुसार पुलाक (पका अन्न, पुलाव) और यवस (घास) देना चाहिए। दस दिन का होने पर बच्चे को भी एक कुडुब सत्तू घी मिलाकर खिलाना चाहिए। ६ मास तक बच्चे को प्रति दिन एक प्रस्थ दूध भी मिलना चाहिए। फिर प्रति मास आधा-आधा प्रस्थ जौ बढ़ाते जाना चाहिए जब तक कि बच्चा तीन वर्ष का न हो जाय। तीन वर्ष से चार वर्ष तक की आयु तक इसे एक द्रोण भोजन मिलना चाहिए। (२।३०।८–१४)

उत्तम घोड़े के भोजन में इतनी चीजें बताई गई हैं (२।३०।२०–२१)—

शालि, व्रीहि, यव, प्रियंगु, मुद्ग और माष का अर्ध शुष्क और अर्धसिद्ध

पुलाक—दो द्रोण
घी तेल—१ प्रस्थ
लवण—५ पल

---

(४६) अश्वविभवेनायतामश्वायामद्विगुणविस्तारां चतुर्द्वारोपावर्तनमध्यां सप्रग्रीवां प्रद्वारासनफलकयुक्तां वानरमयूरपृषतनकुलचकोरशुकशारिकाभिराकीर्णां शालां निवेशयेत्। (२।३०।४)

मांस—५० पल
रस—१ आढ़क } इनसे गीला करना या सानना
दही—२ आढक }
क्षार—५ पल
सुरा—१ प्रस्थ
दूध—२ प्रस्थ

दीर्घ-पथ-भार से क्लान्त घोड़े को खाने को एक प्रस्थ घी-तेल और नस्यकर्म (नाक में डालने के लिए) एक कुडुव तेल और मिलना चाहिए। घास आधा भार (दस तुला) और तृण (सूखी घास) एक भार (बीस तुला) मिलनी चाहिए। लेटने को छः अरत्नि (६ हाथ) परिक्षेप की घास बिछी होनी चाहिए।

अन्य जाति के घोड़ों के लिए और घोड़ियों एवं खच्चरियों के लिए भी उनके अनुकूल भोजन का माप होना चाहिए। (२।३०।२२–२८)

सेना के योग्य घोड़े—युद्धोपयोगी अश्व काम्बोजक (काबुल या कम्बोज के), सैन्धव (सिन्ध के), आरट्टज (पंजाब में उत्पन्न) और वनायुज (अरब के) उत्तम माने गए हैं। बाह्लीक (बलख के), पापेयक, सौवीरक (राजपूताना के) और तैतल (तितल देश के) मध्यम माने गए हैं। अन्य घोड़े अधम श्रेणी के हैं। (२।३०।३२–३४)

घोड़ों का शिक्षण—कौटिल्य ने घोड़ों की ड्रिल का विस्तृत उल्लेख किया है, जिनसे घोड़े युद्धकर्म के योग्य बनते हैं। इस कर्म का नाम सांनाह्य' रक्खा गया है। सवारी (औपवाह्य) कर्म पाँच प्रकार के हैं—वल्गन, नीचैर्गत, लङ्घन, धोरण और नारोष्ट्र। इन सबके अनेक भेद भी दिए गए हैं—वल्गन के छः भेद, नीचैर्गत के सोलह भेद, लंघन के सात भेद, धोरण के सात भेद। संकेत के अनुसार घोड़े के चलने को 'नारोष्ट्र' कहते हैं।[४७]

घोड़ों की सेवा इतने व्यक्ति करें—चिकित्सक (जो शरीर के ह्रास, वृद्धि, भोजन आदि की देखरेख करें), सूत्रग्राहक (सईस या रास पकड़नेवाला), अश्वबन्धक (घोड़ा बाँधनेवाला), यावसिक (घास लानेवाला), विधापाचक (अन्न पकानेवाला), स्थानपाल (घुड़साल का साफ करनेवाला), केशकार (बालों को साफ करनेवाला, खरेरा करनेवाला) और जाङ्गलीविद् (जंगली जड़ीबूटियों को पहिचाननेवाला)। (२।३०।४९-५०)।

(४७) तत्रौपवेणुको वर्धमानको यमक आलीढप्लुतः (पृथ ? पूर्व) गस्त्रिकचाली च वल्गनः। स एव शिरःकर्णविशुद्धो नीचैर्गतः षोडशमार्गो वा। प्रकीर्णकः प्रकीर्णोत्तरो निषण्णः पार्श्वानुवृत्त ऊर्मिमार्गः शरभक्रीडितः शरभप्लुतः त्रितालो बाह्यानुवृत्तः पञ्चपाणिः सिंहायतः स्वाधूतः क्लिष्टः श्लिंगितो बृंहितः पुष्पाभिकीर्णश्चेति नीचैर्गतमार्गाः।
कपिप्लुतो भेकप्लुत एणप्लुत एकपादप्लुतः कोकिलसंचार्युरस्योबकचारी च लङ्घनः। काङ्को वारिकाङ्को मायूरोऽधर्ममायूरो नाकुलोऽर्धनाकुलो वाराहोऽर्धवाराहश्चेति धोरणः। संज्ञाप्रतिकारो नारोष्ट्र इति। (२।३०।३८-४३)

हस्ति-पालन—हस्तिपालन विभाग के अध्यक्ष का नाम 'हस्त्यध्यक्ष' है। इसका कर्त्तव्य है कि हस्तिवन की रक्षा करे—हाथियों, हथिनियों और उनके बच्चों के रहने-खाने आदि की सुव्यवस्था करे। इनके लिए बन्धनोपकरणों (बाँधने की रस्सी आदि) और सांग्रामिक अलंकारों की व्यवस्था करे। बीमार पड़ने पर इनकी चिकित्सा का ध्यान रक्खे। (२।३१।१)।

हाथी की लम्बाई (आयाम) जितनी हो, उससे दुगुने घेरे (विष्कम्भ) की और दुगुनी ऊँचाई (उत्सेध) की गजशाला बनवावे। हथिनी का स्थान अलग हो। यह शाला सप्रग्रीव (बराम्दादार) हो और इसमें कुमारी बनी हों। (कुमारी खम्भे पर लगे दण्ड का नाम है जैसा तुला-दण्ड। इससे हाथी बाँधे जाते हैं)। (२।३१।२)।

इस गजशाला का फर्श (फलक) चतुरस्र (चौकोर) चिकना और मलमूत्रोत्सर्ग की व्यवस्था से संयुक्त हो। (२।३१।३)।

दिन के आठ भागों में से प्रथम और सातवें भाग में हाथी दो बार नहलाया जाय। पूर्वाह्ण (forenoon) में हाथी व्यायाम करें और अपराह्ण (afternoon) में प्रतिपान करें (खायें-पीयें)। (२।३१।५)।

हाथी ग्रीष्मकाल में पकड़ना चाहिए और इसकी आयु २० वर्ष की होनी चाहिए **(ग्रीष्मे ग्रहणकालः विंशतिवर्षो ग्राह्यः**—२।३१।७)।

बिक्क (दूध पीनेवाला बच्चा), मूढ़, मत्कुण (बेदाँत वाला), व्याधित, गर्भिणी और धेनुका हस्तिनी (दूध पिलानेवाली हथिनी) नहीं पकड़नी चाहिए। सात हाथ ऊँचा, नौ हाथ लम्बा, दस हाथ मोटा और चालीस वर्ष की आयु का हाथी उत्तम होता है। तीस वर्ष का मध्यम और पच्चीस का कनिष्ठ होता है। मध्यम और कनिष्ठ को पौना और आधा इस क्रम से पका भोजन (विधा = अश्व और हाथी का भोजन) मिलना चाहिए।[४८]

पूरे सात हाथ ऊँचे हाथी का भोजन इस प्रकार है—

तण्डुल	१ द्रोण	क्षार (गुड़)	१० पल
तेल	आधा आढक	मद्य	१ आढक
घी	३ प्रस्थ	दूध	२ आढक
लवण	१० पल	तैल	१ प्रस्थ (गात्रावसेक-शरीर में मलने के लिए)
मांस	५० पल		⅛ प्रस्थ (शिर में लगाने को और दीपक के लिए)

---

(४८) प्रथमसप्तमावष्टमभागावह्नः स्नानकालौ तदनन्तरं विधायाः। पूर्वाह्णे व्यायामकालः पश्चाह्नः प्रतिपानकालः। रात्रिभागौ द्वौ स्वप्नकालौ त्रिभागः संवेशनोत्थानिकः। ग्रीष्मे ग्रहणकालः। विंशतिवर्षो ग्राह्यः। बिक्को मूढो मत्कुणो व्याधितो गर्भिणी धेनुका हस्तिनी चाग्राह्याः। सप्तारत्निरुत्सेधो नवायामो दशपरिणाहः प्रमाणतश्चत्वारिंशद्वर्षोभवत्युत्तमः। त्रिंशद्वर्षो मध्यमः। पंचविंशतिवर्षोऽवरः। तयो पादावरो विधाविधिः। (२।३१।५–१२)

मांस-रस	१ आढक	यवस	२ भार
दही	२ आढक	शष्प	२½ भार
		सूखी घास	३½ भार
		कडङ्कर(डंठल, पत्ते)	अनियम, यथेच्छ

आठ हाथ ऊँचा हाथी 'अत्यराल' कहलाता है और उसे भी उतना ही भोजन मिलना चाहिए जितना सात हाथ ऊँचे हाथी को। छः हाथ और पाँच हाथ ऊँचे हाथी को उसके आकार की अपेक्षा से कम करके भोजन मिलना चाहिए। क्रीडार्थ पकड़े गये बिक्क (दूध पीने वाला बच्चा) को क्षीर और यवस (घास, meadow grass) पर रखना चाहिए (२।३१।१३-१६)।

शोभा की दृष्टि से हाथी के कुछ भेद कौटिल्य ने इस प्रकार गिनाए हैं—सञ्जात-लोहिता (रुधिर के रंग का), प्रतिच्छन्ना (मांसल), संलिप्तपक्षा (जिसके पक्ष या पार्श्व भली प्रकार पुष्ट हों), समकक्ष्या (जिसकी कक्षाएँ एक-सी भरी हों), व्यतिकीर्ण-मांसा (जिसपर समान रूप से पुष्ट मांस हो), समतल्पतला (जिसकी पीठ पर समतल हो) और जातद्रोणिका (विषमतल की पीठ हो) इत्यादि[४९]। शोभा की इन कोटियों के अनुसार इन्हें भद्र और मन्द व्यायाम कराने चाहिए (**शोभावशेन व्यायामं भद्रं मन्दं च कारयेत्**—२।३१।१८)।

कर्मभेद से हाथी चार प्रकार के होते हैं—दम्य (पालतू), सांनाह्य (सेना के योग्य), औपवाह्य (सवारी के योग्य) और व्याल (दुष्ट)। दम्य हाथी पाँच प्रकार के होते हैं—स्कन्धगत, स्तम्भगत, वारिगत, अवपातगत और यूथगत। जो कन्धे पर सवारी कराना स्वीकार करे वह स्कन्धगत, जो बाँधा जा सके वह स्तम्भगत, जो पानी में ले जाया जा सके, वह वारिगत, जो गड्ढों में उतारा जा सके वह अवपातगत (अथवा अपपातगत) और जो समूहों में चले, वह यूथगत है।[५०]

सांनाह्य (military training) सात प्रकार के होते हैं। उपस्थान (उठना, बैठना drill), संवर्तन (दायें-बायें मुड़ना), संयान (आगे बढ़ना), वधावध (मारामारी), हस्तियुद्ध, नागरायण (नगर के द्वारादि तोड़ना) और सांग्रामिक (संग्राम सम्बन्धी)। इस सांनाह्य शिक्षण में उपविचार ये हैं—कक्ष्याकर्म (रस्सी आदि बाँधना), ग्रैवेयकर्म (ग्रीवा में आभूषणादि बाँधना) और यूथकर्म। (२।३२।५-७)

औपवाह्य हाथी आठ प्रकार के हैं—आचरण (चरण मिलाकर चलनेवाला), कुञ्जरौपवाह्य (दूसरे हाथी के साथ चलनेवाला), धोरण (trotting), आधान-गतिक (अनेक गतियों से चलनेवाला), यष्ट्युपवाह्य (लकड़ी के इशारे पर चलने-

---

(४९) संजातलोहिता प्रतिच्छन्ना संलिप्तपक्षा समकक्ष्याव्यतिकीर्णमांसा समतल्पतला जातद्रोणिकेति शोभाः। (२।३१।१७)

(५०) कर्मस्कन्धाः चत्वारो दम्यः सांनाह्य औपवाह्यो व्यालश्च। तत्र दम्यः पञ्चविधः। स्कन्धगतः स्तम्भगतो वारिगतोऽवपातगतो यूथगतश्चेति। (२।३२।१-३)

वाला), तोत्रोपवाह्य (अंकुश के संकेत पर चलनेवाला), शुद्धोपवाह्य (बिना अंकुश के संकेत मात्र पर चल देनेवाला) और मार्गायुक (शिकार के काम का)। इनके सम्बन्ध में तीन उपविचार बताए गए हैं—शारदकर्म, हीनकर्म और नारोष्ट्रकर्म। 'शारदकर्म' से अभिप्राय मोटे हाथियों को भूखा रखकर कृश कर देना, कृश को मोटा कर देना, मन्दाग्निवाले की भूख बढ़ा देना और अस्वस्थों को स्वस्थ कर देना है। 'हीनकर्म' का अभिप्राय सभी प्रकार के परिश्रमशील कर्म कराने से है। संकेत पर काम कराने की आदत डलाना 'नारोष्ट्रकर्म' है। (२।३२।८–१०)

व्याल या दुष्ट हाथी तो एक ही चाल चलता है। उसे रोक कर रखना चाहिए। यह सिखाने पर चौंकता है और उद्धत स्वभाव का होता है। यह व्याल हाथी शुद्ध, सुव्रत, विषम और सर्वदोषप्रदुष्ट—चार प्रकार के होते हैं। इनके बन्धन आदि का प्रमाण हाथियों के कुशल शिक्षकों पर निर्भर होना चाहिए। हाथियों के बाँधने में इतनी चीजों का उपयोग होता है—आलान (tetherposts) या गजबन्धन, ग्रैवेयक (गले की जंजीर), पारायण (हाथी पर चढ़ते समय सहारा लेने की रस्सी या girths), परिक्षेप (bridles), उत्तरा (सामने की जंजीर)। अन्य उपकरण अंकुश, वेणु, यन्त्रादि हैं। हाथियों के आभूषण वैजयन्ती, क्षुरप्रमाण, आस्तरण, कुथा (झूल) आदि हैं। हाथियों के सांग्रामिक अलंकार वर्म (कवच), तोमर (अथवा तोत्र—club), शरावाप (बाण भरने के थैले) और यंत्र हैं। (२।३२।११–१९)

हाथियों की सेवा में रहनेवाले परिचारक ये हैं—चिकित्सक, अनीकस्थ (हाथियों के शिक्षक), आरोहक (गजारोही), आधोरण (मालिश करनेवाले-those who groom them), हस्तिपक, औपचारिक, विधापाचक, यावसिक, पादपाशिक, कुटीरक्षक, औपशायिक (शयनशाला के रक्षक)। (२।३२।२०)

हाथीदाँत—हाथी के दाँत की जितनी मोटाई हो, उससे दुगुना हिस्सा छोड़कर शेष दाँत काट लेना चाहिए। जो हाथी नदी प्रान्त के हों, उनके ढाई और जो पर्वत प्रान्त के हों, उनके पाँच वर्ष में दाँत कटने चाहिए—

दन्तमूलपरीणाह द्विगुणं प्रोज्झ्य कल्पयेत्।
अब्दे द्वयर्धे नदीजानां पञ्चाब्दे पर्वतौकसाम्॥ कौटिल्य० २।३२।२७॥

व्यवसायोपयोगी विभिन्न पदार्थ

चन्दन—निम्नलिखित प्रकार के चन्दनों का उल्लेख कौटिल्य ने किया है—

१. सातन चन्दन, लाल और भूमि-गन्धि होता है।
२. गोशीर्षक चन्दन, कृष्ण और लाल (कालताम्र) वर्ण का तथा मत्स्य-गन्धि होता है।
३. हरिचन्दन शुक के पंखों के रंग का और आम्र-गन्धि होता है।
४. तार्णस चन्दन भी हरिचन्दन का-सा होता है।

५. ग्रामेरुक चन्दन रक्त या रक्तकृष्ण (रक्तकाल) वर्ण का और बकरे के मूत्र की गन्धवाला (बस्तमूत्रगन्धि) होता है।
६. दैवसभेय लाल और पद्म-गन्धि होता है।
७. औपक, जापक अथवा जावक भी दैवसभेय के समान होता है।
८. जौङ्गक रक्त या रक्तकाल वर्ण का अथवा स्निग्ध होता है।
९. तौरूप जौङ्गक के समान है।
१०. मालेयक पाण्डुरक्त (पीत-रक्त) वर्ण का है।
११. कुचन्दन काले रंग का और गोमूत्रगन्धि है।
१२. कालपर्वतक रुक्ष और अगुरु (अगर) के वर्ण का काला, लाल या रक्तकाल वर्ण का होता है।
१३. कोशाकार-पर्वतक काला या कालचित्रक (काला चितकबरा) होता है।
१४. शीतोदकीय चन्दन पद्माभ या काला स्निग्ध होता है।
१५. नागपर्वतक रुक्ष या शैवल-वर्ण का होता है।
१६. शाकल चन्दन कपिल (पीला सा) वर्ण का होता है। (२।११।४४–५९)

उत्तम प्रकार के चन्दन के ये लक्षण हैं—

लघुस्निग्धमश्यानं सर्पिःस्नेहलेपि गन्धसुखं त्वगनुसार्यनुल्बणमविराग्युष्णसहं दाहग्राहि सुखस्पर्शनमिति चन्दनगुणाः। (२।११।६०)

अर्थात् हलका, स्निग्ध, अशुष्क (अश्यान), घी के समान स्नेहलेपि, सुगन्धयुक्त, त्वचा में शीतलताकारी, अनुल्बण (बे-फटासा), अविरागी (पक्के रंग का), उष्णसह, दाहग्राहि और सुखस्पर्शवाला चन्दन उत्तम होता है।

अगुरु (अगर)—तीन प्रकार के अगर का उल्लेख किया है—

१. जोङ्गक जो काला, काला चितकबरा (कालचित्रक) या मण्डलचित्रक (गोल-गोल छींटोंवाला) होता है।
२. दोङ्गक जो श्याम वर्ण का होता है।
३. पारसमुद्रक जो विभिन्न रूपों (चित्ररूप) का और उशीरगन्धि (खस की सी गन्धवाला) अथवा नवमालिका (नव-चमेली) की गन्ध का सा होता है।

(२।११।६१–६३)

उत्तम अगुरु के लक्षण ये हैं—**गुरुस्निग्धं पेशलगन्धि निर्हार्यग्निसहमसंप्लुतधूमं समगन्धं विमर्दसहमित्यगुरुगुणाः॥** (२।११।६४)

अर्थात् यह भारी, स्निग्ध, दूर तक गन्ध देनेवाला (पेशलगन्धि), गरमी सोखने वाला, आनन्ददायक, धूम से सम्पन्न, समगन्धवाला और पोंछ देने पर भी न मिटने वाला होता है।

तैलपर्णिक—यह निम्नलिखित समय में विभिन्न प्रकार के पाए जाते हैं—

१. अशोकग्रामिक जो मांसवर्णक और पद्मगन्धि होता है।
२. जोङ्गक जो रक्तपीत वर्णक और उत्पलगन्धि (कमल की सी गन्धवाला) या गोमूत्रगन्धि होता है।

३. ग्रामेरुक जो स्निग्ध और गोमूत्रगन्धि है।

४. सौवर्ण कुड्यक जो रक्तपीत मातुलुङ्गगन्धि (संतरे की गन्ध सा) होता है।

५. पूर्णकद्वीपक पद्मगन्धि या नवनीतगन्धि होता है।

६. भद्रश्रीय } ये जातीवर्ण (जायफल के रंग के) के होते हैं।
७. पारलौहित्यक }

८. आन्तरवत्य उशीर (खस) के रंग का होता है। भद्रश्रीय, पारलौहित्यक और आन्तरवत्य में कुष्ठ की सी गन्ध होती है।

९. कालेयक, जो स्वर्णभूमि में उत्पन्न होता है, स्निग्ध और पीतक (पीले रंग का) होता है।

१०. औत्तरपर्वतक रक्त-पीत वर्णक होता है। (२।११।६५–७४)

चर्म– चर्म तीन प्रकार का होता है—(१) कान्तनावक, (२) प्रैयक और (३) औत्तरपर्वतक।[५१] 'कान्तनावक' का रंग मोर की ग्रीवा-सा होता है। 'प्रैयक' चर्म श्वेतरेखाओं से युक्त और बिन्दुओं से चित्रित नील-पीत रंग का होता है। इन दोनों चमड़ों की चौड़ाई आठ अंगुल तक होती है।

द्वादश ग्राम का चमड़ा 'बिसी' और 'महाबिसी' दो प्रकार का होता है। अव्यक्त अथवा अस्पष्ट रूप का, बालोंवाला और चित्रित चमड़ा 'बिसी' और रुक्ष (परुष) और श्वेतप्राय चमड़ा 'महाबिसी' कहा जाता है। ये दोनों बारह अंगुल चौड़ाई तक के होते हैं।

'आरोहज' (हिमालय के आरोह प्रदेश में उत्पन्न) चमड़ा श्यामिक, कालिक, कदली, चन्द्रोत्तर और शाकुल जातियों का होता है। श्यामिक चमड़ा कपिलवर्णक और चितकबरा (बिन्दुचित्रित) होता है। कालिक चमड़ा कपिल वर्णक या कबूतर के रंग का होता है। ये दोनों आठ अंगुल चौड़ाई के होते हैं। कदली चर्म परुष (रुक्ष) और एक हाथ चौड़ा होता है। चन्द्रोत्तर में चाँद के से चित्र होते हैं। इसके

(५१) कान्तनावकं प्रैयकं चौत्तरपर्वतकं चर्म। कान्तनावकं मयूरग्रीवाभम्। प्रैयकं नीलपीतं श्वेतं लेखाबिन्दुचित्रम्। तदुभयमष्टाङ्गुलायामम्। बिसी महाबिसी च द्वादश ग्रामीये। अव्यक्तरूपादुहिलिका चित्रा वा बिसी। परुषा श्वेतप्राया महाबिसी। द्वादशाङ्गुलायाममुभयम्। श्यामिका कालिका कदली चन्द्रोत्तरा शाकुला चारोहजाः। कपिला बिन्दुचित्रा वा श्यामिका, कालिका कपिला कपोतवर्णा वा। तदुभयमष्टाङ्गुलायामम्। परुषाकदली हस्तायता। सैव चन्द्रचित्रा चन्द्रोत्तरा। कदली त्रिभागा शाकुला कोठमण्डलचित्रा कृतकर्णिकाजिनचित्रा चेति। सामूरं चीनसी सामूली च वाह्लवेयाः। षट्त्रिंशदङ्गुलमञ्जनवर्णं सामूरम्। चीनसी रक्तकाली पाण्डुकाली वा। सामूली गोधूमवर्णेति। सातिना नलतूला वृत्तपुच्छा चौद्राः। सातिना कृष्णा। नलतूला नलतूलवर्णा। कपिला वृत्तपुच्छा च। इति चर्म जातयः। चर्मणां मृदुस्निग्धं बहुलरोमं च श्रेष्ठम्। (२।११।७७–१०१)

एक तिहाई माप का चन्द्रोत्तर कदली होता है। शाकुला में बड़े-बड़े मण्डल चित्र, जैसे कोढ़ में, होते हैं। अथवा कृतकर्णिक मृग के तुल्य यह चितकबरा होता है।

बाह्लव देश से सामूर, चीनसी और सामूली तीन प्रकार का चमड़ा प्राप्त होता है। अञ्जन वर्ण का ३६ अंगुल चौड़ाई का सामूर चर्म होता है। चीनसी चर्म रक्त-काली (लाल मिश्रित काला) या पाण्डु काली (पीला-काला) होता है। सामूली चर्म गेहुँए रंग का होता है।

औद्र चर्म (उद्र देश का) सातिन, नलतूल और वृत्तपुच्छ इन तीन जातियों का होता है। सातिन चमड़ा काला होता है, नल-तूल नल-सूत्र के रंग का और वृत्त-पुच्छ चर्म कपिल वर्ण का होता है।

ये चर्म की जातियाँ हैं। अच्छा चमड़ा वह है, जो मृदु-स्निग्ध और रोयेंदार हो।

ऊन और आविक—ऊन से बने वस्त्रों (कम्बल आदि) का नाम 'आविक' है; क्योंकि भेड़ को 'अवि' कहते हैं। ये श्वेत वर्ण के, शुद्ध-रक्त वर्ण के या पद्म-रक्त (पक्ष-रक्त ?) वर्ण के होते हैं। ये या तो खचित (काढ़े हुए) या वानचित्र (विभिन्न रंग के ऊन के सूत्रों से बुने हुए), या खण्ड संघात्य (विभिन्न ऊनी कपड़ों के जोड़ से बने) अथवा तन्तुविच्छिन्न (एक प्रकार के सूत्रों से बुने हुए या जालीदार) होंगे। ये कम्बल १० प्रकार के होते हैं—कम्बल, केचलक, कलमितिक, सौमितिक, तुरगास्तरण, वर्णक, तलिच्छक, वारवाण, परिस्तोम और समन्तभद्रक। इनमें जो पिच्छल (चिकना), आर्द्र, सूक्ष्म और मृदु हो, वह श्रेष्ठ है। नैपाल में दो प्रकार का 'आविक' बनता है—(१) भिङ्गिसी जो आठ टुकड़ों को मिलाकर बनाया जाता है और कृष्ण रंग का होता है, और (२) अपसारक भी उसी प्रकार का होता है। ये 'वर्षावारण' (rainproof, पानी से न भीगनेवाले) होते हैं।

जंगली पशुओं के रोम (मृगरोम) से बने कम्बल संपुटिक, चतुरश्रिक, लम्बर, कटवानक, प्रावरक और सत्तलिक हैं। इस देश में बने आविकों में से वंग देश के अर्थात् वांगक तो श्वेत, स्निग्ध दुकूल हैं; पुण्ड्रदेश के पौण्ड्रक श्याम और मणि के पृष्ठ के समान स्निग्ध हैं और सौवर्ण कुड्यक सूर्य्य वर्ण के हैं (सूर्य्य ऐसे लाल)। सौवर्ण कुड्यक मणिस्निग्ध हैं, उदकवान (भींगे तन्तुओं से बुने), चतुरश्रवान (चौरस) और मिश्रित रचना के (व्यामिश्रवान) होते हैं। ये वस्त्र एक तन्तु, दो तन्तु, तीन-चार तन्तु आदि मिलाकर बनाए जाते हैं।

इसी प्रकार के वस्त्रों के समान काशिक (बनारसी), पौण्ड्रक, और क्षौम वस्त्रों को भी समझना चाहिए।[५२]

---

(५२) **शुद्धंशुद्धरक्तं पक्षरक्तं च आविकम्, खचितं वानचित्रं खण्डसंघात्यं तन्तु-विच्छिन्नं च। कम्बलः केचलकः कलमितिका सौमितिका तुरगास्तरणं वर्णकं तलिच्छकं वारवाणः परिस्तोमः समन्तभद्रकं च आविकम्। पिच्छलमार्द्रमिव च सूक्ष्मं मृदु च श्रेष्ठम्। अष्टप्लोति संघात्या कृष्णा भिंगिसी वर्षवारणमपसारक इति नैपालकम्। संपुटिका चतुरश्रिका लम्बरा कटवानकं प्रावरकः सत्तलिकेति**

पत्रोर्णा—पत्तों के तन्तुओं से बनी अथवा वानस्पतिक ऊन—यह तीन प्रकार की बताई गई है—मागधिक, पौण्ड्रिक और सौवर्णकुड्यक। यह पत्रोर्णा निम्नांकित वृक्षों से पाई जाती है—नागवृक्ष, लकुच, वकुल और वट। नागवृक्षिका पीले रंग की होती है, लैकुची गेहुँए रंग की होती है, वाकुली सफेद होती है और शेष पत्रोर्णाएँ मक्खन के से रंग की (नवनीत-वर्णा)। इनमें से सौवर्ण कुड्यक श्रेष्ठ मानी गई है।

कौशेय, चीनपट्ट और चीन-भूमिज ऊनें भी इसी प्रकार की समझनी चाहिए[५३]।

कपास और कार्पासिक—कपास के बने कपड़े कार्पासिक कहलाते हैं। माधुर (मदुरा के बने), अपरान्तक (कोंकण देश के), कालिंगक, काशिक (काशी के), वाङ्गक, वात्सक (वत्स देश के) और महिषक (माहिष्मती के) सूती कपड़े श्रेष्ठ माने गए हैं[५४]।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में धुनाई-बुनाई का भी उल्लेख किया है। **ऊर्ण-तूलायाः पञ्चपलिको विहननच्छेदो रोमच्छेदश्च** (४।१।१७)। धुनने का नाम विहनन है। अबतक भी धुननेवाले को हमारे देश में 'बिहना' कहा जाता है। रोम का अर्थ बुनना है। धुनने-बुनने की प्रत्येक प्रक्रिया में पाँच-पाँच पल ऊन की कमी हो जाती है (अर्थात् विहननच्छेद पाँच पल और रोमच्छेद पाँच पल है) अर्थात् १०० पल ऊन में १० पल की कमी धुनने बुनने में हो जायगी।

धुलाई-रँगाई—रजक अर्थात् धोबी काष्ठफलक (लकड़ी के तख्तों) अथवा श्लक्ष्णशिला (चिकने पत्थरों) पर कपड़े धोवें। अन्यत्र धोने पर उन्हें न केवल छः पण दण्ड होगा, उन्हें वस्त्रोपघात (कपड़े खराब होने का हरजाना) भी देना पड़ेगा। धोबी उन्हीं वस्त्रों को पहनें, जिनपर मुद्गर चिह्न अंकित कर दिया गया है, अन्यथा उन्हें तीन पण का दण्ड होगा (धोबी अपने यजमानों के कपड़े इस प्रकार नहीं पहन सकेगा)। दूसरों के धुलने को आए हुए कपड़ों को जो बेचता है या उधार देता है, उस धोबी पर बारह पण दण्ड हो। यदि धोने पर कोई धोबी वस्त्र बदल दे, तो उसे असली कपड़ा तो लौटाना ही पड़ेगा, ऊपर से द्विगुण मूल्य का दण्ड और होगा।

कपड़े धुलाई द्वारा कितने साफ हो जायँ, इसकी चार कोटियाँ थीं—(१) मुकुल-

---

मृगरोम। वाङ्गकं श्वेतं स्निग्धं दुकूलं पौण्ड्रकं श्यामं मणिस्निग्धं सौवर्णकुड्यकं सूर्यवर्णम्। मणिस्निग्धोदकवानं चतुरश्रवानं व्यामिश्रवानं च। एतेषामेकांशुकमध्यर्धद्वित्रिचतुरं शुकमिति। तेन काशिकं पौण्ड्रकं क्षौमं व्याख्यातम्। (२।११।१०२–१११)।

(५३) मागधिका पौण्ड्रिका सौवर्णकुड्यका च पत्रोर्णाः। नागवृक्षो लिकचो वकुलो वटश्च योनयः। पीतिका नागवृक्षिका। गोधूमवर्णा लैकुची। श्वेता वाकुली। शेषा नवनीतवर्णा। तासां सौवर्णकुड्यका श्रेष्ठा। तया कौशेयं चीनपट्टाश्च चीनभूमिजा व्याख्याताः। (२।११।११२–११९)।

(५४) माधुरमपरान्तकं कालिंगकं काशिकं वांगकं वात्सकं माहिषकं च कार्पासिकं श्रेष्ठमिति। (२।११।१२०)।

पुष्प (चमेली) के समान सफेद, (२) शिलापट्टशुद्ध—पत्थर की पटिया पर पीट कर शुद्ध इतने हो जायँ कि सूत का असली वर्ण निकल आवे, (३) साधारण धोकर स्वच्छ किया (प्रमृष्ट श्वेत)। भिन्न-भिन्न धुलाई के लिए धोबी को कपड़ा लौटाने का भिन्न-भिन्न समय नियत था। इससे अधिक समय में लानेवाले पर दण्ड होता था।

हलकी रँगाई करने के लिए पाँच दिनों की सीमा थी। नील रंग से रँगाने के लिए छः दिन और इसी प्रकार पुष्प रंग, लाक्षा रंग, मञ्जिष्ठ रंग या लाल रंग की रँगाई के लिए अथवा बहुत कुशलता से उपचार-पूर्वक धुलाई-रँगाई के लिए सात दिन की अवधि थी। इतने दिन से अधिक कोई लगावे, तो उसकी वेतनहानि होती थी[५५]।

विष-परीक्षा और आशुमृतक परीक्षा

[Testing of Poisons and Post-mortem Examination]

विष क्या है ?—कौटिल्य के समय निम्नलिखित पदार्थों का प्रयोग विषरूप में होता था—**कालकूटवत्सनाभहालाहलमेषशृंगमुस्ताकुष्ठमहाविषवेल्लितकगौरार्द्रबालकमार्कटहैमवतकालिंगकदारदकांकोलसारकोष्ट्रकादीनि विषाणि। सर्पाःकीटाश्च त एव कुम्भगताः विषवर्गः**। (२।१७।१३–१४)

अर्थात् कालकूट, वत्सनाभ, हालाहल, मेषशृंग, मुस्ता, कुष्ठ, महाविष, वेल्लितक, गौरार्द्र, बालक, मार्कट, हैमवत, कालिंगक, दारदक, अंकोलसारक, उष्ट्रक—ये विष हैं। घड़े में साँप और कीट सड़ाने से भी विष बनता है।

विष से सुरक्षा—जीवन्ती, श्वेता (शंखपुष्पी), मुष्कक (लोंध) के फूल, वन्दाक (अमर बेल), पेजात (वेजात या जात ?) और अश्वत्थ के प्रतान जिन भवनों में होंगे, वहाँ सर्पविष की आशंका न होगी (वहाँ पर साँप न होंगे)। सर्प खा डालने के लिए घर में मार्जार (बिल्ली), मयूर (मोर), नकुल (नेवला) और पृषत (मृग) पालने चाहिए। शुक, शारिका और भृंग घर में सर्पविष आते ही चिल्लाने लगते हैं तथा क्रौञ्चपक्षी विषवाले घर में आते ही मूर्च्छित हो जाता है। इससे पता चल जायगा कि किसी घर में सर्प का विष तो कोई नहीं लाया। इसी प्रकार जीवंजीवक (चकोर) पक्षी विष देखकर ग्लानि करने लगता है। मत्त कोकिल विष देखते ही मर जाती है। चकोर की आँखें विष देखकर लाल हो जाती हैं।[५६]

(५५) रजकाः काष्ठफलकश्लक्ष्णशिलासु वस्त्राणि नेनिज्युः। अन्यत्र नेनिजतो वस्त्रोपघातं षट्पणं च दण्डं दद्युः। मुद्गराङ्कादन्यद्वासः परिदधानास्त्रिपणं दण्डं दद्युः। परवस्त्रविक्रयावक्रयाधानेषु च द्वादशपणो दण्डः। परिवर्त्तने मूल्य-द्विगुणो वस्त्रदानं च। मुकुलावदातं शिलापट्टशुद्धं धौत्रसूत्रवर्णं प्रमृष्टश्वेतं चैकरात्रोत्तरं दद्युः। पञ्चरात्रिकं तनुरागम्। षड्रात्रिकं नीलं पुष्पलाक्षामञ्जिष्ठारक्तम्। गुरुपरिकर्मयत्नोपचार्यं जात्यं वासः सप्तरात्रिकम्। ततःपरं वेतनहानिं प्राप्नुयुः। (४।१।१८–२७)

(५६) जीवन्ती श्वेतामुष्ककपुष्पवन्दाकाभिरक्षीवे जातस्याश्वत्थस्य प्रतानेन वा गुप्तं

भोजन में विष—यदि विषाक्त भोजन अग्नि में छोड़ा जाय तो उसमें से लपटें नीली और धुआँ नीला निकलेगा और अग्नि में शब्दस्फोटन (चट-चट शब्द) होगा। यदि विषाक्त भोजन कोई पक्षी खाय, तो वह उसी समय तड़फड़ाने लगेगा। विषाक्त अन्न से जो उष्मा या भाप निकलती है, वह मयूर-ग्रीवा के रंग की होती है। विषाक्त अन्न ठण्ढा भी शीघ्र हो जाता है और तोड़ने पर उसका रंग वैवर्ण्य हो जाता है। किसी-किसी विष के संयोग से भोजन से पानी छूटने लगता है और भोजन रुक्ष हो जाता है।

दाल-शाक (व्यञ्जन) में विष हो, तो वह शीघ्र शुष्क हो जाबँगे, वे क्वाथ-ऐसे श्याम हो जाबँगे और किसी-किसी में से फेन भी निकलने लगेगा। उन भोजनों के गन्ध, स्पर्श, रसादि गुणों में अन्तर आ जायगा। पतले शाकों (द्रव्यों) में पुरुष की छाया का आकार ही विभिन्न प्रकार का दिखाई पड़ने लगेगा। इनमें संभवतः फेन भी उठने लगेगा, पानी और शाक अलग-अलग छितरे दिखाई पड़ेंगे और स्तर पर एक ऊर्ध्व रेखा दिखाई पड़ेगी।

शाकादि के रस में विष मिलने पर नीली पंक्ति दिखाई पड़ती है। दूध में विष मिलने पर ताम्रवर्ण की पंक्ति, मद्य और जल में काले रंग की, दही में श्याम रंग की और मधु में विष मिले होने पर श्वेत रंग की पंक्ति दिखाई पड़ेगी।

आर्द्रद्रव्यों में विष मिला हो तो वे शीघ्र बासी-से (अम्लान) दिखाई देंगे, शीघ्र सड़ने लगेंगे और उनका क्वाथ नील-श्याम वर्ण का हो जायगा।

शुष्क पदार्थों में विष मिला हो तो वे शीघ्र कट जाबँगे और विवर्ण हो जायँगे। विष मिलने पर कभी-कभी कठिन पदार्थ मृदु पड़ जाते हैं और मृदु पदार्थ कठिनत्व को प्राप्त होते हैं। विषाक्त भोजन के निकट क्षुद्र जन्तुओं (चींटी आदि) को कभी-कभी मृत्यु भी दिखाई देती है।

बिछौने (आस्तरण) और ओढ़ने (प्रावरण) के वस्त्रों में विष मिला हो, तो उनमें श्याम धब्बे पड़ जाते हैं और उनके तन्तु तथा रोम कट जाते हैं।

धातुओं और मणियों के पात्र विष के संपर्क में आने पर पङ्क-मल में लिपटे-से दीखने लगते हैं।

इस प्रकार विष से युक्त पदार्थों के स्नेह, रंग, गुरुता, प्रभाव-वर्ण और स्पर्श आदि गुणों में अन्तर पड़ जाता है। विष मिलने पर उनके स्वाभाविक गुण नष्ट हो जाते हैं।[५७]

सर्पा विषाणि वा न प्रसहन्ते। मार्जारमयूरनकुलपृषतोत्सर्गः सर्पान्भक्षयति। शुकशारिकाभृंगराजो वा सर्पविषशङ्कायां क्रोशति। क्रौञ्चो विषाभ्याशे माद्यति। ग्लायति जीवंजीवकः। म्रियते मत्तकोकिलः। चकोरस्याक्षिणी विरज्येते। (१।२०।९–१५)

(५७) अग्नेर्ज्वालाधूमनीलता शब्दस्फोटनं च विषयुक्तस्य वयसां विपत्तिश्च। अन्नस्योष्मा मयूरग्रीवाभः शैत्यमाशु क्लिष्टस्येव वैवर्ण्यं सोदकत्वमक्लिन्नत्वं च। व्यञ्जनानामाशु शुष्कत्वं च क्वाथश्यामफेनपटलविच्छिन्नभावो गन्धस्पर्शरस-

आशुमृतकपरीक्षा—जो व्यक्ति अभी कुछ काल पूर्व मारा गया है, उसे आशुमृतक कहते हैं। राजकीय विधान में इसकी परीक्षा इस प्रकार होनी चाहिए। आशुमृतक को तेल में रखकर उसकी परीक्षा करे।

यदि मृतक का मलमूत्र निकल पड़ा हो, जिसके पेट या त्वचा में हवा भर गई हो, जिसके हाथ-पैर सूज गये हों, जिसकी आँखें उन्मीलित हों, जिसके गले में रस्सी आदि के चिह्न हों; उसे दम घोंटकर या गला घोंटकर मारा गया मानना चाहिए (निरुद्धोच्छ्वासहत)।

यदि मृतक की बाहु और जाँघें संकुचित प्रतीत हों, तो उसे लटकाकर मारा गया है, ऐसा समझना चाहिए (उद्बन्धहत)।

यदि मृतक के हाथ-पैर और पेट में सूजन हो, आँखें भीतर को धसी हों और नाभि बाहर को फूल आई हो, तो इसे अवरोपण से मरा (शूली पर चढ़ा कर मारा) मानना चाहिए।

जिसकी गुदा और आँख निस्तब्ध हो गई हो, जीभ दाँतों के बीच हो, पेट फूला हो, उसे उदकहत (पानी में डुबोकर मारा) मानना चाहिए।

जो खून से अनुषिक्त हो और जिसके शरीर का अवयव कट गया हो, उसे लाठी (काष्ठ) और पत्थर (अश्म) से मारा मानना चाहिए।

जिसका सारा शरीर फट गया हो, उसे ऊपर से नीचे गिराकर (अवक्षित) मारा गया मानना चाहिए।

जिसके हाथ, पैर, दन्त, नख काले पड़ गये हों, जिसके मांस, रोम और चर्म शिथिल हो गये हों और मुँह झाग से भरा हो, उसे विष से मारा मानना चाहिए (विषहत)।

यदि मृतक के किसी विशेष स्थान पर दाँत के चिह्न और वहाँ खून हो, तो उसे सर्प या अन्य जन्तु से काटा गया मानना चाहिए (सर्पकीटहत)।

जो शरीर और वस्त्र से विक्षिप्त हो और जिसे अतिवमन और बहुत दस्त हो रहे हों, तो उसे मदनयोग से (मदन-धतूरा के विष से) मारा समझना चाहिए (मदनयोगहत)।

जो विष से मारा गया है, उसके बचे भोजन की दूध से परीक्षा करानी चाहिए,

---

वधश्च। द्रव्येषु हीनातिरिक्तच्छाया दर्शनम्। फेनपटलसीमान्तोर्ध्वराजी दर्शनं च। रसस्य मध्ये नीला राजी पयसस्ताम्रा, मद्यतोययोः काली, दध्नः श्यामा, च मधुनः श्वेता। द्रव्याणामार्द्राणामाशु अम्लानत्वमुत्पक्वभावः क्वाथनीलश्यामता च। शुष्काणामाशु शातनं वैवर्ण्यं च। कठिनानां मृदुत्वं मृदूनां कठिनत्वं च। तदभ्याशे क्षुद्रसत्त्ववधश्च। आस्तरणप्रावरणानां श्याममण्डलता तन्तु-रोमपक्ष्मशातनं च। लोहमणिमयानां पङ्कमलोपदेहता। स्नेहरागगौरवप्रभाव-वर्णस्पर्शवधश्चेति विषयुक्तलिङ्गानि। (१।२१।१०–२२)

उस मृतक का हृदय अग्नि में डाले और यदि चिट-चिट आवाज हो और इन्द्रधनुष का रंग ज्वाला में हो, तो उसे विषहत मानना चाहिए।[५८]

आयुध

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में युद्धोपयोगी निम्नलिखित अस्त्र-शस्त्र और आयुधों का उल्लेख किया है—

१. चक्रयन्त्र—घुमाकर छोड़नेवाले यन्त्र।
२. आयुध—अस्त्र-शस्त्र आदि।
३. आवरण—कवचादि।

समस्त यन्त्रों के दो विभाग हैं—'स्थित यन्त्र' और 'चल यन्त्र'।

सर्वतोभद्रजामदग्न्यबहुमुखविश्वासघातिसङ्घाटीयानकपर्जन्यकबाहूर्ध्वबाह्वर्धबाहूनि स्थित-यन्त्राणि। (२।१८।६)।

बहुस्वामि के भाष्य के अनुसार ये यन्त्र इस प्रकार के हैं जिनमें स्थित यन्त्र निम्नलिखित हैं—

१. **सर्वतोभद्र**—पहियेदार गाड़ी जो तेजी से घुमाई जा सके। घुमाने पर यह सब दिशाओं में पत्थर फेंकती थी। इसे भूमारिक यन्त्र भी कहते हैं।
२. **जामदग्न्य**—बाण छोड़ने की बड़ी मशीन (महाशरयन्त्र)।
३. **बहुमुख**—दुर्ग के शीर्ष पर बनी अट्टालिका, जिसपर चर्म का आवरण होता था और जहाँ से अनेक धनुर्विद् सब दिशाओं में बाण छोड़ते थे।
४. **विश्वासघाति**—दुर्ग के द्वार पर खाई के ऊपर आर-पार एक दण्ड होता था। शत्रु जब खाई पार करने को उतरते, तब यह दण्ड उनपर गिर पड़ता और उन्हें मार डालता।
५. **संघाती**—अट्टालिका और दुर्ग के अन्य भागों में आग लगाने के लिए स्थापित लम्बा बाँस या दण्ड।
६. **यानक**—किसी यान या पहिये पर आरूढ़ दण्ड जो फेंककर शत्रुओं को मारा जाता था।

---

(५८) तैलाभ्यक्तमाशुमृतकं परीक्षेत। निष्कीर्ण मूत्रपुरीषं वातपूर्णकोष्ठत्वक्कं शूनपादपाणिमुन्मीलिताक्षं सव्यञ्जनकण्ठं पीडननिरुद्धोच्छ्वासहतं विद्यात्। तमेव संकुचितबाहुसक्थिमुद्बन्धहतं विद्यात्। शूनपाणिपादोदरमपगताक्षमुद्वृत्तनाभिमवरोपितं विद्यात्। निस्तब्धगुदाक्षं संदष्टजिह्वमाध्मातोदरमुदकहतं विद्यात्। शोणितानुसिक्तं भग्नभिन्नगात्रं काष्ठैरश्मिभिर्वा हतं विद्यात्। संभग्नस्फुटितगात्रमवक्षिप्तं विद्यात्। श्यावपाणिपाददन्तनखं शिथिलमांसरोमचर्माणं फेनोपदिग्धमुखं विषहतं विद्यात्। तमेव सशोणितदंशं सर्पकीटहतं विद्यात्। विक्षिप्तवस्त्रगात्रमतिवान्तविरिक्तं मदनयोगहतं विद्यात्। (४।७।१–१०)

विषहतस्य भोजनशेषं पयोभिः परीक्षेत। हृदयादुद्धृत्याग्नौ प्रक्षिप्तं चिटचिटायदिन्द्रधनुर्वर्णं वा विषयुक्तं विद्यात्। (४।७।१२–१३)

७. **पर्जन्यक**—आग बुझाने का जलयन्त्र। कुछ का कहना है कि यह एक पचास हाथ लंबी मशीन होती थी और दुर्ग के द्वार पर रक्खी रहती थी। आते हुए शत्रुओं पर यह प्रहार करती थी।

८. **ऊर्ध्वबाहु**—ऊँचे पर बना स्तम्भ जो शत्रुओं पर गिरा दिया जाता था।

९. **अर्धबाहु**— आमने-सामने बने दो स्तम्भ जो शत्रुओं पर गिरा दिये जाते थे और शत्रु दोनों के बीच दबकर मर जाते थे।

चलयंत्र ये हैं—

पञ्चालिकदेवदंडसूकरिकामुसलयष्टिहस्तिवारकतालवृन्तमुद्गरद्रुघणगदास्पृक्तलाकुद्दालास्फोटिमोद्घाटिमोत्पाटिमशतघ्नीत्रिशूलचक्राणिचलयन्त्राणि। (२।१८।७)

१. **पंचालिक**—एक तख्ता जिसमें बहुत-सी नुकीली चीजें गढ़ी होती थीं। इसे जलपृष्ठ पर डाल देते थे जिससे शत्रु तैरकर जल पार न कर सकें।

२. **देवदंड**—एक लम्बे दण्ड में कीलें लगी होती थीं और किले की दीवार पर इसे आरोपित किया जाता था।

३. **सूकरिका**—चमड़े का थैला जो रूई या ऊन से भरा होता था। यह दीवारों या सड़कों पर रख दिया जाता था, जिससे शत्रुओं द्वारा फेंके गये पत्थरों से रक्षा हो सके।

४. **मुसल और यष्टि**—ये खदिर लकड़ी के बने नोकीलेदार दण्ड होते थे।

५. **हस्तिवारक**—हाथी को भगा देने (पीठ घुमा देने) के लिए दो-तीन त्रिशूलों का बड़ा डण्डा।

६. **तालवृन्त**—पंखे के समान गोलचक्र।

७. **मुद्गर**।

८. **गदा**।

९. **स्पृक्तल**—दण्ड, जिसके सिरे पर तीक्ष्ण कीलें हों।

१०. **कुद्दाल**—फड़ुहा

११. **आस्फोटिम (अस्फाटिम)**—चमड़े का थैला जिसमें दण्ड के आघात से रौद्र ध्वनि हो।

१२. **उद्घाटिम या औद्घाटिम**—बुर्जों और स्तम्भों को गिराने का यन्त्र।

१३. **उत्पाटिम**—उखाड़ने का यन्त्र।

१४. **शतघ्नी**—एक बड़ा स्तम्भ जो किले की दीवार पर बना होता था और जिसमें तीक्ष्ण कीलें लगी होती थीं।

१५. **त्रिशूल**।

१६. **चक्र**।

'हलमुख' यंत्र निम्नलिखित हैं—

शक्तिप्रासकुन्तहाटकभिण्डिपालशूलतोमरवराहकर्णकणयकर्पणत्रासिकादीनि च हलमुखानि। (२।१८।८)

१. **शक्ति**—चार हाथ लम्बा धातु का बना अस्त्र; करवीर के पत्ते के समान और गाय के स्तन के समान मुठिया लगा हुआ।

२. **प्रास**—दो हत्थों का चौबीस अंगुल लम्बा अस्त्र।

३. **कुन्त**—पाँच, छः या सात हाथ लम्बा लकड़ी का दण्ड।

४. **हाटक**—तीन या चार शूलों से युक्त दण्ड।

५. **भिण्डिपाल** (भिण्डिवाल)—भारी सिर का दण्ड।

६. **शूल**—अनिश्चित लम्बाई का नोकीला दण्ड।

७. **तोमर**—चार, साढ़े चार या पाँच हाथ लम्बा तीर के से सिरे का दण्ड।

८. **वराहकर्ण**—दण्ड जिसका सिरा सुअर के कान का सा और तीक्ष्ण हो।

९. **कणय**—धातुदण्ड जिसके दोनों सिरे त्रिकोणाकार हों। यह बीच में थामा जाता है और २०,२२ या २४ अंगुल लम्बा होता है।

१०. **कर्पण**—हाथ से फेंका जानेवाला तीर जिसका फल सात, आठ या नौ कर्ष का होता है। कुशल व्यक्ति द्वारा फेंके जाने पर यह १०० धनुष की दूरी तक फेंका जा सकता है।

११. **त्रासिका**—प्रास के समान धातु का बना अस्त्र।

धनुष का विवरण इस प्रकार है—

तालचापदारवशार्ङ्गाणि कार्मुककोदण्डद्रूणाधनूंषि।
मूर्वार्कशणगवेधुवेणुस्नायूनिज्याः।
वेणुशरशलाकादण्डासननाराचाश्च इषवः।
तेषां मुखानि छेदनभेदनताडनान्यायसास्थिदारवानि। (२।१८।९-१२)

अर्थात् धनुष ताल, चाप, दारु इन लकड़ियों के या हड्डी के बनाये जाते हैं और क्रमशः इन्हें कार्मुक, कोदण्ड, द्रूण और धनु कहते हैं।

धनुष की ज्या या डोरी मूर्वा (मुहार), अर्क (आक), शाण (सन), गवेधु, वेणु (बाँस) या स्नायु (sinew) की बनाई जाती है।

वाण (इषु) वेणु, शर, शलाका, दण्डासन और नाराच भेद के होते हैं। इनके मुख भेदन, छेदन और ताड़न के लिए लोहे, हड्डी या लकड़ी के बनाये जाते हैं।

खड्ग या तलवार के सम्बन्ध में विवरण इस प्रकार है—

निस्त्रिंशमण्डलाग्रासियष्टखड्गाः।
खड्गमहिषवारणविषाणदारुवेणुमूलानित्सरवः॥ (२।१८।१३-१४)

निस्त्रिंश (टेढ़ी मुठिया की तलवार), मण्डलाग्र (जिसके सिरे पर मण्डल हो) और असियष्टि—ये तीन प्रकार की तलवारें हैं। इनके हत्थे या मुठिया खड्ग (गैंडा) और भैंसे के सींगों के, हाथी दाँत के, लकड़ी के तथा बाँस की जड़ के बनाये जाते हैं।

क्षुरवर्ग के अस्त्र इस प्रकार हैं—

परशुकुठारपट्टसखनित्रकुद्दालक्रकचकांडच्छेदनाः क्षुरकल्पाः॥ (२।१८।१५)

परशु (फरसा), कुठार (कुल्हाड़ा), पट्टस (फरसा के समान पर दोनों ओर त्रिशूल से युक्त), खनित्र (कुस्सा या खुरदी), कुद्दाल, क्रकच (आरी), काण्डच्छेदन (गंड़ासा)—ये सब क्षुर-वर्ग के हैं।

ायुध ये हैं—

यन्त्रगोष्पणमुष्टिपाषाणरोचनीदृषदश्चायुधानि। (२।१८।१६)

यन्त्रपाषाण (मशीन से फेंके गये पत्थर), गोष्पणपाषाण (गोष्पण से फेंके गये पाषाण) और मुष्टिपाषाण (हाथ से फेंके गये पाषाण), रोचनी (चक्की) और दृषद् (सिल)—ये सब आयुध कहलाते हैं।

कवच या वर्म ये हैं—

लोहजालजालिकापट्टकवचसूत्रकंकटशिंशुमारकखड्गिधेनुकहस्तिगोचर्म-खुरशृंगसंघातं वर्माणि। (२।१८।१७)

लोहे के बने जाल या जाली का या लोहपट्ट का कवच बनता है। यह लोह-जालिक, पट्ट, कवच और सूत्रकंकट इतने प्रकार का होता है। लोहजालिक समस्त शरीर को (सिर और हाथ को भी) ढाँकता है। पट्ट भुजाओं को नहीं ढाँकता, पर शरीर के शेष भाग को ढाँकता है। कवच कई खण्डों का होता है—सिर, धड़ और भुजाओं के लिए अलग-अलग। सूत्रकंकट केवल कमर और नितम्बों की रक्षा करता है।

शिरस्त्राणकंठत्राणकूर्पासकञ्चुकवारवाणपट्टनागोदरिकाः पेटीचर्महस्ति-कर्णतालमूलधमनिकाकवाटकिटिकाप्रतिहतवलाहकान्ताश्च आवरणानि।

कवच के अतिरिक्त अन्य आवरण इस प्रकार हैं—शिरस्त्राण (सिर ढँकने का), कण्ठत्राण (गला ढँकने का), कूर्पास (धड़ ढँकने का), कञ्चुक (घुटने तक आनेवाला कोट), वारवाण (एड़ी तक आनेवाला कोट), पट्ट (बिना बाँह का कोट) और नागोदरिका (दस्ताने)।

पेटी (वेटि) (कोष्ठवल्ली की बनी चटाई), चर्म, हस्तिकर्ण (शरीर ढाँकने के लिए तखता), तालमूल (लकड़ी की ढाल), धमनिका, कवाट, किटिक (चमड़े या लकड़ी की छाल का बना), अप्रतिहत, वलाहकान्त—ये रक्षा करनेवाले आवरण हैं।

रासायनिक युद्ध और परघात प्रयोग

रासायनिक द्रव्यों की सहायता से शत्रुओं को पीड़ा पहुँचाने का नाम रासायनिक युद्ध है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के चतुर्दश अधिकरण में एक औपनिषदिक प्रकरण इसी अभिप्राय से दिया है। इस अधिकरण के दो विषय हैं—ओषधि-प्रकरण और मन्त्र-प्रकरण। मन्त्रप्रकरण का सम्बन्ध तो पूजा-पाठ और तत्सम्बन्धी उपचारों से है जिनका उल्लेख हम नहीं करेंगे।

ओषधि-प्रयोग से शत्रुओं को संतप्त करने के जो विधान हैं, उनका सारांश इस प्रकार है—

क. प्राणहर पदार्थ और धूमयोग (१४।१।५–१४)
ख. नेत्रघ्न पदार्थ (१४।१।१५,१६)
ग. मदनयोग (१४।१।१७,१८)
घ. मूकबधिरकर योग (१४।१।२६)
ङ. विषूचिकाकर योग (१४।१।२४)
च. ज्वरकर योग (१४।१।२५)
छ. दंशयोग (१४।१।३१–३३)
ज. जलाशयभ्रष्ट योग (१४।१।३४–३६)
झ. अग्नियोग (१४।१।३९–४२)
ञ. नेत्रमोहन (१४।१।४३)
ट. क्षुद्योग (१४।२।१–५)
ठ. श्वेतीकरण योग (१४।२।६–९)
ड. रोम्णश्वेतीकरण योग (१४।२।१०–१४)
ढ. कुष्ठयोग (१४।२।१५–१८)
ण. श्यामीकरण योग (१४।२।१९–२१)
त. गात्रप्रज्वालन योग (१४।२।२२–२३)
थ. विविधज्वलन प्रयोग (१४।२।२४–३०)
द. अंगारगमन प्रयोग (१४।२।३१–३३)
ध. विविध योग (१४।२।३४–४८)
न. रात्रिदृष्टि और विविध अंजन (१४।३।१–१८) (अन्तर्धान दृष्टि)
प. विषप्रतीकार योग (१४।४।१–९)

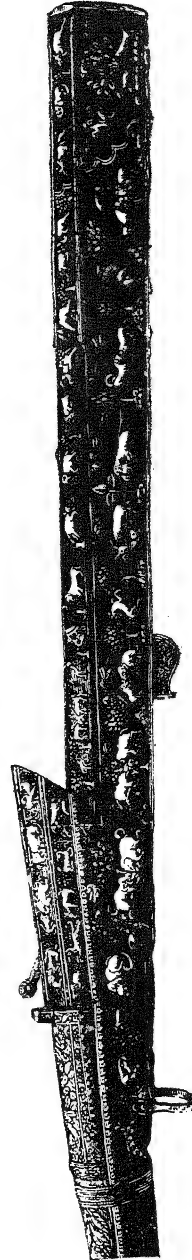
इन योगों में से कितने विश्वसनीय हैं, यह कहना कठिन है; पर ये सब योग आजकल के रासायनिक युद्ध का स्मरण दिलाते हैं। हम इन योगों का विस्तार से यहाँ वर्णन नहीं दे सकते; किन्तु उदाहरण के लिए कुछ देना जरूरी है।

सद्यः प्राणहरण और धूमयोग—चित्रभेक, कौंडिन्यक, कृकण, पञ्चकुष्ठ, शतपदी (कनखजूरा) चूर्ण, इनके चूर्ण को मिलाकर और बावची के रस में घोलकर खिला दिया जाय या इनका धुँआ दिया जाय तो वह फौरन प्राणों का नाश करता है। इसी तरह उच्चिदिंग कीड़ा, कम्बली कीड़ा, शतावर और कृकलास के चूर्ण में मिलावा और बावची रस की भावना देकर खिलाया या धुँआ दिया जाय तो तत्काल प्राणनाश होगा। गृहगोलिका (छिपकली), अन्धाहिक (दुमई साँप), कृकणक (जंगली तीतर), पूतिकीट, गोमरिका आदि के चूर्ण से भी उसी प्रकार प्राणहरयोग तैयार हो सकता है[५९]।

(५९) चित्रभेककौण्डिन्यककृकणपञ्चकुष्ठशतपदीचूर्णमुच्चिदिङ्गकंबलिशतकन्देध्मकृकलास-चूर्णं गृहगोलिकान्धाहिककृकणकपूतिकीटगोमारिकाचूर्णं भल्लातकावल्गुकारसंयुक्तं सद्यः प्राणहरमेतेषां वा धूमः। (१४।१।५)







चित्र ५—एक पुरानी बन्दूक जिसके दुस्ते पर हाथी-दाँत की सुन्दर चित्रकारी है। युद्ध-सामग्री में कला-प्रदर्शन का उत्कृष्ट उदाहरण। (पृष्ठ २१२)

धामार्गव (चिड़चिड़ा) और यातुधान की जड़ को भल्लातक-पुष्प-चूर्ण के साथ मिलाकर खिलावे तो १५ दिन में मरेगा और अमलतास की जड़, भल्लातक और कीट-चूर्ण मिलाकर खिलावे तो एक मास में मरेगा। इस योग को पुरुषों को एक कला, खराश्वों को दो कला और हाथी-ऊँटों को चार कला खिलानी चाहिए[६०]।

हवा के साथ विष का प्रसार—शतकर्दम, उच्चिदिंग (crab), करवीर (nerium odorum), कटुतुम्बी और मत्स्य इनका मदन और कोद्रव के पलाल (पुआल) के साथ अथवा हस्तिकर्ण (अरण्ड) और पलाश के पलाल के साथ बना धुआँ हवा की दिशा में उड़ाया जाय, तो जहाँ तक धुआँ जायगा, वहाँ तक के लोगों को मार देगा।[६१]

अन्धीकर धूम—पूतिकीट, मत्स्य, कटुतुम्बी, शतकर्द और इन्द्रगोप के चूर्ण अथवा पूतिकीट, क्षुद्राराल और हेमविदारी चूर्ण को बकरे के खुर और सींग के चूर्ण के साथ जलाकर अन्धीकर धूम (जो अन्धा बना दे) तैयार होता है।[६२]

अन्धीकरण और उदक दूषण अञ्जन—शारिका, कपोत, बक और बलाका (बगुली) की विष्ठा को अर्क, अक्षि, पीलुक और स्नुहि के दूध में पीस कर अंजन तैयार करें तो अन्धा करनेवाला और पानी को दूषित करनेवाला अञ्जन बनेगा।[६३]

चित्तोन्मादक मदन योग—यवक, शालिमूल, मदनफल (मैनफल), जाती (चमेली)-पत्र और नरमूत्र मिलाकर अथवा इनमें प्लक्ष और विदारीमूल का योग करके अथवा हस्तिकर्ण (धनियाँ) और पलाश के क्वाथ का योग करके मदन योग (जिससे चित्त में उन्माद पैदा हो जाय) तैयार होता है।[६४]

कुछ मदन योग यवस (पशुओं का चारा), इन्धन और जल के भी दूषक होते हैं (**समस्ता वा यवसेन्धनोदकदूषणाः**–१४।१।१९)।

रोगोत्पादक योग—(१) कृतकण्डल, गिरगिट, छिपकली और अन्धाहिक का धुआँ नेत्रशक्ति को नाश करता है और उन्माद करता है।

(२) कृकलास (गिरगिट) और गृहगोलिका (छिपकली) के योग से बना पदार्थ (अथवा धुआँ) कुष्ठ (कोढ़) उत्पन्न करता है।

(६०) धामार्गवयातुधानमूलं भल्लातकपुष्पचूर्णयुक्तमार्धमासिकः। व्याघातकमूलं भल्लातकपुष्पचूर्णयुक्तं कीटयोगो मासिकः। कलामात्रं पुरुषाणां, द्विगुणं खराश्वानां, चतुर्गुणं हस्त्युष्ट्राणाम्। (१४।१।७-९)

(६१) शतकर्दमोच्चिदिंगकरवीरकटुतुम्बी मत्स्यधूमो मदनकोद्रवपलालेन हस्तिकर्णपलाशपलालेन वा प्रवातानुवाते प्रणीतो यावच्चरति तावन्मारयति।(१४।१।१०)

(६२) पूतिकीटमत्स्यकटुतुम्बीशतकर्दमेध्मेन्द्रगोपचूर्णं पूतिकीटक्षुद्राराला हेमविदारीचूर्णं वा बस्तशृंगखुरचूर्णयुक्तमन्धीकरो धूमः। (१४।१।११)

(६३) शारिकाकपोतबकबलाकालण्डमर्काक्षिपीलुकस्नुहिक्षीरपिष्टमन्धीकरणमञ्जनमुदकदूषणं च (१४।१।१६)

(६४) यवकशालिमूलमदनफलजातीपत्रनरमूत्रयोगाः प्लक्षविदारीमूलयुक्तो मूकोदुम्बरमदनकोद्रवक्वाथयुक्तो हस्तिकर्णपलाशक्वाथयुक्तो वा मदनयोगः (१४।१।१७)

(३) कुष्ठकारक यही योग चित्रभेक की आँत और मधु मिला कर दिया जाय तो प्रमेह उत्पन्न करेगा।

(४) यदि इसमें मनुष्य का रुधिर मिला है तो इससे शोष (सूखा) की बीमारी पैदा होगी।

(५) दूषीविष, मदन (धतूरा) और कोद्रव के चूर्ण से उपजिह्विका योग (जिह्वा का रोग पैदा करनेवाला) तैयार होता है। मातृवाहक पक्षी, अञ्जलिकार, अचलाकभेक (मेंढक) की आँख और पीलुक से विषूचिका उत्पन्न करनेवाला योग बनता है।

(६) पञ्चकुष्ठक, कौण्डिन्यक, राजवृक्ष, मधुपुष्प और मधु के योग से ज्वर उत्पन्न करनेवाला योग तैयार होता है।

(७) भास और नकुल की जिह्वाग्रन्थि को गदही के दूध में पीसकर जो योग तैयार होता है, वह मूक-बधिर-कर (गूँगा बहरा बनानेवाला) है।[६५]

क्षुद्योग—शिरीष, गूलर और शमी के चूर्ण को घृत में मिलाकर खाने से आधे मास (१५ दिन) भूख नहीं लगती। यह क्षुद्योग है।[६६]

इसी प्रकार ऐसे अन्य योग भी दिये हैं, जिनके आधार पर एक मास तक भूख न लगे।

विरूपकरण और श्वेतकरण योग—सफेद बकरे के मूत्र में सात रात तक भींगी सरसों का तेल ले और इसे १५ दिन कड़वी तूँबी (कटुक अलाबू) में रक्खे तो ऐसा योग तैयार होता है जो चौपायों और दुपायों को भी विरूप कर सकता है। तक्र (मट्ठा) और जौ की रोटी सात रात खाने के बाद श्वेत गदहे की लेंड़ी (विष्ठा) और जौ को श्वेत सरसों के तेल में पकाकर लेप करने से मनुष्य का रूप परिवर्तित हो जाता है।

श्वेत बकरे या गधे के मूत्र और लेंड़ी में पकाया गया सरसों का तेल आर्क, तूल और पतंग के चूर्ण के साथ लगाने से श्वेतीकरण योग (जिससे मनुष्य का रंग सफेद हो जाय) तैयार होता है।[६७]

---

(६५) कृतकण्डलकृकलासगृहगोलिकान्धाहिकधूमो नेत्रवधमुन्मादं च करोति। कृकलासगृहगोलिकायोगः कुष्ठकरः। स एव चित्रभेकान्त्रमधुयुक्तः प्रमेहमापादयति। मनुष्यलोहितयुक्तः शोषम्। दूषीविषं मदनकोद्रवचूर्णमुपजिह्विकायोगः मातृवाहकाञ्जलिकारप्रचलाकभेकाक्षिपीलुकयोगो विषूचिकाकरः। पञ्चकुष्ठककौण्डिन्यकराजवृक्षमधुपुष्पमधुयोगो ज्वरकरः। भासनकुलजिह्वाग्रन्थिकायोगः खरीक्षीरपिष्टो मूकबधिरकरो मासार्धमासिकः। (१४।१।२०-२६)

(६६) शिरीषोदुम्बरशमीचूर्णं सर्पिषा संहृत्यार्धमासिकःक्षुद्योगः। (१४।२।१)

(६७) श्वेतबस्तमूत्रे सप्तरात्रोषितैः सिद्धार्थकैः सिद्धं तैलं कटुकालाबौ मासार्धमासस्थितं चतुष्पदद्विपदानां विरूपकरणम्। तक्रयवभक्षस्य सप्तरात्रादूर्ध्वं श्वेतगर्दभस्य लण्डयवैःसिद्धं गौरसर्षपतैलं विरूपकरणम्। एतयोरन्यहरस्य मूत्र लण्ड रस सिद्धं सिद्धार्थकतैलमर्कतूलपतङ्गचूर्णप्रतिवापं श्वेतीकरणम्। (१४।२।६-८)

रोम श्वेतीकरण योग—बेल में लटकती हुई कड़वी तुम्बी सोंठ भरकर १५ दिन रक्खी जावे और फिर उसे सफेद सरसों के साथ पीसकर लगाया जाय तो बाल सफेद पड़ जाते हैं।[६८]

शंख के रंग के बाल श्वेत कर देने के भी योग हैं (१४।२।१४)। इस प्रकार के रंग कर देने के योग हैं जिनसे प्रतीत हो कि कुष्ठ रोग हो गया है (१४।२।१५-१६) और फिर इसका प्रतीकार हो सके।

श्यामीकरण योग—वट कषाय में स्नान करके सहचर (पियाबाँस) के कल्क की मालिश करने से रंग काला पड़ जाता है।[६९] (१४।२।२०)

इसी प्रकार अन्य श्यामीकरण योग हैं।

अग्निप्रज्वालन योग और अंगारों पर चलना—पारिभद्रक (नीम) की छाल, वज्रकदली और तिलकल्क को पीस कर शरीर पर लगाले, तो फिर शरीर में आग लगा लेने पर भी कष्ट नहीं होता।

पीलू वृक्ष की छाल की स्याही से बनाया हुआ गोला हाथ पर जलाया जा सकता है।

पारिभद्रक (नीम), प्रतिबल, वञ्जुल, वज्र, कदली इन सब वृक्षों की जड़ का कल्क मेढ़क की चर्बी के साथ मिलाकर तेल बनावे और उस तेल से पैरों में मालिश कर ले, तो दग्ध अंगारों पर भी चल सकता है।[७०]

इसी प्रकार एक योग और है जिससे अंगारों पर चलना इतना सरल हो जाता है, मानों फूल की ढेरी पर चल रहे हैं (अंगारराशौ विचरेद्यथा कुसुमसंचये। १४।२।३३)

कुशा, आम्रफल और तेल से सिक्त करके उत्पन्न की गई आग आँधी और वर्षा में भी जलती रहती है (कुशाम्रफलतैलसिक्तोऽग्निर्वर्षप्रवातेषु ज्वलति—१४।२।३९)

बिना थके शतयोजन तक चल सकना—श्येन, कंक, काल, गृध्र, हंस, क्रौञ्च और वीचिरल्ल की चर्बी उनके वीर्य में मिलाकर पैरों में लेप कर लेने से मनुष्य सौ योजन तक बिना थके जा सकता है।[७१] इसी प्रकार के अन्य अनेक योग दिये हैं। (१४।२।४५-४७)।

रात में देख सकना—एकाम्लक (बड़हल), बराह की आँख, खद्योत और

---

(६८) कटुकालाबौ वल्लीगते नागरमर्धमासस्थितं गौरसर्षपपिष्टं रोम्णां श्वेतीकरणम्। (१४।२।१३)

(६९) वटकषायस्नातः सहचरकल्कदिग्धः कृष्णो भवति। शकुनकङ्गुतैलयुक्ता हरितालमनःशिलाः श्यामीकरणम्। (१४।२।२०–२१)

(७०) पारिभद्रकत्वग्वज्रकदलीतिलकल्कप्रदिग्धं शरीरमग्निना ज्वलति। पीलुत्वङ्मषीमयः पिण्डो हस्ते ज्वलति। पारिभद्रकप्रतिबलावञ्जुलवज्रकदलीमूलकल्केन मण्डूकवसादिग्धेन तैलेनाभ्यक्तपादोऽङ्गारेषु गच्छति (१४।२।२४,२५,३१)

(७१) श्येनकङ्ककाकगृध्रहंसक्रौञ्चवीचिरल्लानां मज्जानो रेतांसि वा योजनशताय। (१४।२।४६)

कालशारिका—इनको मिलाकर आँख में आँजने से मनुष्य रात में भी रूप देख सकता है।[७२] इसी काम के अन्य भी योग दिये हैं।

अन्तर्धान या नष्टच्छायारूप विचरण करना—(किसी को दिखाई न पड़ना)—शस्त्रहत या सूली पर चढ़ाये गये किसी पुरुष के कपाल में मिट्टी डालकर जौ बोकर उन्हें पुष्य नक्षत्र में तीन दिन तक भेड़ के दूध से सींचे और फिर इन जौओं की माला बनाकर जो भी पहन लेगा, वह छाया-रहित और अरूप विचर सकेगा।[७३] (१४।३।४–५)

इस प्रकार के लगभग आठ योग दिये गये हैं जो केवल तान्त्रिक प्रयोग मालूम होते हैं, जिनमें अधिक तथ्य नहीं है। कौटिल्य के समय में तान्त्रिकों का अच्छा प्रभाव था।

किसी जगते हुए व्यक्ति को सूर्योदय से सूर्यास्त तक सुला देने के भी अनेक अविश्वसनीय तान्त्रिक योग दिये गये हैं। (१४।३।४०-५१)। बन्द किवाड़ों को खोल डालने, पुरुष को नपुंसक बनाने, पात्रों को अक्षय बना देने के, वृक्षों में फल लगा देने के, इसी प्रकार के अनेक मंत्र-योग हैं। इसी कारण इन्हें **"प्रलम्भने भैषज्य-मंत्रयोगः"** नाम दिया गया है।

चौदहवें अधिकरण के चौथे अधिकार का नाम **"स्वबलोपघातप्रतीकारः"** है। इसमें विष दूर करने के योग हैं। पहला योग विष-कन्या के विष के प्रतीकार का है। श्लेष्मातक (लसौढ़ा), कपित्थ (कैत), जमालगोटा, जंभीरी नीबू, गोजी, शिरीष, पाटली, पुनर्नवा आदि से एक क्वाथ तैयार किया जाता है, जिसमें चन्दन एवं गीदड़ी का रक्त मिलाकर 'तेजनोदक' तैयार होता है। इस जल से विषकन्या के गुह्य स्थानों को प्रक्षालित करें तो उसका विष दूर हो जाता है। (१४।४।१)।

धतूरे के विष को उतारने और सिर के रोगों को दूर करने के भी योग इस प्रकरण में दिये गये हैं।

---

(७२) एकाम्लकं वराहाक्षि खद्योतः कालशारिवा। एतेनाभ्यक्तनयनो रात्रौ रूपाणि पश्यति। (१४।३।३)

(७३) त्रिरात्रोपोषितः पुष्येशस्त्रहतस्य शूलप्रोतस्य वा पुंसः शिरः कपाले मृत्तिकायां यवानावास्याविक्षीरेण सेचयेत्। ततो यवविरूढमालामाबद्धय नष्टच्छायारूपश्चरति। (१४।३।४–५)

चतुर्थ अध्याय

भारतवर्ष में रसायन की परम्परा

भारतवर्ष में रसायन की परम्परा का प्रारम्भ तीन दृष्टियों से हुआ—आयुर्वेद के सहारे, उद्योगधन्धों के सहारे और दार्शनिक सिद्धान्तों के आश्रय पर। उद्योगधन्धों के लिए रसायन का जो उपयोग हुआ, उसका लिखित विवरण कम ही मिलता है और हमारे लिए यह जानना कठिन है कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न युगों में खनिजों और अयस्कों से मनुष्य ने किस प्रकार धातुएँ प्राप्त कीं तथा उनसे मिश्रधातुएँ तैयार कीं अथवा कपड़े रँगने की कला में किस प्रकार विकास किया। इसी तरह मकान बनाने के लिए किस प्रकार पक्के मसाले बने और किस कलाकार ने अपनी तूलिका के उपयोग के लिए रंग तैयार किये? इसी प्रकार यह जानना भी कठिन है कि विभिन्न युगों में स्वर्णकार ने सोना और चाँदी के शोधन के लिए अम्लों का प्रयोग करना कब सीखा तथा उसने यह अम्ल किस प्रकार तैयार किये। दर्शनशास्त्र की पद्धति पर ऋषियों ने प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों के स्वरूप को जानने का प्रयत्न किया एवं कारण-कार्य के सम्बन्धों की विवेचना की। सांख्य और वैशेषिक दर्शनों में और इन दर्शनों के अनेक भाष्यों में इसका समावेश हुआ तथा बाद को बौद्ध एवं जैन दार्शनिकों ने भी अपने ढंग पर इनकी मीमांसा की।

नागार्जुन का आविर्भाव

भारतीय रसायन के इतिहास में सबसे बड़ा व्यक्तित्व नागार्जुन का है, जिसने चरकादि की मान्य पद्धति के समकक्ष में धातु-रसायन के प्रयोग पर विशेष बल दिया। नागार्जुन भारतीय रसायन का प्रवर्त्तक माना जा सकता है। यह कहना कठिन है कि नागार्जुन कब हुआ? आचार्य 'प्रफुल्लचन्द्र राय' ने इसे सातवीं या आठवीं शताब्दी का माना है; पर इसके लिए जो तर्क दिये हैं, वे अधिक विश्वसनीय नहीं हैं[१]। नागार्जुन माध्यमिक बौद्धों के महायान सम्प्रदाय का प्रसिद्ध विचारक और तत्त्ववेत्ता था। बौद्धों में महायान हीनयानों का विशिष्ट अन्तर तृतीय महापरिषद् के बाद से आरम्भ हुआ जो कनिष्क के समय हुई थी। नागार्जुन इस नूतन महायान सम्प्रदाय के प्रसिद्ध नेताओं में से एक था। कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय का प्रसिद्ध सूत्र 'सर्वं शून्यम्' इसी का चलाया हुआ है। हुएनशांग के शब्दों में उस समय के चार तेजोमान सूर्य थे—नागार्जुन, देव, अश्वघोष और कुमारलब्ध। कहा जाता है कि 'नागार्जुन बोधि-सत्त्व' की जीवनी का अनुवाद चीनी भाषा में ४०१–४०९

(१) The Rasaratnakara of Nagarjuna is assigned by Ray, but not on completely convincing grounds, to the seventh or eighth century.—Keith: A History of Sanskrit Literature, p. 512.

सन् में हुआ। नागार्जुन की ख्याति भारत के बाहर चीन और तिब्बत तक पहुँची हुई थी।[२]

नागार्जुन विदर्भ के एक धनी ब्राह्मणकुल में जन्मा था। ज्योतिषियों ने इसके जन्म पर घोषित किया था कि यह एक सप्ताह में ही मर जायगा। ज्योतिषियों की सहायता से इसे थोड़ी और आयु मिली। बाद को यह खिन्न बालक मगध के 'नालेन्द्र विहार' में पहुँचा और वहाँ यह बौद्ध-भिक्षु बन गया। किंवदन्ती है कि नालन्दा में एक बार घोर दुर्भिक्ष हुआ और बौद्धों का जीवन संकट में पड़ गया। धन-संग्रह के लिए बहुत-से व्यक्ति निकल पड़े और इस प्रवास में ही किसी तपस्वी से नागार्जुन ने रसायन-विद्या सीखी तथा सामान्य धातुओं से सोना बनाना जाना। इस विद्या को सीखकर जब वह नालन्दा पहुँचा, तब भिक्षु-संघ का आर्थिक संकट मिट गया। नागार्जुन बाद में नालन्दा का मुख्य-अधिष्ठाता भी नियुक्त हुआ।

नागार्जुन के समय से बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों में ब्राह्मण-धर्म के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण आरम्भ हुआ। इसके कुछ समय बाद ही गान्धार के एक भिक्षु असंग ने जो 'योगाचारभूमिशास्त्र' लिखा, उसमें उसने पातञ्जलि योग का भी समावेश किया। बौद्ध और योग दर्शनों के सम्मिश्रण के अनन्तर तान्त्रिकों का प्रभाव भी बिहार और बंगाल के बौद्धों पर विशेष पड़ने लगा। शैवतन्त्रों के समान बौद्धतन्त्र-ग्रन्थ भी बनने लगे। शिव का स्थान बोधि-सत्त्वों ने ले लिया और 'शक्ति' का स्थान बौद्धतन्त्रों में 'तारा' ने लिया। धीरे-धीरे बौद्धतन्त्रों में हिन्दू देवताओं को भी प्रतिष्ठित स्थान दिया गया, यद्यपि बौद्ध देवताओं से यह स्थान कुछ निम्नस्तर का रहा। तन्त्रों के समान महायान सम्प्रदाय में 'धारणी' बनीं और ध्यानी बुद्ध, वैरोचन, अक्षोभ्य, अमिताभ बुद्ध आदि की इस युग में कल्पना की गई। पुराने बौद्धधर्म में कर्म के अनुसार गति मानी जाती थी; पर इस नवीन युग में मंत्रों की आवृत्ति से मुक्ति का सरल उपाय निकाल लिया गया। महायान के नये रूप के अनुकूल वैपुल्यसूत्र बनने लगे जिनमें धारणियों को विशेष स्थान मिला। इसी समय सद्धर्म पुण्डरीक, ललितविस्तर, तथागत गुह्यक, प्रज्ञापारमिता आदि ग्रन्थ बने। भारतीय तन्त्र-ग्रन्थ सातवीं-आठवीं शताब्दी (A. D.) में ही चीन देश में पहुँच गये थे। 'अमोघवज्र' नामक उत्तरीय भारत का श्रमण सन् ७४६–७७१ ईसवी में चीन में रहा था और जादू-टोटके के मंत्रों का उसने वहाँ प्रचार किया। भारतीय पण्डित सातवीं से लेकर ग्यारहवीं शताब्दियों के बीच तिब्बत में भी अपने तांत्रिक विचार ले जा चुके थे। इनके अनेक तंत्र-ग्रन्थों में यत्र-तत्र कुछ रासायनिक योग भी दिये गये हैं।

रसरत्नाकर—यों तो तिब्बत में अनेक ऐसे तन्त्र-ग्रन्थ पाये गये हैं जिनमें रसायन के स्फुट योगों का उल्लेख है; पर सबसे अधिक महत्त्व का बौद्ध-तंत्र वह है जो नागार्जुन का लिखा गया माना जाता है। महायान संप्रदाय के इस तंत्र का नाम 'रसरत्नाकर' है। इसमें यत्र-तत्र इस प्रकार के वाक्य हैं—"**प्रणिपत्य सर्वबुद्धान्।**"

---

(२) "Life and Legends of Nagarjuna"—**तारनाथ। देखो तारनाथ की** "History of Buddhism" **भी।**

इस प्रकार इसमें सर्वबुद्धों के प्रति निष्ठा प्रकट की गई है। इस ग्रन्थ में एक स्थल पर निम्नलिखित वाक्य हैं—

प्रज्ञापारमिता निशीथसमये स्वप्ने प्रसादीकृतम्।
नाम्ना तीक्ष्णमुखं रसेन्द्रममलं नागार्जुनप्रोदितम्॥ (रसबन्धाधिकार ४)

अर्थात् प्रज्ञापारमिता ने मध्यरात्रि के समय स्वप्न में नागार्जुन को दर्शन दिये और उसे अमुक-अमुक योग बताये।

'रसरत्नाकर' में रासायनिक विधियों का वर्णन नागार्जुन, मांडव्य, वटयक्षिणी, शालिवाहन और रत्नघोष के संवादों के रूप में दिया गया है। रत्नघोष और माण्डव्य के नाम अन्य रसग्रन्थों में भी आते हैं। रसरत्नाकर ग्रन्थ सातवीं या आठवीं शताब्दी का लिखा प्रतीत होता है।

'रसरत्नाकर' ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है। इसके आधार पर कुछ रासायनिक विधियों का अनुमान लगाया जा सकता है। इस ग्रन्थ के द्वितीय अधिकार के अन्त में लेख इस प्रकार है—"**इति नागार्जुनविरचिते रसरत्नाकरे वज्रमारणसत्त्वपातन-अभ्रकादिद्रुतिद्रावण-वज्रलोहमारणाधिकारो नाम द्वितीयः**"।

पहले अधिकार में महारस शोधनविधि दी हुई है। हम इनमें से कुछ यहाँ देंगे—

(१) राजावर्त्तशोधन—

किमत्र चित्रं यदिराजवर्त्तकम् शिरीषपुष्पाग्ररसेन भावितम्।
सितं सुवर्णं तरुणार्कसन्निभम् करोति गुञ्जाशतमेकगुंजया॥१॥

अर्थात् इसमें आश्चर्य की क्या बात यदि शिरीष पुष्प के रस से भावित राजावर्त्त एक गुञ्जाभार की चाँदी को सौ गुञ्जा भार के सोने में परिवर्त्तित कर देता है, जिसमें बालसूर्य्य की-सी आभा होती है।

(२) गन्धकशुद्धि—

किमत्र चित्रं यदि पीतगन्धकः पलाशनिर्यासरसेन शोधितः।
आरण्यकैरुत्पलकैस्तु पाचितः करोति तारं त्रिपुटेन काञ्चनम्॥२॥

अर्थात् इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि पीला गन्धक पलाशनिर्यास रस से शोधित होने पर तीन बार गोबर के कंडों पर गरम करने पर चाँदी को सोने में परिवर्त्तित कर दे।

(३) रसक (calamine) शोधन—

किमत्र चित्रं रसको रसेन.....
क्रमेण कृत्वाम्बुधरेणरञ्जितः करोति शुल्बं त्रिपुटेन काञ्चनम्॥३॥

इसमें आश्चर्य ही क्या यदि ताँबे को रसक रस द्वारा तीन बार तपायें तो यह सोने में परिणत हो जाय।

(४) दरद (cinnabar) शुद्धि—

किमत्र चित्रं दरदः सुभावितः पयेन मेष्या बहुशोऽम्लवर्गैः ।
सितं सुवर्णं बहुधर्मभावितम् करोति साक्षाद्वरकुंकुमप्रभम् ॥४॥

अर्थात् इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि भेड़ के दूध से और अम्लों से कई बार भावित दरद द्वारा प्रतिकृत चाँदी कुंकुम के समान चमकनेवाला सोना बन जाय ।

इन चार योगों द्वारा ताँबे या चाँदी से सोना बनाने की बात दी गई है । अन्य शोधन इस प्रकार हैं—

(५) माक्षिक (pyrites) शोधन—

कुलत्थकोद्रवक्काथे नरमूत्रेण पाचयेत् ।
वेतसाद्यम्लवर्गेण दत्त्वा क्षारं पुटत्रयम् ॥५॥
किमत्र चित्रं कदलीरसेन सुपाचितं सूरणकन्दसंस्थम् ।
वातारितैलेन घृतेन ताप्यम् पुटेन दग्धं वरशुद्धमेति ॥६॥

अर्थात् खनिजों को कुलथी और कोदों के क्वाथ, नरमूत्र और वेतसादि अम्लों द्वारा गरम करे और फिर इनमें क्षार मिलाकर तीन आँच दे ।

इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि कदली रस द्वारा और सूरण कन्द द्वारा सुपाचित एवं अण्डी के तेल और घी के साथ एक आँच गरम करने पर माक्षिक पूर्णतः शुद्ध हो जावे । (अर्थात् माक्षिक से ताँबा बन जायगा) ।

(६) सर्वलोह शोधन (विमल शुद्धि)—

द्विगुणा विमला पथ्या रम्भातोयेन संयुता ।
लवणैर्वर्कदुग्धेन ताम्रपत्राणि लेपयेत् ॥९॥
अग्नौ संतप्य निर्गुण्डीरससिक्तानि सप्तधा ।
मासान् वसुरसेनैव शुल्बशुद्धिर्भविष्यति ॥ १० ॥
× × × परतः सर्वलोहशोधनम् ।
अम्लवेतसधान्याम्लमेषीतोयेन शुध्यति ॥ ११ ॥

(७) चपलशुद्धि—

चपलाद्या धातवः सर्वे जम्बीररसभाविताः ।
शोधितास्त्रिदिनं पञ्चमृत्तिकाभस्मलावणैः ॥
संयुताः संशोधयन्ति पुटपाकेनकाञ्चनम् ॥१२॥

चपल आदि खनिज जम्बीरी नीबू के रस से तीन दिन भावित होने पर शुद्ध हो जाते हैं । पाँच मिट्टियों, भस्म और लवणों के साथ मिलाने तथा आँच देने (पुट पाक द्वारा) से सोना शुद्ध हो जाता है ।

(८) चाँदी का शोधन (तारशुद्धि)—

नागेन क्षारराजेन ध्मापितं शुद्धिमृच्छति ।
तारं त्रिवारनिक्षिप्तं पिशाची तैल मध्यमम् ॥ १३ ॥

अर्थात् चाँदी सीसा के साथ गलाने और भस्मों के साथ गलाने पर शुद्ध होती है। (आजकल की cupellation विधि से इसकी तुलना की जा सकती है)।

(९) शुल्व (ताँबा) शुद्धि—

अहो नु चित्रं पृथिवीभवेन क्षारेण मेषीपयसा घृतेन ।
तैलेन शुद्धं द्रुतषोडशांशं भवेच्च शुल्वं शशिशृंगसन्निभम् ॥२४॥

अर्थात् इसमें आश्चर्य ही क्या यदि पृथिवी से उत्पन्न क्षार (अर्थात् शोरा) के साथ एवं भेंड़ के दूध, घी और १/१६ भाग तैल के साथ गलाने पर ताँबा शुद्ध होकर चाँदी ऐसा बन जाय तो ।

माक्षिक और ताप्य से ताम्र प्राप्त करना—इस विधि का उल्लेख इस प्रकार है—

क्षौद्रं गन्धर्वतैलं सघृतमभिनवं गोरसं मूत्रकञ्च ।
भूयो वातारितैलं कदलिरसयुतं भावितं कान्तितप्तम् ॥
मूषां कृत्वाग्निवर्णामरुणकरनिभां प्रक्षिपेन्माक्षिकेन्द्रम् ।
सत्वं नागेन्द्रतुल्यं पतति च सहसा सूर्य्यवैश्वानराभम् ॥२५॥

अर्थात् माक्षिक को शहद, गन्धर्वतैल, घृत, गोरस, गोमूत्र, अंडी के तैल, कदलि-रस आदि के साथ मूषा में गरम करने से शुद्ध ताँबा प्राप्त होता है ।

महावृक्षार्कक्षीराभ्यां स्त्रीस्तन्येन सुभावितम् ।
मूषायामग्निवर्णायां द्रवेत्ताप्यं न संशयः ॥२६॥
कंकुष्ठटङ्कणाभ्याञ्च ताप्यं स्त्रीस्तन्यमर्द्दितम् ।
पश्चात्सत्त्वं निपतति सत्यं मूषा तु अग्निवत् ॥२७॥
काञ्जिकं बहुशस्स्विन्नं ताप्यचूर्णं कटुत्रिकम् ।
कृत्वाम्बुमधुभ्यां पक्वं वज्रपायसभावितम् ॥२८॥
गृहधूमं घृतं क्षौद्रं संयुतं पुनरेव च ।
धामितं मूकमूषायां शशिशुल्वनिभं भवेत् ॥२९॥
कदलीरसशतभावितं घृतमध्वेरण्डतैलपरिपक्वम् ।
ताप्यं मुञ्चति सत्वं रसकञ्चैव त्रिसंघाते ॥३०॥

इन पाँच श्लोकों में ताप्य से शुद्ध ताम्र बनाने की विधि भी वैसी ही दी है, जैसी माक्षिक से। ताप्य भी ताम्र का एक दूसरे प्रकार का माक्षिक है। रसार्णव ग्रन्थ (अध्याय ७,१२-१३) में भी ताम्र प्राप्त करने की यही विधि बताई गई है। ताप्य को महावृक्षार्क, दूध, टंकण, कंकुष्ठ, मधु, घृत, एरण्ड तैल आदि के साथ मूकमूषा में गरम करने से शुद्ध ताँबा बनता है। इन विधियों को 'माक्षिक सत्त्व पातन-विधि' कहते हैं।

रसक से यशद (जस्ता) धातु तैयार करना—रसक (calamine) से जस्ता बनाने की विधि नागार्जुन ने इस प्रकार दी है—

क्षारस्नेहैश्च धान्याम्लै रसकं भावितं बहु ।
ऊर्णा लाक्षा तथा पथ्या भूलता धूमसंयुतम् ॥३१॥

मूकमूषागतं ध्मातं टङ्कणेन समन्वितम् ।
सत्त्वं कुटिलसङ्काशं पतते नात्र संशयः ॥३२॥

रसक को क्षार, स्नेह (तैल), धान्याम्ल (vegetable acids), ऊन, लाख आदि के साथ और सुहागा (टङ्कण) मिला कर मूकमूषा में गरम करें तो रसक का सत्त्व प्राप्त होता है अर्थात् यशद धातु बनती है। 'रसरत्नसमुच्चय' (२।१६३-१६४) में भी इसी प्रकार का विवरण है।

दरद सत्त्व प्राप्त करना अर्थात् दरद (Cinnabar) से पारा निकालना—

विमल सत्त्व प्राप्त करना—

विमलं शिग्रुतोयेन काक्षीकासीसटङ्कणैः ।
वज्रकन्दसमायुक्तं भावितं कदलीरसैः ॥३५॥
माक्षीकक्षारसंयुक्तं धामितं मूकमूषके ।
सत्त्वं चन्द्रार्कसङ्काशं पतते नात्र संशयः ॥३६॥

अर्थात् विमल को शिग्रु के दूध, फिटकरी, कसीस और सुहागा के साथ वज्रकन्द मिलाकर कदली रस के साथ भावित करें, और माक्षिक-क्षार मिलाकर मूक मूषा में तपावें, तो विमल का सत्त्व शीघ्र मिलता है।

दरदं पातनायन्त्रे पातितञ्च जलाशये ।
सत्त्वं सूतकसंकाशं जायते नात्रसंशयः ॥३७॥

पातनायंत्र (distillation apparatus) में पातन (distil) करने पर जलाशय में दरद का सत्त्व अर्थात् पारा प्राप्त होता है। 'रसरत्नसमुच्चय' (११८९-९०) में भी इसी प्रकार का वर्णन दिया हुआ है।

अभ्रकादि की सत्त्वपातनविधि—अभ्रक (mica) की सत्त्वपातनविधि इस प्रकार है—

गन्धकञ्च प्रभावेण सत्त्वभूयं स्वभावतः ।
ततः ख्यातं महासत्त्वं रसेन्द्रस्य समं ततः ॥३८॥

अर्थात् अभ्रकादि खनिज पदार्थों के सत्त्व गन्धक के प्रभाव से (अर्थात् गन्धक के साथ तपाकर) प्राप्त हो सकते हैं।

रत्नों (मोती आदि) को घोलने या गलाने की द्रुतपातन विधि—

एकएव महाद्रावी पार्वतीनाथ सम्भवः ।
किं पुनस्त्रिभिः संयुक्तो वेतसाम्लाम्लकाञ्जिकैः ॥५०॥
मुक्ताफलानि सप्ताहं वेतसाम्लेन भावयेत् ।
पुटपाके ततश्चूर्णं द्रवते सलिलं यथा ॥
कुरुते योगराजोयं रत्नानां द्रावणे परम ॥५१॥

रत्नों को वेतसाम्ल, अम्ल और काञ्जी (सिरकादि की खटाई) में शीघ्र घोला जा सकता है। मुष्काफल को सप्ताह तक वेतसाम्ल के साथ भावित करे, फिर पुटपाक-विधि[१] का अवलम्बन करे, तो रत्न द्रव अवस्था (विलयन के रूप) में प्राप्त हो जाते हैं।

धातुओं का मारण या हनन—

तालेन वङ्गं दरदेन तीक्ष्णं नागेन हेमं शिलया च नागम्।
गन्धाश्मना चैव निहन्तिशुल्वं तारञ्च माक्षीकरसेन हन्यात् ॥५२॥

अर्थात् वङ्ग (tin) को ताल (yellow orpiment) के साथ, तीक्ष्ण (iron or steel) को दरद (cinnabar) के साथ, हेम (स्वर्ण) को नाग (tin or lead) के साथ, और नाग (lead) को शिला (red arsenic) के साथ, शुल्व या ताम्र को गन्धाश्म (sulphur) के साथ और तार या चाँदी (silver) को माक्षीक-रस (pyrites) के साथ मारना चाहिए।

अन्यत्र एक श्लोक में ताँबे या शुल्व को गन्धक और बकरी के दूध द्वारा तथा चाँदी को स्नुही के दूध और माक्षिक के द्वारा मारने का विधान दिया है—

शुल्वं अजाक्षीरसुगन्धकेन तारं स्नुहीक्षीरसुमाक्षिकेण।
यद्यस्य धातोर्विहितं च युक्तं निरुत्थघातं कथितं च तीक्ष्णैः ॥५४॥
मृतानि लोहानि रसीभवन्ति रसेन युक्त्यामयनाशनानि।
अभ्यासयुक्त्या पलितादिनाशं कुर्वन्ति तेषांच जराविनाशम् ॥५५॥

इस प्रकार मृत की गई धातुओं के रसों के कुशल प्रयोग से पलितादि रोगों एवं वृद्धावस्था आदि का नाश संभव है।

रसबन्ध (fixation of mercury)—पारे का नाम रस है, पारे को ही रसराज, रसनृप आदि कहा है। इसके बध की विधि अर्थात् एमलगम (संरस) बनाने की विधि इस प्रकार नागार्जुन ने दी है (यह विधि तीसरे अधिकार में दी गई है)—

जम्बीरजेन नवसारघनाम्लवर्गैः क्षाराणि पंचलवणानि कटुत्रयंच।
शिग्रूदकं सुरभिसूरणकन्द एभिः संमर्दितो रसनृपश्चरतेष्टलोहान् ॥ (३।१)

अर्थात् रसनृप (पारे) को नीबू के रस, नवसार (नौसादर–salammoniac), अम्ल, क्षार, पंच-लवण, त्रिकटुक (सोंठ, गोलमिर्च और पीपल), शिग्रु के रस और सुरभिसूरण (amorphophallus campanulatus) कन्द के साथ सम्मर्दित करें तो यह आठो धातुओं के साथ बन्ध प्राप्त करता है।

पारे और स्वर्ण के योग से दिव्य देह प्राप्त करने की ओषधि बनाना— मकरध्वज के समान का एक योग दिव्य देह प्राप्त करने के उद्देश्य से इस प्रकार बनाया जा सकता है—

---

(१) **पुटपाक**—A particular method of preparing drugs, in which the various ingredients are wrapped up in leaves and being covered with clay are roasted in fire —**आप्टे**।

रसं हेमसमं मर्द्यं पीठिकागिरिगन्धकम् ।
द्विपदी रजनी रम्भां मर्दयेत् टंकणान्विताम् ॥
नष्टपिष्टंच मुष्कंच अन्धमूष्यां निधापयेत् ।
तुषाल्लघुपुटं दत्वा यावद्भस्मत्वमागतः ॥
भक्षणात्साधकेन्द्रस्तु दिव्यदेहमवाप्नुयात् । (३।३०-३२)

पारे में बराबर भाग सोना मिलाकर रगड़े, फिर इसमें गन्धक, टंकण (borax) आदि मिलाकर रगड़े । इस प्रकार नष्ट, पिष्ट (पिसा), मुष्क (massy) भाग को अन्ध मूषा (closed crucible) में हलकी आँच पर तबतक गरम करे जबतक भस्म न हो जाय । इसके सेवन से साधक दिव्य देह प्राप्त करता है ।

गर्भयन्त्र—पीठिका की भस्म तैयार कर देनेवाले गर्भयन्त्र का वर्णन नागार्जुन ने इस प्रकार दिया है—

गर्भयन्त्रं प्रवक्ष्यामि पीठिकाभस्मकारकम् ।
चतुरंगुलदीर्घेण विस्तारेण च त्र्यंगुलम् ॥६२॥
मूषां तु मृण्मयीं कृत्वा सुदृढ़ां वर्तुलां बुधः ।
विंशभागन्तु लोहस्य भागमेकं तु गुग्गुलोः ॥६३॥
सुश्लक्ष्णं पेषयित्वा तु तोयं दत्वा पुनः पुनः ।
मूषालेपं दृढं बद्धा लोणाद्धं मृत्तिका बुधः ॥६४॥
कर्षं तुषाग्निना भूमौ मृदुस्वेदेन स्वेदयेत् ॥६५॥ (३।६२-६५)

चार अंगुल लंबी और तीन अंगुल चौड़ी, वर्तुल आकार की, मिट्टी की बनी सुदृढ मूषा हो और इसमें लोह (धातुमात्र) २० भाग और एक भाग गुग्गुलु महीन (श्लक्ष्ण) पीस कर और बराबर पानी देकर मूषा पर लेप करके इसे दृढ़ बना लो । इसे भूमि में भूसी की आग से गरम करके मृदु स्वेदन से स्वदेन किया जा सकता है ।

रसार्णव में भी इसी प्रकार के गर्भयन्त्र का वर्णन दिया गया है ।

कज्जली बनाने की विधि—

सूतकस्य पलं गृह्यं तुर्य्यांशं साक्तुकं विषम् ।
तत्समं गन्धकं शुल्बं चूर्णं कृत्वा विनिक्षिपेत् ॥८४॥
कृत्वा कज्जलिकामादौ पलं दत्वा च गन्धकम् ।
घृतपक्वञ्च तच्चूर्णं पचेदायसभाजने ॥८५॥
यावद्द्रवत्वमायाति तत्क्षणात् तं विनिक्षिपेत् ।
पुटे वा कदलीपत्रे सिद्धं पर्पटिकारसम् ॥८६॥

एक पल सूतक (पारा) लेकर चौथाई भाग साक्तुक विष मिलाए, और उसमें बराबर भाग गन्धक और ताँबा (शुल्ब) चूर्ण करके डाल दे । इस प्रकार जो कज्जलिका बने उसमें एक पल गन्धक देकर और पकाया घी देकर लोहे के भाजन (cup or plate) पर पकावे । जैसे ही यह द्रव बन जाय, इसे उसी क्षण पुट (पत्ते के दोने) या केले के पत्ते पर डाल दे । इस प्रकार पर्पटिका रस बनता है ।

रसायन यन्त्र—वट वृक्ष पर रहनेवाली यक्षिणी और शालिवाहन के बीच का संवाद नागार्जुन ने दिया है। उसमें यक्षिणी ने कहा है कि माण्डव्य ने जैसी-जैसी प्रक्रियाएँ बताई हैं, वे सब मैं तुम्हें बताऊँगी जिनसे पारे के योग से ताँबा, सीसा आदि सोना हो जाता है—

पुनरन्यं प्रवक्ष्यामि माण्डव्येन यथाकृतम्।
रसोपरसयोगेन सिद्धं सूतं सुसाधितम्॥
विशुद्धशुल्बायनं नागं यथार्थकांचनं कृतम्॥
× × × ×
शास्त्रं वशिष्ठमाण्डव्यं गुरुपार्श्वे यथाश्रुतम्।
तदहं सम्प्रवक्ष्यामि साधनञ्च यथाविधि॥

इस प्रकार आश्वासन देकर प्राज्ञ, निरावलम्ब, दृढ़व्रत, कुलीन, पापहीन, जितेन्द्रिय, मुमुक्षु के प्रति उस यक्षिणी ने यह कहा—

कोष्ठिका वक्रनालञ्च गोमयं सारमिन्धनम्।
धमनं लोहपत्राणि औषधं काञ्जिकं विडम्॥
कन्दराणि विचित्राणि...
सर्वमेलयनं कृत्वा ततः कर्म समारभेत्॥

अर्थात् रासायनिक प्रतिक्रियाओं के आरम्भ करने के लिए इतने उपकरण जुटाने चाहिए—कोष्ठिका यंत्र, वक्रनाल (मुँहवाली फुँकनी), गोबर, उपयुक्त लकड़ी का ईंधन, धमन (धौंकनी), लोहपत्र (iron plates), औषध, काञ्जी, विड और विचित्र (विभिन्न प्रकार की) कन्दराएँ (hooks)।

रसार्णव में भी इसी प्रकार का वर्णन आता है।

रसेन्द्रमङ्गल से यन्त्रों के सम्बन्ध का उद्धरण—नागार्जुन ने अपने 'रसरत्नाकर' में एक स्थल पर **"अथातो रसेन्द्रमङ्गलानि यन्त्रविधिः"** इस शीर्षक से यंत्रों की निम्नलिखित सूची दी है—

शिलायन्त्रं पाषाणयन्त्रं भूधरयन्त्रं वंशयन्त्रं नालिकायन्त्रं गजदन्तयन्त्रं दोलायन्त्रं अधःपातनयन्त्रं भुवःपातनयन्त्रं पातनयन्त्रं नियामक यन्त्रं गमन (?) यन्त्रं तुलायन्त्रं कच्छपयन्त्रं चाकीयन्त्रं बालुकायन्त्रं अग्निसोमयन्त्रं गन्धकत्राहिकयन्त्रं मूषायन्त्रं हण्डिकायन्त्रं कम(?)भाजनयन्त्रं घोणायन्त्रं गुडाभ्रकयन्त्रं नारायणयन्त्रं जालिकायन्त्रम् चारणयन्त्रं॥

रसरत्नसमुच्चय के नवें अध्याय में भी लगभग इसी प्रकार के यन्त्रों का विवरण है।

नागार्जुन के पश्चात् का तंत्रसाहित्य

जिस प्रकार व्यास के नाम पर पुराणादि विस्तृत साहित्य की रचना हुई, उसी प्रकार नागार्जुन के नाम का भी उपयोग नागार्जुन के अनन्तर महायान साहित्य में

व्यापक रूप से किया जाने लगा।[४] यह हम कह चुके हैं कि गान्धार के एक भिक्षु असङ्ग ने पतञ्जलि योग का आश्रय लेते हुए योगाचारभूमिशास्त्र लिखा। इसके बाद जो तंत्रग्रन्थ लिखे गए वे ब्राह्मण और बौद्धों के सम्मिश्रण थे अर्थात् महायान बौद्ध और ब्राह्मण-धर्म के साहित्य परस्पर निकट आने लगे थे। असङ्ग का छोटा भाई वसुबन्धु और उसका शिष्य दिग्नाग नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रख्यात थे (३७१ ई०)।

तन्त्रों की परम्परा में अनेक ऐसे ग्रन्थ लिखे गए जिनमें यत्र-तत्र रसायन का भी समावेश था। ईसा की छठी शताब्दी का लिखा कुब्जिकामत का एक तंत्र गुप्त-अक्षरों में लिखा हुआ पाया गया है। यह संभवतः नेपाल में रचा गया था। इस तंत्र में शिव-पार्वती-संवाद है। शिव ने एक स्थल पर पारद को अपना वीर्य माना है—

मद्वीर्य्यः पारदो यद्धं पतितः स्फुटितं मणिः।
× × × ×
मद्वीर्य्येण प्रसूतास्ते तावाय्यां सूनकेवहि।
तिष्ठन्ति संस्कृताः सन्तः अस्मा षड् विप्रजारणाम्॥

यह पारा छः बार जारण होने के पश्चात् (६ बार मारे जाने के बाद) विशेष उत्कृष्ट गुणोंवाला हो जाता है (बराबर भाग गंधक के साथ फूँका जाना जारण कहलाता है)।

मध्यभारत और मगध के नालन्दा, उदण्डपुर और विक्रमशील विश्वविद्यालयों में तांत्रिक रसायन का विशेष विकास हुआ और यहीं से यह विद्या तिब्बत, भूटान और दक्षिण भारत में पहुँची। बार्थ (Barth) ने यह लिखा है कि अरबवासियों के सम्पर्क से तन्त्र-रसायन को प्रोत्साहन मिला।[५]

---

(४) The figure of Nagarjuna, so prominent in the history of the rise of Mahayanism, shows a double character. It is, on the one side, the name of an influential person, the first eminent leader of a school imbued with Hinduism and the methods of Indian scholastic philosophy. On the other hand, Nagarjuna is simply a comprehensive name of the activity of Mahayanism in the first phase of its onward course.—Kern.

(५) In regard to alchemy, any how in which the Sittars are zealous adepts, they were disciples of the Arabians, although other Sivaites had preceded them in the pursuit of the philosopher's stone. Already, in his exposition of the different doctrines of the Saivas, Sayana thought he ought to dedicate a special chapter to the Raseshwara Darshana or "system of mercury", a strange amalgamation of Vedantism and alchemy. The object contemplated in this system is the transmutation of the body into an incorruptible substance by means of rasapana **(रसपान)**, i. e. the absorption into it of elixirs compounded

गुप्तकाल में ब्राह्मणधर्म का पुनः प्रवर्त्तन हुआ और बौद्धतंत्रग्रन्थ भी ब्राह्मण-तंत्रों के साथ हिलमिल गए। तारा, प्रज्ञापारमिता और बुद्ध ये शब्द शनैः-शनैः फिर पार्वती और शिव बन गए। यह परम्परा आगे बढ़ी। बारहवीं शताब्दी के ग्रन्थों में दो ग्रन्थ महत्व के हैं, रसार्णव और रसहृदय। माधव ने अपने तंत्रग्रन्थों की सूची में इन दोनों का उल्लेख किया है।

रसार्णव ग्रन्थ में रसायन—

रासायनिक क्रिया आरम्भ करने से पूर्व जिन उपकरणों की सूची रसार्णव में दी हुई है, वह नागार्जुनवाली सूची से मिलती-जुलती है—

रसोपरसलोहानि वसनं काञ्जिकं विडम्।
धमनी लोहयन्त्राणि खल्वपाषाणमर्द्दकम्॥
कोष्ठिका वक्रनालं च गोमयं सारमिन्धनम्।
मृण्मयानि च यन्त्राणि मुसलोलूखलानि च॥
संडसीयादर्शं दंशं मृत्पात्रायः करोटकम्।
प्रतिमानानि च तुला छेदनानि कषोत्पलम्॥
वंशनाली लोहनाली मूषामार्गास्तथौषधी।
स्नेहाम्ललवणक्षारविषाण्युपविषाणि च॥
एवं संगृह्य संभारं कर्मयोगं समाचरेत्॥

अर्थात् रस, उपरस, लोह (धातुएँ), वस्त्र, काञ्जी, विड, धमनी, लोहयन्त्र, पत्थर के मर्दक, कोष्ठिक यंत्र, वक्रनाल, गोबर, सार-इन्धन, मिट्टी के यन्त्र, मुसल, उलूखल, संडसी, चिमटा, मिट्टी और लोहे के पात्र, तौलने के बाट (प्रतिमान) और तुला, वंशनाली, लोपनाली, मूषा, अपामार्ग आदि ओषधियाँ, घी-तैल, अम्ल, लवण, क्षार, विष-उपविष, इन सबको इकट्ठा करके क्रिया आरम्भ करे।

रसार्णव ग्रन्थ में जिन विषयों का विशेष उल्लेख है, वे ये हैं—दोलायन्त्र का वर्णन, जारणयन्त्र अर्थात् धातुओं को मारने का यन्त्र, गर्भयन्त्र जिससे पिष्टिक (अर्थात् पारे और गन्धक के मिश्रण) की भस्म बन जाय, हंसपाकयन्त्र, विभिन्न प्रकार की मूषाएँ, ज्वालाओं में धातुओं से रंगों का आना (अग्निवर्णन), तीन प्रकार के क्षारों का वर्णन, आठ महारस, ताम्र माक्षिक से ताँबा निकालना, रसक और ताँबे के योग से सोना बनाना (वस्तुतः पीतल का बनना), रसक से जस्ता निकालना, सौराष्ट्री अर्थात् फिटकरी का पातन, धातुओं का उल्लेख उनकी क्षय-क्षमता के क्रम से, धातुओं का मारण, पारे का शोधन, स्वर्ण का जारण, पारे और गन्धक से सिन्दूर बनाना आदि। इन विषयों में से हम कुछ यहाँ लेंगे।

---

principally of mercury and mica, that is to say, of the very essential qualities of Siva and Gauri, with whom the subject of operation is thus at length identified.—Barth: "Religions of India", 1891, p. 210-211.

(१) तीन प्रकार के क्षार—

त्रिक्षाराष्टंकणक्षारो यवक्षारश्च सर्जिका।
तिलापामार्गकदलीपलाशशिग्रुमोचकाः ॥
मूलाद्रकचिञ्चाश्वत्था वृक्षक्षारः प्रकीर्त्तिताः ॥५।३५-३६॥

अर्थात् तीन क्षार ये हैं—टंकण क्षार (सुहागा-borax), यवक्षार (potassium carbonate) और सर्जिका (सज्जी या सोडा)। तिल, अपामार्ग, कदली, पलाश, शिग्रु, मोचक, मूलाद्रक, चिञ्च (इमली), अश्वत्थ, इन वृक्षों की लकड़ी की राख में प्रसिद्ध वृक्ष-क्षार रहते हैं।

(२) आठ महारस—

माक्षिकं विमलं शैलश्चपलो रसकस्तथा।
सस्यको दरदश्चैव स्रोतोऽञ्जनमथाष्टकम्।
अष्टौ महारसा... ॥७।२-३॥

अर्थात् आठ महारस ये हैं—माक्षिक (copper pyrites), विमल, शिला (bitumen, शिलाजतु), चपल, रसक (calamine), सस्यक (तूतिया, blue vitriol), दरद (cinnabar) और स्रोतोऽञ्जन। विमल और चपल क्या हैं, यह कहना कठिन है। इनका विवरण 'रसरत्नसमुच्चय' आदि ग्रन्थों में भी दिया है। कश्मीर के निकट पर्वतीय प्रदेश दरदिस्तान में 'दरद' पाया जाता है, जिससे पारा निकालते हैं। पारद और दरद ये दोनों नाम उन देशों या स्थलों के नाम पर पड़े हैं, जहाँ से ये पदार्थ प्राप्त होते हैं।[६]

(३) माक्षिक से ताम्र प्राप्त करना—

क्षौद्रगन्धर्वतैलाभ्यां गोमूत्रेण घृतेन च।
कदलीकन्दसारेण भावितं माक्षिकं मुहुः।
मूषायां मुञ्चति ध्मातं सत्त्वं शुल्वनिभं मृदु ॥७।१२-१३॥

शहद (क्षौद्र), गन्धर्वतैल, गोमूत्र, घृत, कदलीकन्दसार इनसे बार-बार माक्षिक को भावित करे और फिर मूषा में उसे गरम करे तो शुद्ध ताँबा प्राप्त होता है।

(६) Daradistan, the mountainous region about Kashmir, is famous for the ores of cinnabar from which mercury is extracted. Darada is in fact a name of cinnabar. The auriferous region of the Darada is mentioned by Humboldt (Cosmos II, p. 513, E. C Otte) who places it either in the Thibetan highlands, east of the Bolor Chain, west of Iskardo, or towards the desert of Gobi described also as auriferous by Hiouen Thsang. Regarding Parada and Darada, see also Lassen's Alterthumskunde, I. pp. 848-49. It seems probable that "parada" (quicksilver) and "darada" (cinnabar) owe their names to the countries from which their supply was obtained.—P. C. Ray: Hindu Chemistry, I. p. 43 (1902).

(४) विमल से चन्द्रार्क के समान सत्त्व प्राप्त करना—

विमलं शिग्रुतोयेन कांक्षीकासीसटंकणैः ।
वज्रकन्दसमायुक्तं भावितं कदलीरसैः ॥
मोक्षिका क्षारसंयुक्तं धापितं मूकमूषया ।
सत्त्वं चन्द्रार्कसंकाशं प्रयच्छति न संशयः ॥७।२०-२१॥

विमल को शिग्रु-रस, फिटकरी (कांक्षी), कसीस (green vitriol), टंकण (borax), वज्रकन्द, कदलीरस और मोक्षिका पौधे की राख के साथ भावित और बन्द मूषा में गरम करें, तो चन्द्रार्क (स्वर्ण ऐसा चमकता ताँबा) प्राप्त होता है। सम्भवतः विमल भी माक्षिक के समान ही ताँबे का कोई अयस्क हो।

(५) चपल—

गौरः श्वेतोऽरुणः कृष्णश्चपलस्तु प्रशस्यते ।
हेमाभश्चैव ताराभो विशेषाद् रसबन्धकः ॥
शेषौ मध्यौ च लाक्षावत् शीघ्रद्रावौ तु निष्फलौ ।
वंगवत् द्रवते वह्नौ चपलस्तेन कीर्त्तितः ॥७।२६-२७॥

चपल चार प्रकार का होता है—गौर (पीला), श्वेत, अरुण और कृष्ण। रसबन्ध (पारे के साथ संरस या एमलगम) बनाने के लिए सोने के रंग सा या चाँदी के रंग-सा चपल अधिक अच्छा होता है। शेष दो अर्थात् अरुण और कृष्ण रंग के चपल शीघ्र पिघलनेवाले और निष्कल (निष्फल ?) अर्थात् कम महत्त्व के हैं। आग पर गरम किए जाने पर वंग के समान यह पिघलता है, इसलिए इसका नाम चपल है।

लगभग ये ही शब्द 'रसरत्नसमुच्चय' (२।१४३-१४४) में भी चपल के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

(६) रसक (calamine) **और ताम्र के योग से पीतल तैयार करना—**

मृत्तिका गुड़ पाषाण भेदतो रसकस्त्रिधा ॥ ७।३१ ॥
किमत्र चित्रं रसको रसेन × × × × भावितः ।
क्रमेण भूत्वा तुरगेण रंजितः करोति शुल्बं त्रिपुटेन कांचनम् ॥७।३५॥

मिट्टी, गुड़ और पत्थर के रंगों-सा रसक तीन प्रकार का होता है। इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि रसक को कुछ कार्बनिक पदार्थों और ताँबे के साथ तपाया जाय तो सोने ऐसी वस्तु प्राप्त हो (यह पदार्थ सोना नहीं, प्रत्युत पीतल है)।

(७) रसक से जस्ता (यशद) बनाना—

ऊर्णा लाक्षा तथा पथ्या भूलता-धूमसंयुतः ।
मूकमूषा-गतो ध्मातष्टंकणेन समन्वितः ॥
सत्त्वं कुटिलसंकाशं मुञ्चत्यत्र न संशयः ॥ (७।३७-३८)

मूक मूषा में रसक को ऊन, लाख, सुहागा आदि पदार्थों के साथ गरम किया जाय तो इसका सत्व प्राप्त होता है। (यह सत्व यशद धातु, zinc) है।

(८) धातुओं से अग्निवर्णन (आग की ज्वाला को रंग प्राप्त होना)—

आवर्तमाने कनके पीता तारे सिता शुभा ।
शुल्बे नीलनिभा तीक्ष्णे कृष्णवर्णा सुरेश्वरि ॥
वंगे ज्वाला कपोता च नागे मलिनधूमता ।
शैले तु धूसरा देवि आयसे कपिलप्रभा ॥
अयस्कान्ते धूमवर्णा सस्यके लोहिता भवेत् ।
वज्रे नानाविधा ज्वाला सस्यके पाण्डुरप्रभा ॥ (४।४९-५६)

आग में सोने के कारण पीला, चाँदी की उपस्थिति से श्वेत, ताँबे से नील, लोहे से कृष्ण, वंग से कपोत वर्ण, नाग (सीसा) से मलिन धूम वर्ण, शैल से धूसर, अयस् से कपिल वर्ण, अयस्कान्त से धूम वर्ण, सस्यक (तूतिया) से लोह वर्ण और वज्र (हीरे) से विविध वर्णों की ज्वालाएँ प्रकट होती हैं।

(९) किन धातुओं में जंग जल्दी लगता है—

सुवर्णं रजतं ताम्रं तीक्ष्णं वंगभुजंगमाः ।
लोहकं षड्विधं तच्च यथापूर्वं तदक्षयम् ॥ (७।८९-९०)

धातुओं के अक्षय या स्थिर रहने का क्रम इस प्रकार है—स्वर्ण, चाँदी, ताम्र, लोह, वंग और भुजंग (सीसा) —इसमें सुवर्ण सबसे अधिक अक्षय है।

(१०) विड या अम्लराज (aqua regia)—धातुओं के मारने के सम्बन्ध में कुछ उल्लेखनीय बातें रसार्णव में कही गई हैं—

नास्ति तल्लोहमातङ्गो यत्र गन्धककेशरी ।
निहन्याद् गन्धमात्रेण यद्वा माक्षिककेशरी ॥ (७।१३८-१३९)

ऐसा कोई लोह अर्थात् धातुरूप हाथी नहीं है जो गन्धकरूप सिंह से न मारा जा सके, या जो माक्षिकरूप सिंह के गन्धमात्र से न मारा जा सके।

कासीसं सैन्धवं माक्षी सौवीरं व्योषगन्धकम् ।
सौवर्चलं व्योषका च मालती रससंभवः ॥
शिग्रुमूलरसैः सिक्तो विडोऽयं सर्वजारणः ॥९।२-३॥

अर्थात् कसीस (green vitriol), सैन्धव (rocksalt), माक्षिक (pyrites), सौवीर (stibnite), व्योष (तीन मसाले—सोंठ, कालीमिर्च और मिरचा), गन्धक, सौवर्चल (शोरा), मालतीरस—इन सबको शिग्रुमूलरस से सिक्त करके जो 'विड' बनता है, वह सब धातुओं का जारण कर सकता है।

इस योग में कासीस को गरम करके सलफ्यूरिक ऐसिड बनता होगा, जो शोरा पर प्रतिक्रिया करके नाइट्रिक ऐसिड और सैन्धव पर प्रतिक्रिया करके हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड देता होगा। इन दोनों का मिश्रण ही अम्लराज कहलाता है जिसमें स्वर्ण और प्लैटिनम धातुएँ भी घुल सकती हैं।

गन्धतालक-सिन्धूत्थ-चूलिकाटंकणं तथा।
क्षारैर्मूत्रैश्च विपचेदयं ज्वालामुखो विडः ॥ (९।९)

गन्धक, तालक (orpiment), सिन्धूत्थ (rocksalt), चूलिका (नौसादर) और टंकण (borax)—इन्हें क्षार (राख) और मूत्रों के साथ गरम करें तो ज्वाला-मुख-विड प्राप्त होगा।

सौवर्चलं च कासीसं सामुद्रं सैन्धवं तथा।
आसुरी टंकणं चैव नवसारस्तथैव च ॥
कर्पूरं माक्षिकं चैव समभागानि कारयेत्।
स्नूह्यर्क दुग्धैर्देवेशि मूषालेपं तु कारयेत् ॥
विडचूर्णं ततो दत्त्वा कनकं जारयेत् प्रिये ॥ (११।८३–८६)

सौवर्चल (nitre), कासीस (green vitriol), सामुद्र (sea salt), सैन्धव (rocksalt), आसुरी (sinapis ramosa-Roxb) [या आसुर=काला नमक], टंकण (borax), नवसार (salammoniac), कर्पूर (camphor) और माक्षिक (pyrites)—इन सबके सम भाग ले। फिर मूषा (crucible) में स्नुहि और अर्क के दूध से लेप करे। इसमें फिर पूर्वोक्त विड को रखकर गरम करे तो हे प्रिये! सोने का भी जारण हो जाता है।

रसहृदय—'भिक्षु गोविन्द' अथवा 'भगवद् गोविन्दपाद' ने ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग इस ग्रन्थ की रचना की थी। यह किरातदेश के राजा मदनरथ के आग्रह पर लिखी गई थी अर्थात् भूटान के निकट। गोविन्दपाद मंगलविष्णु का नाती और सुमनोविष्णु का पुत्र था[७]। इस ग्रन्थ की कुछ उल्लेखनीय बातों को हम यहाँ देंगे। रसहृदय की एक टीका 'श्रीमत् कुरलवंश पयोधि सुधाकर मिश्र महेशात्मज श्री चतुर्भुज विरचित' भी प्राप्त है। रसहृदय में एकविंश (२१) पटल हैं।

(१) पारे को सीसा (नाग) और वंग से पृथक करना—

अमुना विरेचनेन हि सुविशुद्धो नागवङ्गपरिमुक्तः।
सूतः पातनयन्त्रे समुत्थितः काञ्जिके क्राथात् ॥ (पटल २)

अर्थात् सूत (पारा) काञ्जिक क्राथ (sour gruel) से प्रतिकृत करके यदि पातन यंत्र में उड़ाया जाय, तो यह नाग और वंग दोनों से मुक्त हो सकता है।

(७) तस्मात् किरातनृपतेः बहुमानमवाप्य रससुकर्मरतः।
रसहृदयाख्यं तन्त्रं विरचितवान् भिक्षु गोविन्दः ॥
नप्त्रा मंगलविष्णोः सुमनोविष्णोः सुतेन तन्त्रोऽयम्।
श्री गोविन्देन कृतः तथागतः श्रेयसे भूयात् ॥
एवं
शीतांशुवंशसम्भवहैहयकुलजन्मजनितकुलमहिमा।
जयति मदनरथः किरातनाथो रसाचार्यः ॥ (रसहृदय, एकादश पटल)

पारे को शुद्ध करने के यन्त्र इस प्रकार हैं—

अष्टांगुलविस्तारं दैर्घ्येण दशांगुलं त्वधोभाण्डम् ।
कण्ठादधः समुच्छ्रितचतुरंगुलकज्जलाधारम् ॥
अन्तःप्रविष्टतलभाण्डवदनजलमग्ननिजमुखप्रान्ता ।
उपरिष्टाच्चिपिटपटी देयोदरषोडशांगुलविशाला ॥
तस्मिन्नधोर्द्ध्वभाण्डे निपातितः सकलदोषनिर्म्मुक्तः ।
सुतरां भवति रसेन्द्रो जीर्णग्रासोऽपि पात्योऽसौ ॥
कृत्वाथ नष्टपिष्टिं त्रिफलाशिखिशिग्रुराजिकापटुभिः ॥
संलेप्य चोर्द्ध्वभाण्डं दीप्तैरुपलैरधः पात्यः ।
अथवा दीपकयन्त्रे निपातितः सकलदोषनिर्म्मुक्तः ॥
कच्छपयन्त्रान्तर्गत-मृण्मयपीठस्थ-दीपिकासंस्थः ।
यस्मिन्निपतति सूतः प्रोक्तं तद्दीपिकायंत्रम् ॥ (द्वितीय पटल)

रसरत्नसमुच्चय में भी पातन यंत्र का लगभग इसी प्रकार का वर्णन है (९।६-८)। इस यन्त्र में एक भाण्ड पर दूसरा भाण्ड औंधा करके रक्खा जाता है, जिससे एक का गला दूसरे के गले के भीतर आ जाय। दोनों के मुखों के जोड़ पर चूना, फाणित (राब) और मण्डूर (लोहे का ज़ंग) भैंस के दूध में सानकर लगा देते हैं। 'रसहृदय' ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में उपर्युक्त श्लोकों में कच्छपयन्त्र, दीपकयन्त्र और दीपिकायन्त्र का भी उल्लेख है और पातनायन्त्र के भाण्डों की लम्बाई चौड़ाई और अन्य विस्तार भी दिए हैं।

(२) विड बनाना—

सौवर्च्चलकटुकत्रयकांक्षी काशीसगन्धकैश्च विडैः ।
शिग्रो रसशतभाव्यैस्ताम्रदलान्यपि हि जारयति ॥
सर्वांगदग्धमूलकप्रतिगलितं सुरभिमूत्रेण ।
शतभाव्यं बलिवसया तत्क्षणतो जार्य्यते हेम ॥ (सप्तम पटल)

यह वर्णन रसार्णव के समान ही है। विड बनाने में शोरा, कटुकत्रय (सोंठ, मिर्च और पीपल), फिटकरी, कसीस और गन्धक लेना पड़ता है और शिग्रुरस की भावना देनी होती है। गाय का मूत्र और बकरे की वसा के साथ यही योग करें तो यह सोने का भी शीघ्र जारण कर सकता है।

(३) पारे के सम्बन्ध में—इस ग्रन्थ के आठवें पटल में पारे को विविध रंग देने के कई योग हैं। जैसे—

जीर्णाभ्रको रसेन्द्रो दर्शयति घनानुकम्पिनीं छायाम् ।
कृष्णां रक्तां पीतां सितां तथा सङ्करं मिश्राम् ॥
कृष्णाभ्रकेण बलवत् सितरागैर्भुज्यते रसेन्द्रस्तु ।
श्वेतै रक्तैः पीतैः वह्नेः खलु वर्णतो ज्ञेयः ॥

क्रामति तीक्ष्णेन रसः तीक्ष्णेन जीर्य्यते क्षणाह्रासः ।
हेम्नो योनिस्तीक्ष्णं रागान् गृह्णाति तीक्ष्णेन ॥
कुटिले बलमभ्यधिकं रागस्तीक्ष्णे तु पन्नगे स्नेहः ।
रागस्नेहबलानि तु कमले शंसन्ति धातुविदः ॥

इन श्लोकों में अभ्रक द्वारा और तीक्ष्ण द्वारा पारे के जारण या ह्रास का वर्णन है। तीक्ष्ण और कान्त साधारणतः लोहे के प्रकार हैं; पर लोहा तो पारे के साथ संरस (एमलगम) नहीं बनाता। शायद तीक्ष्ण कोई नमकयुक्त मिट्टी (saline earth) हो। कुटिल (वंग या टिन) से पारे को बल प्राप्त होता है, तीक्ष्ण से रंग, पन्नग (नाग या सीसा) से स्नेह और कमल (ताँबे) से पारे को रंग, स्नेह और बल तीनों प्राप्त होते हैं।

(४) **रस और उपरस**—इस तन्त्र के अनुसार आठ महारस ये हैं—

वैक्रान्तकान्तसस्यकमाक्षिकविमलाद्रिदरदरसकाश्च ।
अष्टौ रसास्तथैषां सत्त्वानि रसायनानि स्युः ॥ (नवम पटल)

वैक्रान्त, कान्त, सस्यक (तूतिया), माक्षिक (pyrites), विमल, अद्रि, दरद और रसक ये आठ महारस हैं।

गन्धकगैरिक-सुशिलाक्षिति-खेचरमञ्जनञ्च कंकुष्ठम् ।
उपरस-संज्ञमिदं स्यात् शिखिशशिनौ सारलोहाख्यौ ॥
(नवम पटल)

गन्धक, गैरिक (गेरू), शिला, क्षिति, खेचर (अभ्रक), अंजन और कंकुष्ठ ये उपरस हैं।

'रसरत्नसमुच्चय' में आठ उपरस ये गिनाए हैं, जिनका उपयोग पारदकर्म में होता है—

गन्धाश्मगैरिककासीसकांक्षीतालशिलाञ्जनम् ।
कंकुष्ठं चेत्युपरसाश्चाष्टौ पारदकर्मणि ॥३।१॥

अर्थात् गन्धक, गैरिक (red ochre), कासीस (green vitriol), कांक्षी (alum), ताल (orpiment), शिला या मनःशिला (मैनसिल, realgar), अञ्जन और कंकुष्ठ।

कंकुष्ठ क्या है, यह बात संदिग्ध है। 'रसरत्नसमुच्चय' में इस प्रकार वर्णन दिया है—

हिमवत् पादशिखरे कंकुष्ठमुपजायते ॥३।१०९॥
केचिद्वदन्ति कंकुष्ठं सद्योजातस्य दन्तिनः ॥३।१११॥
वदन्ति श्वेतपीताभं तदतीव विरेचनम् ॥३।११२॥

अर्थात् यह हिमालय की तलैटी में मिलता है और कोई-कोई यह कहते हैं कि यह नवजात हाथी के बच्चे की विष्ठा में होता है। यह श्वेत और पीले रंग का होता है और तीव्र रेचक है।

(५) **सार लोह और पूति लोह**—रसहृदय के ऊपरवाले श्लोक में 'शिखिशशिनी सारलोहाख्यौ' यह वाक्य है, अर्थात् शिखि और शशिनी सारलोह (noble

metal या शुद्ध लोह) हैं। शिखि और शशिनी शब्द संभवतः सोना और चाँदी के लिए आए हैं (चाँद से चाँदी, इसी प्रकार शशि से शशिनी)।

ताम्रारतीक्ष्णकान्ताभ्रवज्रलोहानि नागवंगौ च।
कथितौ च पूतिसंज्ञौ तेषां संशोधनं कार्य्यम्॥ (नवम पटल)

अर्थात् ताम्र, तीक्ष्ण और कान्त ये वज्रलोह हैं, एवं नाग और वंग ये 'पूतिलोह' हैं।

'रसरत्नसमुच्चय' में यही बात और भी स्पष्ट करके दी गई है।

शुद्धलोहं कनकरजतं भानुलोहाश्मसारम्।
पूती लोहं द्वितयमुदितं नागवङ्गाभिधानम्॥
मिश्रं लोहं त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्त्तम्।
धातुर्लोहे लुह इति मतः सोऽप्यनेकार्थवाची॥५।१॥

अर्थात् शुद्ध लोह तीन हैं—कनक, रजत और लोहा; पूती लोह दो हैं—नाग (सीसा) और वंग; मिश्र लोह तीन हैं—पित्तल (brass), कांस्य (bronze or bell metal) और वर्त्तलोह। धातु-लोह साधारण लोहा है।

(६) **लवण और क्षार**—छः लवण और तीन क्षार इस प्रकार 'रसहृदय' में गिनाए हैं—

सौवर्च्चलसैन्धवकं चूलिकसामुद्ररोमकविडानि।
षड्लवणान्येतानि तु सर्जीयवटङ्कणाः क्षाराः॥ (नवम पटल)

सौवर्च्चल (शोरा), सैन्धवक (rock salt), चूलिक (salammoniac), सामुद्र (sea salt), रोमक और विड ये छः लवण हैं। सर्जिकक्षार, यवक्षार और टंकण (borax) ये तीन क्षार हैं।

सोमदेवकृत रसेन्द्रचूडामणि—यह ग्रन्थ भी बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी का है। 'सोमदेव करवाल' भैरवपुर का अधिपति था।[८] इस ग्रन्थ में यह लिखा है कि ऊर्ध्वपातन यन्त्र और कोष्ठिका यन्त्र नन्दि नामक व्यक्ति ने आविष्कार किए—

ऊर्ध्वपातनयंत्रं हि नन्दिना परिकीर्त्तितम्।
× × ×
कोष्ठिकायन्त्रमेतद्धि नन्दिना परिकीर्त्तितम्॥

'रसेन्द्रचूड़ामणि' में से कुछ उल्लेखनीय बातें यहाँ हम देंगे।

(१) **चपल क्या है?**—

त्रिंशत् पलमितं नागं भानुदुग्धेन मर्दितम्।
विमर्द्य पुटयेत्तावत् यावत् कर्षावशेषितम्॥

---

(८) पुस्तक के प्रथम भाग के अन्त में—"इति श्री करवालभैरवपुरवरपति श्री सोमदेवविरचिते रसेन्द्रचूड़ामणौ रससूत्रस्थाने रसमहिमनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः समाप्तः" इस प्रकार का लेख है।

न तत् पुटसहस्रेण क्षयमायाति सर्वथा।
चपलोऽयं समुद्दिष्टो वार्त्तिकैर्नागसम्भवः॥
इत्थं हि चपलः कार्यो वंगस्यापि न संशयः।
तत् स्पृष्टहस्तसंस्पृष्टः केवलो बध्यते रसः॥

अर्थात् ३० पल सीसा (नाग) लें और भानुदुग्ध (calotropis gig) से रगड़ें, और फिर इतना गर्म करें कि कम होते-होते एक कर्ष रह जाय। अब इसे चाहें हजार बार आँच दें तब भी इसमें कमी न आवेगी। यह जो अवशेष रह गया, उसे 'चपल' कहते हैं।

यदि वंग (टिन) की भी इसी प्रकार प्रतिक्रिया करें, तो उससे भी चपल मिलेगा जो पारे के स्पर्श मात्र से संरस (एमलगम) बनाता है।

सीसा से जो चपल बना वह 'चाँदी' मालूम होती है। सीसा में थोड़ी-सी चाँदी (argentiferous galena) रहती है, सीसा तो लिथार्ज (litharge) के रूप में खर्पर के भीतर प्रविष्ट होकर अलग हो जाता है, और चाँदी का बटन-सा रह जाता है। यह चाँदी ही चपल है।

(२) **नष्टपिष्ट क्या** है?—

स्वरूपस्य विनाशेन पिष्टतापादनं हि यत्।
विप्लुद्भिर्वर्जितः सूतो नष्टपिष्टः स उच्यते॥

जब पारे का स्वरूप (physical properties) नष्ट हो जाय, और इसमें बहने का गुण न रह जाय तब यह नष्ट-पिष्ट कहा जाता है।

(३) अनेक यन्त्रों का भी इस ग्रन्थ में वर्णन है जो अन्य ग्रन्थों से लिया गया है—

अथ यन्त्राणि वक्ष्यन्ते रसतन्त्राण्यनेकशः।

यशोधरकृत रसप्रकाशसुधाकर—यह तन्त्रग्रन्थ तेरहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। इसका रचयिता यशोधर पद्मनाभ का पुत्र था जैसा कि निम्नलिखित उक्ति से स्पष्ट है—"इति श्री पद्मनाभसूनु श्री यशोधरविरचिते रसप्रकाशसुधाकरे दशमोऽध्यायः"। इस ग्रन्थ में नागार्जुन, देवीशास्त्र (सम्भवतः रसार्णव), नन्दि, सोमदेव, स्वच्छन्द भैरव और मन्थन भैरव के नाम आते हैं। इसने बहुत-से प्रयोग अपने हाथ से किए थे—

स्वहस्तेन कृतं सम्यक् जारणं न श्रुतं मया।
स्वहस्तेन भवयोगेन कृतं सम्यक् श्रुतेन हि॥
धातुबन्धस्तृतीयोऽसौ स्वहस्तेन कृतो मया।

'रसप्रकाशसुधाकर' ग्रन्थ के कुछ उल्लेखनीय विषय ये हैं—

(१) **कर्पूररस** (Calomel) बनाना—

विमलसूतवरोहिपलाष्टकं तदनुधातुघटीपटकांक्षिकाः।
पृथगिमाश्च चतुःपलभागिकाः स्फटिकशुद्धपलाष्टसमन्विताः।

सह जलेनविमर्द्य च यामकं लवणकाम्लजलेन विमिश्रितम् ।
उदितधातुगणस्य च मूषिकां कुरु रसं विनिवेशय तत्र वै ।
डमरुकाभिधयन्त्रवरेण तं द्विदशयाममजाचय वह्निना ।
पवनपित्तकफक्षयकारकं सकलरोगहरं परमं सदा ।

अर्थात् शुद्ध सूत (पारा), फिटकिरी, स्फटिक, लवणकाम्ल जल—इन सबको मिलाकर डमरुयंत्र में आग पर गरम करें तो वात, कफ, पित्त तीनों का नाश करने-वाला, सर्वरोगहर कर्पूररस तैयार होता है ।

(२) **रसक** (Calamine) **से यशद** (zinc) बनाना—

रसको द्राविकः सम्यक् निक्षिप्तो रसपूरके ।
निर्मलत्वमवाप्नोति सप्तवारं निमज्जितः ॥
कांजिके वाथ तक्रे वा नृमूत्रे मेषमूत्रके ।
द्रावितं क्षालितं सम्यक् खर्परं परिशुध्यति ॥
खर्परं रेचितं शुद्धं स्थापितं नरमूत्रके ।
रञ्जयेन्मासमेकं हि ताम्रं स्वर्णप्रभं वरम् ॥
वचा हरिद्रा त्रिफला गृहधूमैः ससैन्धवैः ।
भल्लातकैष्टङ्कणैश्च क्षारैराम्लैश्च मर्दितम् ॥
पादांशसंयुतैर्मूषां वृन्ताकफलसन्निभाम् ।
निरुध्य शोषयित्वा च मूषामुखोपरि न्यसेत् ॥
प्रध्माते खर्परे ज्वाला सिता नीलाभवेद्यदि ।
लोहसंदंशके मूषां धृत्वा कृत्वा ह्यधोमुखीम् ॥
भूम्यामाढालयेत् सत्वं यथानालं न भज्यते ।
तदा सीसोपमं सत्वं पतत्येव न संशयः ॥

रसक दो प्रकार का बताया गया है—कारवेल्लक (nonlaminated) और दर्दु (laminated) । इसे सात बार गरम करके नीबू के रस, तक्र, नर-मूत्र, मेष-मूत्र आदि में बुझाकर खर्पर पर तपाकर शुद्ध किया जा सकता है ।

शुद्ध रसक को हल्दी, त्रिफला, गृहधूम (resin), नमक, भल्लातक, सुहागा, क्षार, अम्ल आदि के साथ छोड़े और फिर मूषा को इस लेप से भीतर से पोत दे, फिर धूप में सुखा ले और इसके ऊपर फिर दूसरा मूषा ढक दे । अब गरम करे । जब पिछले रसक में से निकलनेवाली ज्वाला का रंग नीले से श्वेत हो जाय, तब संदंश (tongs) से पकड़कर इसका मुख उलट दे और पृथ्वी पर इस प्रकार गिरा दे कि इसकी नाल (tubulure) न टूटने पावे । ऐसा करने पर सीसा की-सी चमक का सत्त्व प्राप्त होगा ।

'रसरत्नसमुच्चय' ग्रन्थ में रसक का वर्णन और उससे सत्त्व निकालने की जो विधि दी हुई है (२।१४९,१६१) वह, ऐसा प्रतीत होता है, मानो 'यशोधर' के 'रस-प्रकाशसुधाकर' से ही ली गई है । इस ग्रन्थ के वर्णन में 'सीसमेव सत्त्वं पतत्येव' के

स्थान पर 'वङ्गाभं पतितं सत्त्वं' ऐसा लिखा है अर्थात् जो जस्ता प्राप्त होता है, उसका रंग वंग का-सा है।

(३) **सौराष्ट्री या तुवरी** (फिटकिरी)—'रसप्रकाशसुधाकर' में जो वर्णन दिया है, वह 'रसरत्नसमुच्चय' (३।५९६४) के ग्रन्थ से मिलता-जुलता है। सौराष्ट्र में पाए जाने के कारण इसका नाम सौराष्ट्री है।

> **सौराष्ट्रदेशे सञ्जाता खनिजा तुवरी मता।**
> **या लेपिता श्वेतवस्त्रे तु रङ्गबन्धकरी हि सा॥**
> **फुल्लिका खटिका तद्वत् द्विप्रकारा प्रशस्यते।**
> **किञ्चित्पीता सुस्निग्धा च गरदोषविनाशिनी॥**
> **श्वेतवर्णपरा साम्ला फुल्लिका लोहमारणी।**
> **कषाया मधुरा कांक्षी कटुका विषनाशिनी।**
> **व्रणघ्नी कफहा चैव नेत्रव्यापत्रिदोषहा।**
> **कण्ठरोगहरा सा तु पारदे बीजजारणी।**
> **धान्याम्ले तुवरी क्षिप्ता शुध्यति त्रिदिनेन वै॥**
> **क्षारैराम्लैश्च मृदिता ध्माता सत्वं विमुञ्चति।**
> **तत् सत्वं धातुवादार्थे चौषधे नोपपद्यते॥**

'रसरत्नसमुच्चय' के विवरण में 'या लेपिता श्वेतवस्त्रे रंगबंधकरी हि सा' के स्थान में 'वस्त्रेषु लिप्यते (अथवा वस्त्रमारंजयेत्) यासौ मञ्जिष्ठारागबन्धिनी' (८।५९) इस प्रकार के शब्द दिए हैं। दोनों का भाव यह है कि श्वेत वस्त्र में फिटकरी लिप्त हो जाय, तो वस्त्र में मंजीठ आदि का रंग ठीक प्रकार ठहरता है। 'रंगबन्धकरी' या 'रागबन्धिनी' (mordants) के रूप में फिटकिरी का यह अति प्राचीन उपयोग है जिसका मूल्य रंग-रेजी में बड़े महत्त्व का है।

फिटकिरी से जो सत्त्व प्राप्त होता है, वह सलफ्यूरिक ऐसिड (oil of vitriol) है जिसका उपयोग धातुकर्म में तो है; पर 'ओषधे नोपपद्यते' अर्थात् इसका प्रयोग ओषधि में नहीं हो सकता।

ऊपर दिए गए वर्णन से फिटकिरी की फुल्लिका और उसका उपयोग भी स्पष्ट हो जायगा। नेत्ररोग में यह विशेष लाभकर है।

(४) **महापुट, गजपुट, वराहपुट, कुक्कुटपुट, कपोतपुट, गोरवपुट, भाण्डपुट, बालुकापुट, भूधरापुट और लावकापुट**—इन अनेक प्रकार के गर्त्तों का, जिनमें आग जलाकर रसायन तैयार की जा सके, इस ग्रन्थ में विस्तृत विवरण है। इनकी लम्बाई-चौड़ाई भी दी है और कण्डे कितने जलाए जायँ, यह भी दिया है। उदाहरण के लिए हम गजपुट यहाँ देंगे—

> **एकहस्तप्रमाणं हि चतुरस्रं च गर्त्तकम्।**
> **वनोपलसहस्रेण गर्त्तमध्यं च पूरितम्॥**

मूषिकां चौषधेनाथ पूरितां तां तु मुद्रयेत् ।
गर्त्तमध्ये निधायाथ गरिण्डानि च निक्षिपेत् ॥
ऊर्ध्वाग्निं ज्वालयेत् सम्यक् सोयं गजपुटो भवेत् ।

एक हाथ चौकोर माप का गड्ढा हो, जिसके बीच में १००० उपले पूर दिए जायँ । इसके बीच में बन्द करके मूषा रख दी जाय और ऊर्ध्वाग्नि से ज्वाला जला दी जाय ।

(५) हेमक्रिया (स्वर्ण बनाना)—'यशोधर' इस क्रिया के लिखने के पूर्व ये शब्द लिखता है—

अथातः संप्रवक्ष्यामि धातूनां कौतुकं परम् ।
स्वानुभूतं मया किंचित् श्रुतं यच्छास्त्रतः खलु ॥

अर्थात् अब मैं धातुओं के परम कौतुक का उल्लेख करूँगा जो किंचित् (थोड़ा बहुत) तो मैंने स्वयं अनुभव किया है और जो शास्त्रों में से सुनकर लिया गया है । यह 'हेमक्रिया' इस प्रकार है—

रसकं दरदं ताप्यं गगनं कुनटीसमम् ।
रक्तस्नुहीपयोभिश्च मर्द्दयेद्दिनसप्तकम् ॥
जलयन्त्रेण वै पाच्यं चतुर्विंशति यामकम् ।
तेन वेध्यं द्रुतं ताम्रं तारं वा नागमेव वा ।
सह(शत) वेधी तु तत्कल्को जायते नात्र संशयः॥
एकभागस्तथा सूतो वज्रवल्ल्याथ मर्दितः ।
खल्ले त्रिर्निष्पाच्य रसे पंचभागसमन्विते ।
वेत्रयष्ट्या च रागिण्या पीतकल्कं प्रजायते ॥
षोडशांशेन दातव्यं द्रुते ताम्रे सुशोभने ।
जायते प्रवरं हेम शुद्धं वर्णचतुर्दशम् ॥

रसक (calamine), दरद (cinnabar), ताप्य (ताम्रमाक्षिक) और गगन-कुनटीसम (संभवतः realgar), इन सबको लाल स्नुही के दूध से सात दिन तक मले, और फिर २४ याम (३ दिन) तक जलयंत्र में पकाए । अब इसमें गला हुआ ताँबा, चाँदी या सीसा मिलावे । इस प्रकार जो योग तैयार होता है, वह अपनेसे सौगुनी (या सहस्रगुनी) धातु को सोने में परिणत करने का सामर्थ्य रखता है ।

शुद्ध हेम बनाने की अन्य विधियाँ भी दी हैं, और अन्त में यह भी लिखा है कि "दृष्टः प्रत्यययोगोऽयं कथितो नात्र संशयः" अर्थात् योग अनुभव द्वारा देख लिया गया है, इसलिए इसमें संशय नहीं होना चाहिए ।

इन योगों की सिद्धि के लिए दोलायंत्र का प्रयोग हुआ है—

दोलायन्त्रेऽह्नि चत्वारि पश्चाच्छुद्धतमो भवेत् ।

एक स्थल पर काच-कूप में बालुकाग्नि भी देने का उल्लेख है—

पश्चाद्दृढे काचमये कूपे द्वात्रिंशयामकम् ।
वालुकाग्निं प्रदद्याच्च स्वांगशीतं समुद्धरेत् ॥

रसकल्प—यह ग्रन्थ रुद्रयामल तन्त्र के अन्तर्गत प्रतीत होता है जैसा कि इस प्रकार के वाक्यों से स्पष्ट है—"इति श्री रुद्रयामले रससंकेतकं नाम प्रथमोल्लासः ।" शिव और चण्डिका की वन्दना से यह ग्रन्थ आरम्भ होता है । इस ग्रन्थ में 'रसहृदय' के रचयिता गोविन्द एवं स्वच्छन्दभैरव और उनके अनुयायियों का उल्लेख है।[९]

ग्रन्थकार ने कुछ प्रयोग अपने साक्षात् अनुभव से दिए हैं, जैसा कि निम्नलिखित वाक्य से स्पष्ट है । ये प्रयोग न तो सुनकर लिखे गए हैं और न गुरु के सिखाने से—

इति सम्पादितो मार्गो द्रुतीनां पातने स्फुटः ।
साक्षादनुभवैर्दृष्टो न श्रुतो गुरुदर्शितः ॥

'रसार्णव' और पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों से इस ग्रन्थ में सहायता ली गई है ।

इस ग्रन्थ में पारे के शोधनादि का स्पष्ट उल्लेख विस्तार से है । शुद्ध पारा दन्त, श्रृंग, मणि या बाँस में सुरक्षित रक्खे; ऐसा लिखा है—"दन्ते श्रृंगे मणौ वेणौ रक्षयेत् साधितं रसम्, (१।४२) ।

इस ग्रन्थ के अनुसार आठ महारस ये हैं—पारद, हिंगुल, वैष्णव, शस्थक, शैल, चपल, रसक और अमल । साधारण आठ रस हैं—अभ्रक, तुत्थक, कान्त, राजावर्त्त, अञ्जन, वज्र, वैक्रान्तक और टंकण । उपरस हैं—गन्धक, तालक, शिला, क्षिति, खेचर, गैरिक इत्यादि ।

गन्धक चार प्रकार के बताये गये हैं—सफेद, काला, लाल और पीला ।

सितासितारुणंपीतं गन्धकं तच्चतुर्विधम् ।

ताल दो प्रकार का है, गोदन्त और पाटलच्छवि । शिला दो प्रकार की है, लाल और पीली, जिसमें लाल श्रेष्ठ है । सौराष्ट्री कई प्रकार की है और कासीस तीन प्रकार के—कासीस, पुष्पकासीस और हीरकासीस । गैरिक (red ochre) दो प्रकार के हैं—सौवर्ण और लोहित (सुनहरा और लाल) ।[१०]

इस ग्रन्थ में विड बनाने का भी उल्लेख है ।

---

(९) इत्येष प्रोदितो मार्गो रसशोधनकर्मणि । स्वच्छन्दभैरवाद्युक्तो गोविन्दादिसमादृतः ॥

(१०) सितासितारुणंपीतं गन्धकं तच्चतुर्विधम् ॥
तालकं द्विप्रकारं स्यात् गोदन्तः पाटलच्छवि ॥
रक्तापीताशिलाद्वेधा पूर्वा श्रेष्ठोत्तराधमा ॥
बहुप्रकारा सौराष्ट्री कासीसं त्रिविधं मतम् ॥
कासीसं पुष्पकासीसं हीरकासीसमित्यथ ॥
गैरिको द्विविधः प्रोक्तः सौवर्णो लोहितस्तथा ॥

लवणं चूलिकोद्भूतं गन्धकेन समन्वितम्।
सर्वांगदञ्च चित्रार्द्रं मूलभस्मप्रगालितम्॥
गोमूत्रेण शतं भाव्यं तद्रसे जारयेत् शनौ।
तस्य संपर्कतः सूतो राक्षसो भवति ध्रुवम्॥
एतदेव विडं दद्यात् सर्वदा हेमजारणे।
सुखं संजायते तेन जीर्य्यते च विनिश्चितम्॥

चूलिका लवण (नौसादर), गंधक, चित्रा या अदरख के मूल की भस्म आदि को गोमूत्र द्वारा १०० बार भावित करे तो ऐसा विड तैयार होता है, जिसके सम्पर्क में आते ही सूत (पारा) राक्षस हो जाता है, और यही विड सोने के मारने में भी काम आता है।

इस ग्रन्थ में भी माक्षिक से ताँबा बनाना एवं रसक से जस्ता बनाना दिया हुआ है। उपकरणों में से वज्रमूषा, कोष्ठिकायंत्र, वक्रनाल (मुँह से फूकनेवाली फुँकनी) और नालमूषा का उल्लेख है।

विष्णुदेवविरचित रसराजलक्ष्मी—विष्णुदेव पंडित महादेव का पुत्र था—"इति श्रीपंडित महादेवतनय श्रीविष्णुदेवविरचितायां रसराजलक्ष्म्यामुल्लासः प्रथमः"। इस ग्रन्थ की रचना केवल तन्त्रग्रंथों को देखकर नहीं हुई। इसमें चरक, सुश्रुत, वृन्द, हारीत, आत्रेय, वाग्भट, सिद्धसार और दामोदर का भी उल्लेख है। तन्त्रादि का उल्लेख इस प्रकार है—

दृष्ट्वेमं रससागरं शिवकृतं श्रीकाकचण्डेश्वरी-
तंत्रं सूतमहोदधिं रससुधाम्भोधिं भवानीमतम्।
व्याडिं सुश्रुतसूत्रमीशहृदयं स्वच्छन्दशक्त्यागमम्॥
श्रीदामोदर-वासुदेव-भगवद्गोविन्द-नागार्जुनान् । (प्रथम उल्लास)

× × ×

स्वच्छन्दशक्त्यागमसारभूतः समुद्धृतो विष्णुभिषग्वरेण।
(द्वितीय उल्लास)

आलोक्य सुश्रुतं वृन्दहारीतचरकादिकान्।
आत्रेयं वाग्भटं सिद्धसारं दामोदरं गुरुम्॥ (तृतीय उल्लास)

इस प्रकार इस ग्रन्थ में काकचण्डीश्वर, नागार्जुन, व्याडि, स्वच्छन्द (भैरव), दामोदर, वासुदेव और भगवद्गोविन्द—इतने तन्त्राचार्यों के नाम आए हैं। रससागर, सूतमहोदधि, रससुधाम्भोधि और भवानीमत ये भी तन्त्रग्रन्थ प्रतीत होते हैं।

'रसराजलक्ष्मी' के अन्त में ये पद हैं—

राजन् (सश) शार्वरिवत्सराद्यदिवसे वारे हिमांशोरिदं
चंचद्भूतलपत्तने विजयिनि श्री बुक्क पृथ्वीपतेः।

शास्त्रं वैद्यकसाररूपमकरोत् श्रीविष्णुदेवः कविः
वाग्देवीचरणारविंदमकरंदामोदसौरस्यवाक् ॥

इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ चौदहवीं शताब्दी के अन्त में बुक्क राजा के राज्य में बना था।

रसरत्नसमुच्चय—यह तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने 'हिन्दू केमिस्ट्री' ग्रन्थ का पहला भाग अधिकांश इसी के आधार पर लिखा। यह ग्रन्थ 'वाग्भटाचार्य्य' का लिखा समझा जा सकता है। यह अध्यायों के अन्त के उल्लेख से स्पष्ट है—

"इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्य्यस्य कृतौरसरत्नसमुच्चये रसोत्पत्तिर्नाम प्रथमोऽध्यायः।"

आचार्य्य प्रफुल्ल का कहना है कि इस ग्रन्थ का असली रचयिता कोई और है, जिसने ग्रन्थ की ख्याति के लिए इसके साथ 'सिंहगुप्तात्मज वाग्भट' का नाम जोड़ दिया। प्रसिद्ध 'वाग्भट' इस ग्रन्थ से कहीं पूर्व के हैं।

'रसरत्नसमुच्चय' के प्रथम अध्याय में अनेक तंत्रग्रन्थों और रसाचार्य्यों की सूची इस प्रकार है—

आगमश्चन्द्रसेनश्च लंकेशश्च विशारदः।
कपाली मत्तमाण्डव्यौ भास्करः शूरसेनकः॥
रत्नकोषश्च शंभुश्च सात्विको नरवाहनः।
इन्द्रदो गोमुखश्चैव काम्बलिर्व्याडिरेव च॥
नागार्जुनः सुरानन्दो नागबोधिर्यशोधनः।
खंडः कापालिको ब्रह्मा गोविंदोलम्पकोहरिः॥
सप्तविंशति संख्याका रससिद्धिप्रदायकाः।
रसांकुशो भैरवश्च नन्दी स्वच्छन्दभैरवः॥
मन्थानभैरवश्चैव काकचण्डीश्वरस्तथा।
वासुदेव ऋष्यश्रृंगः क्रियातंत्रसमुच्चयी॥
रसेन्द्रतिलको योगी भालुकिर्मैथिलाह्वयः।
महादेवो नरेन्द्रश्च वासुदेवो हरीश्वरः॥ (१।२-७)

अर्थात् रससिद्धिविशेषज्ञ २७ व्यक्ति ये हैं—आगम (अथवा आदिम), चन्द्रसेन, लंकेश, विशारद, कपाली, मत्त, माण्डव्य, भास्कर, शूरसेन, रत्नकोष, शंभु, सात्विक, नरवाहन, इन्द्रद, गोमुख, काम्बलि, व्याडि, नागार्जुन, सुरानन्द, नागबोधि, यशोधन, खण्ड, कापालिक, ब्रह्मा, गोविन्द, लम्पक और हरि।

इन २७ के अतिरिक्त भी अन्य व्यक्ति हैं—रसांकुश, भैरव, नन्दी, स्वच्छन्द-भैरव, मन्थानभैरव, काकचण्डीश्वर, वासुदेव और ऋष्यश्रृंग (जिन्होंने क्रियातंत्रों का समुच्चय किया), योगी, रसेन्द्रतिलक, मैथिल, भालुकि, महादेव, नरेन्द्र, वासुदेव

और हरीश्वर अन्य हैं। इस प्रकार चालीस के लगभग आचार्यों की नामावली 'रसरत्नसमुच्चय' में दी गई है।

'रसरत्नसमुच्चय' के पूर्व खण्ड के ग्यारह अध्यायों की सूची इस प्रकार है (सम्पूर्ण ग्रन्थ ३० अध्याय है)—

१. रसोत्पत्ति, २. महारस, ३. उपरस और साधारण रस, ४. रत्न, ५. लोह (धातुमात्र), ६. शिष्योपनयन, ७. रसशाला, ८. परिभाषा, ९. यंत्र, १०. मूषादि, ११. रसशोधनादि। ग्रन्थ के विषयों का सूक्ष्म निर्देश ग्रन्थकार ने प्रथम अध्याय में ही इस प्रकार कर दिया है—

रसोपरसलोहानि यन्त्रादि करणानि च।
शुद्ध्यर्थमपि लोहानां तंत्रादिकरणानि च।
शुद्धिः सत्वं द्रुतिर्भस्मकरणञ्च प्रवक्ष्यते॥ (१।९-१०)

महारसों में अभ्र, वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, शिलाधातु, सस्यक (मयूरतुत्थ), चपल और रसक इनका वर्णन दिया है। यह वर्णन रसार्णव, रसहृदय, रसेन्द्रचूड़ामणि और रसप्रकाशसुधाकर के वर्णनों से मिलता-जुलता है; पर उन सबकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट और क्रमबद्ध है। खेद है कि हम विस्तार से इसको यहाँ नहीं दे सकते। कुछ सारांश ही देंगे।

अभ्रक या अभ्र (mica) तीन प्रकार के हैं—पिनाक, नागमण्डूक और वज्र। तीनों प्रकार के अभ्रक श्वेत, लाल, पीले और काले, इन चार रंगों के पाए जाते हैं। वह अभ्रक अच्छा है जिनके पत्र सहजतया अलग-अलग किये जा सकें—**सुखान्निर्मोच्य पत्रं च तदभ्रं शस्तमीरितम्** (२।१२)। इस अच्छे अभ्रक का रंग किट्ट (लोहे का जंग) का-सा होना चाहिए, और अच्छा अभ्रक पारे से संयुक्त नहीं होता।

वैक्रान्त के आठ फलक और कोण होते हैं। यह मसृण (slippery) और गुरु (भारी) होता है—**अष्टास्रश्चाष्टफलकः षट्कोणो मसृणो गुरुः** (२।५५)। यह आठ रंगों का होता है—श्वेत, रक्त, पीत, नील, पारावतच्छवि, श्यामल, कृष्ण और कर्बुर। वैक्रान्त वज्राकार (हीरे का-सा) होता है। यह विंध्य पर्वत के दक्षिण, उत्तर और लगभग सभी ओर पाया जाता है। भस्मीभूत होने पर वैक्रान्त का उपयोग हीरे की जगह होता है (२।५६-५८)।

माक्षिक (copper pyrites) सुवर्ण-शैल में पाया जाता है। तापी नदी की तलहटी में एवं किरात, चीन और यवनों के देश में पाया जाता है—

सुवर्णशैलप्रभवो विष्णुना काञ्चनो रसः।
तापीकिरातचीनेषु यवनेषु च निर्मितः॥ (२।७७)

यह माक्षिक दो प्रकार के होते हैं—हेममाक्षिक, तारमाक्षिक। हेममाक्षिक स्वर्ण की आभा का और कन्नौज के निकट (कान्यकुब्जोत्थ) पाया जाता है। तारमाक्षिक घटिया और चाँदी की आभा का होता है। माक्षिक नीबू के रस और गन्धक के साथ

मूषा के उदर में गरम करने पर मर जाता है। शहद, गन्धर्व तैल, गोमूत्र, घी, कदली-कन्द आदि के साथ मूषा में गरम करने पर इसका शुद्ध सत्त्व (शुद्ध ताँबा) प्राप्त होता है। (२।८४-९०)

विमल तीन प्रकार के होते हैं—हेम के रंग का, तार (चाँदी) के रंग का और कांस्य रंग का। यह वर्त्तुल, कोणसंयुक्त, स्निग्ध और फलकान्वित होता है—**वर्त्तुलः कोणसंयुक्तः स्निग्धश्च फलकान्वितः** (२।९७)। इसे टङ्कण (सुहागा), कुचद्राव, मेषशृंग आदि के साथ बन्द मूषा में गरम करें तो सीसा की कान्ति का-सा सत्त्व[११] इससे प्राप्त होता है। यदि इसे शिग्रुजल, फिटकिरी, कसीस, सुहागे, कदलीरस एवं वज्रकन्द आदि के साथ मूकमूषा में गरम करें, तो चन्द्रार्क के समान सत्त्व प्राप्त होता है। विमल तांबे का ही कोई अयस्क प्रतीत होता है।

सस्यक या मयूरतुत्थ भी ताँबे का ही यौगिक है। मयूरतुत्थ में सुहागा, लकुच-द्राव, करञ्जतैल आदि मिलाकर कौक्कुट-पुट देने से इन्द्रगोप (बीरबहूटी) के रंग का सा सत्त्व प्राप्त होता है। मूषा में नीबू के रस और सुहागे के साथ इसे गरम करें तब भी शुद्ध सत्त्व प्राप्त होता है—

निम्बुद्रवाल्पटंकाभ्यां मूषामध्ये निरुध्य च।
ताम्ररूपं परिध्मातं सत्त्वं मुञ्चति सस्यकम् ॥ (२।१३५)

चपल चार प्रकार का होता है—गौर, श्वेत, अरुण और कृष्ण। इनमें से जो चाँदी या सोने-सा हो, वह रसबन्धन के विशेष उपयुक्त है। अरुण और कृष्णवर्ण का चपल निष्फल होता है और पिघलने पर लाख का-सा दीखता है। आग पर गरम करने पर यह वंग ऐसा पिघलता है और इसीलिए इसका नाम चपल है। चपल में स्फटिक-सी छाया होती है, यह षडस्र, स्निग्ध और गुरु है—चपलः स्फटिक-च्छायः षडस्रः स्निग्धको गुरुः। (२।१४६)

रसक दो प्रकार के होते हैं—'दर्दुर' और 'कारवेल्लक'। सदल रसक को 'दर्दुर' और निर्दल को 'कारवेल्लक' कहते हैं।

रसकः द्विविधः प्रोक्तो दर्दुरः कारवेल्लकः।
सदलो दर्दुरः प्रोक्तो निर्दलः कारवेल्लकः ॥ (२।१४९)

रसक से शुद्ध सत्त्व (यशद या जस्ता) बनाने की विधियाँ जैसी पूर्व में दी जा चुकी हैं, वैसी ही 'रसरत्नसमुच्चय' में दी गई हैं। वंग की-सी आभा सा सत्त्व प्राप्त होता है।

शिलाधातु (शिलाजतु) दो प्रकार के होते हैं। एक में गोमूत्र-सी गन्ध होती है और दूसरे में कपूर-सी। गरमी की ऋतु में हिमालय के पादस्थल में यह पिघल-पिघल कर आता है—

---

(११) सीस-संनिभः के स्थान में कहीं-कहीं 'शशि-संनिभं' पाठ है, जिसका अर्थ चन्द्र-सी चमकवाला होता है, जो अधिक उपयुक्त है।

ग्रीष्मे तीव्रार्कतप्तेभ्यः पादेभ्यो हिमभूभृतः। (२।११०)

गन्धक तीन प्रकार के होते हैं—(१) शुक की चोंच के रंग-सा, (२) पीतवर्ण का और (३) श्वेतवर्ण का (३।१२)। श्वेत गंधक अधम होता है। कोई-कोई चौथे प्रकार का दुर्लभ एक काला गन्धक भी मानते हैं—

दुर्लभः कृष्णवर्णश्च स जरामृत्युनाशनः। (३।१५)

गैरिक दो प्रकार के हैं, पाषाणगैरिक और स्वर्णगैरिक (३।४६)। पाषाणगैरिक ताँबे के रंग-सा होता है। गाय के दूध की भावना से गैरिक शुद्ध होता है

कासीस भी दो प्रकार के हैं—बालुककासीस और पुष्पकासीस (३।५१)। फिटकिरी के समान इसका भी सत्त्व प्राप्त होता है।

सौराष्ट्र (सूरत) में तुवरी (फिटकिरी) प्राप्त होती है। यह कपड़ा रँगती और मजीठ के रंग को स्थिर करती है।

सौराष्ट्राश्मनि संभूता मृत्स्ना सा तुवरी मता।
वस्त्रेषु लिप्यते यासौ मञ्जिष्ठारागबन्धिनी॥ (३।५९)

हरताल (orpiment) दो प्रकार के होते हैं—पत्ररूप और पिंडरूप (३।६६)। मनःशिला (realgar) में किट्ट (जंग), गुड़, गुग्गुलु और घी मिलाकर कोष्ठियंत्र में गरम करें तो इसका सत्त्व प्राप्त होगा (३।९५)।

अञ्जन इतने प्रकार के हैं—सौवीराञ्जन, स्रोताञ्जन, पुष्पाञ्जन और नीलाञ्जन। 'सौवीराञ्जन' या सुरमा (antimony sulphide or lead sulphide) काला होता है (३।९८)। 'स्रोताञ्जन' सफेद होता है, यह सम्भवतः "calcareous spar या ieeland spar" है। 'पुष्पाञ्जन' को विलसन ने "calx of brass" कहा है। रसाञ्जन वह है जो हिन्दी में रसौत कहलाता है।

कम्पिल्ल इष्टिकाचूर्ण (brick dust)-सा होता है (३।१२२)। गौरीपाषाण में स्फटिक (rock crystal), शंख या हल्दी-सा रंग होता है (३।१२४)। ताल के समान इसका भी सत्त्व प्राप्त करते हैं।

नवसार (नौसादर) करीर और पीलु की लकड़ी के पचन से बनता है। यह भी क्षार है। इसे चूलिका लवण भी कहते हैं। यह ईंट के जलने पर बनता है—

करीरपीलुकाष्ठेषु पच्यमानेषु चोद्भवः।
क्षारोऽसौ नवसारः स्याच्चूलिकालवणाभिधः॥ (३।१२७)

वराटक (कौड़ी) वह अच्छी है, जो पीली सी हो, ग्रन्थिदार हो और पीठ की ओर दीर्घवृत्त हो। काञ्जी के प्रयोग से यह शुद्ध होती है—

पीताभा ग्रन्थिका पृष्ठे दीर्घवृत्ता वराटिका। (३।१३०)
वराटाः कांजिके स्विन्ना यामाच्छुद्धिमवाप्नुयुः। (३।१३४)



चित्र ६—पंजाब की एक पुरानी ढाल, जो स्वर्ण और मणियों से सुसज्जित है।

(पृष्ठ २१२)

अग्निजार वह रस है, जो अग्नि-नक्र (घड़ियाल या मगरविशेष) के जरायु से निकलता है। (३।१३५)

गिरिसिन्दूर बड़े पर्वतों के पत्थरों में से निकलता है।

हिंगुल या दरद में से निकला पारा जीर्ण गन्धक के समान ही गुणवाला है। दरद को पातनायन्त्र में रखकर पातन करें और जल पर इसके सत्त्व को इकट्ठा करें, तो इसमें से फिर पारा मिलेगा—

दरदः पातनायन्त्रे पतितश्च जलाशये।
तत्सत्वं सूतसंकाशं पातयेन्नात्र संशयः॥ (३।१४४)

मृद्दारश्रृंगक (मुर्दासंख या मुरदासिंगी) गुर्जरप्रदेश (गुजरात) में पाया जाता है और सदल (leafy) और पीतवर्ण का होता है। अर्बुद (आबू) पर्वत के निकट भी यह मिलता है। इसका सत्त्व रसबंधन में उत्कृष्ट है और बालों के रंगने में भी उत्तम है—रसबन्धनमुत्कृष्टं केशरञ्जनमुत्तमम्। (३।१४५-१४६)

राजावर्त्त (लाजवर्द या Lapis lazuli) का रंग अल्प रक्त मिश्रित नीला (reddish-blue) होता है। इसे यदि सात बार नीबू के रस और गन्धक के साथ गरम करें तो यह मर जाता है—

लुङ्गाम्बुगन्धकोपेतो राजावर्त्तःविचूर्णितः।
पुटनात् सप्तवारेण राजावर्त्तो मृतो भवेत्॥ (३।१५३)

मणि (gems) का भी उपयोग सूतबन्ध (पारे के साथ बन्धन करने में) में होता है—**मणयोऽपि च विज्ञेयाः सूतबन्धस्य कारकाः।** सात मणि ये हैं—वैक्रान्त, सूर्यकान्त, हीरक, मुक्ता, चन्द्रकान्त, राजावर्त्त और गरुडोद्गार (emerald)। पुष्पराग (topaz), महानील (sapphire), पद्मराग, प्रवाल (coral) और वैडूर्य्य (cat's eye) भी मणि माने जाते हैं। (४।१-३)

वज्र (हीरा, diamond) तीन प्रकार का होता है—नर, नारी और नपुंसक, और इसी क्रम से इन हीरों की रसवीर्य्यविपाक में श्रेष्ठता है। नर हीरे में आठ कोरें (अष्टास्र), आठ फलक और षट् कोण होते हैं और यह खूब चमकता और इन्द्रधनुष के-से रंग व्यक्त करता है।

अष्टास्रं चाष्टफलकं षट्कोणमतिभासुरम्।
अम्बुदेन्द्रधनुर्वारितरं पुंवज्रमुच्यते॥ (४।२७)

नारी वज्र चिपटा और वर्त्तुलाकार होता है और नपुंसक वज्र वर्त्तुल, कुण्ठकोण-वाला (obtuse-angled) और कुछ भारी होता है—

तदेव चिपिटाकारं स्त्रीवज्रं वर्त्तुलायतम्।
वर्त्तुलं कुण्ठकोणाग्रं किंचिद् गुरु नपुंसकम्॥ (४।२८)

नर, नारी और नपुंसक तीनों प्रकार के हीरे रंगों के हिसाब से ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य और शूद्र इन चार जातियों के और होते हैं। कुलत्थ और कोद्रव के क्वाथ में एक याम (तीन घण्टों) तक रखने पर वज्र शुद्ध होता है।

सोमसेनानी द्वारा वज्रमारणप्रयोग—यदि वज्र को मनःशिला से लिप्त मूषा में रखकर कुलत्थ क्वाथ और लकुचद्रव के साथ मिलाकर गोबर के कंडों की आग में १०० बार गरम करें और फिर शुद्ध पारे पर छोड़ें तो हीरा मर जायगा और इसकी भस्म मिलेगी। वज्रमारण का यह प्रयोग सोमसेनानी ने सर्वप्रथम किया था—

> **कुलत्थक्वाथसंयुक्त लकुचद्रवपिष्टया।**
> **शिलया लिप्तमूषायां वज्रं क्षिप्त्वा निरुध्य च॥**
> **अष्टवारं पुटेत् सम्यक् विशुष्कैश्च वनोत्पलैः।**
> **शतवारं ततो ध्मात्वा निक्षिप्तं शुद्धपारदे।**
> **निश्चितं म्रियते वज्रं भस्म वारितरं भवेत्॥**
> **सत्यवाक् सोमसेनानीरेतद् वज्रस्य मारणम्।**
> **दृष्टप्रत्ययसंयुक्तमुक्तवान् रसकौतुकी॥** (४।३८-४०)

ब्रह्मज्योति द्वारा वज्रमारणप्रयोग—ब्रह्मज्योति मुनि की वज्रमारणविधि इस प्रकार है—हीरे को सात बार मत्कुण (खटमल) के खून में विलिप्त करके धूप में सुखा लें और फिर लोहपात्र में कासमर्द के रस में रखकर सात बार गरम करें, तो निश्चय ही इसकी भस्म प्राप्त होगी—

> **विलिप्तं मत्कुणस्यास्रे सप्तवारं विशोषितम्।**
> **कासमर्दरसापूर्णे लोहपात्रे निवेशितम्॥**
> **सप्तवारं परिध्मातं वज्रभस्म भवेत् खलु।**
> **ब्रह्मज्योतिर्मुनीन्द्रेण क्रमोऽयं परिकीर्त्तितः॥** (४।४१-४२)

रसेन्द्रचिन्तामणि और शार्ङ्गधरसंहिता में वज्रमारण की कुछ विधियाँ और दी हैं। वस्तुतः अशुद्ध हीरा ही फूँके जाने पर भस्म छोड़ सकता है, शुद्ध हीरा नहीं। हीरे को छोड़ कर शेष सब रत्न मनःशिला (realger), गन्धक, तालक (orpiment) और लकुचद्राव के साथ आठ बार गरम करके मारे जा सकते हैं—

> **लकुचद्रावसंपिष्टैः शिलागन्धकतालकैः।**
> **वज्रविनान्यरत्नानि म्रियन्तेऽष्टपुटैः खलु॥** (४।६३)

रसरत्नसमुच्चय में मारण की यह विधि कुछ विस्तार से दी है।

धातु और मिश्रधातु—धातुमात्र के लिए लोह शब्द का प्रयोग किया गया है। शुद्ध लोह तीन हैं—लोह, कनक और रजत। पूतीलोह दो हैं—नाग और वङ्ग। मिश्र लोह तीन हैं—पित्तल (brass), कांस्य (bell metal) और वर्त्त लोह। सोना पाँच प्रकार का होता है—प्राकृतिक, सहज, वह्निसंभूत, खनिसम्भव (खान से पैदा) और रसेन्द्रवेधसञ्जात (रासायनिक क्रियाओं द्वारा बनाया गया)। स्वर्ण के

मारण की कई विधियाँ दी हैं। रसभस्म (शायद पारे का सल्फाइड से मारा गया सोना सर्वश्रेष्ठ होता है, पर अरिलोह (?) से मारा गया लोहा दुर्गुणप्रद माना गया है। (५।१-१३)

रजत तीन प्रकार का है—सहज, खनिसंजात और कृत्रिम। लोहे को सीसा और सुहागे के साथ गलाएँ तो यह शुद्ध हो जाता है। इस काम के लिए एक खर्पर (cupel) पर चूना और भस्म गोल-गोल बिछाओ और फिर चाँदी में बराबर भाग सीसा मिलाकर इस खर्पर पर रक्खो, आग पर तबतक गरम करो जबतक सम्पूर्ण सीसे का क्षय न हो जाय। इस प्रकार दवा के योग्य शुद्ध चाँदी प्राप्त होती है—

नागेन टङ्कनेनैव वापितं शुद्धिमृच्छति ॥ (५।३१)
खर्परे भस्मचूर्णाभ्यां परितः पालिकां चरेत् ।
तत्र रूप्यं विनिक्षिप्य समसीससमन्वितम् ॥
जातसीसक्षयं यावद् धमेत् तावत् पुनः पुनः ।
एवं संशोधितं रूप्यं योजनीयं रसादिषु ॥ (५।३३-३४)

चाँदी के शोधन की यह खर्परविधि (cupellation process) बड़े ऐतिसिक महत्व की है।

ताँबा दो प्रकार का बताया गया है,—'नेपालक' जो नेपाल में पाया जाता है और श्रेष्ठ है और दूसरा म्लेच्छ जो अन्य विदेशों की खानों से निकाला जाता है। (५।४४) ताँबे के पत्र को जम्बीररस (नीबू के रस) से रगड़कर गन्धक और पारे से लिप्त करें और तीन बार गरम करें तो यह मर सकता है। (५।५५)

लोहा तीन प्रकार का होता है—मुण्ड, तीक्ष्ण और कान्त। मुण्ड के भी तीन भेद हैं—मृदु, कुण्ठ और कडार। जो शीघ्र पिघले, फटे नहीं और चिकना हो वह मृदु कहलाता है। पीटने पर जो कठिनता से फैले, वह कुण्ठ है और जो पीटने पर टूट जाय और भंग (fracture) होने पर काला हो, वह कडार कहलाता है। (५।७०-७२)

तीक्ष्ण लोहा छः प्रकार का माना जाता है अर्थात् खर, सार, हृन्नाल, तारावट्ट, वाजिर और काल-लोह। इनमें से एक परुष (rough) और पोगर (रेखाओं) से हीन, और भंग होने पर पारद की-सी छबि वाला और मोड़ने पर टूटने वाला होता है। दूसरी तरह का तीक्ष्ण लोहा कठिनता से टूटता है और तीक्ष्ण धार का होता है। (५।७५-८३)

कान्त लोहा पाँच प्रकार का होता है—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक, द्रावक और रोमकान्त। इसमें एक, दो, तीन, चार, पाँच मुख और कभी-कभी सब ओर आकर्षण करने वाले मुख होते हैं। यह पीले, काले और लाल रंग का होता है। जो सब प्रकार के लोहों को घुमादे, वह 'भ्रामक' कहलाता है। जो लोहे का चुम्बन करे, वह 'चुंबक', जो लोहे को खींचे वह 'कर्षक', जो लोहे को साक्षात् होने पर ही पिघला दे, वह 'द्रावक' कहलाता है और तोड़ने पर जिसमें से रोम-तन्तु निकल पड़ें, वह 'रोमकान्त' है। (५।८४-८९)

यदि हम पारे को मदोन्मत्त हाथी समझें, तो लोहे को उसे वश में करनेवाला अंकुश समझना चाहिए—'**मदोन्मत्तगजः सूतः कान्तमंकुशमुच्यते ।**' (५।९२)

एक भाग लोहे में बीसवाँ भाग हिंगुल मिला, उसे जम्बीररस में मिलाकर चालीस

बार मूषा में बन्द करके गरम करें, तो कान्त, तीक्ष्ण और मुण्डक तीनों प्रकार का लोहा मर जाता है। लोह-मारण की अन्य विधियाँ भी दी गई हैं।

लोहकिट्ट (iron rust) को तब तक तपाए जब तक यह जीर्ण होता जाय और फिर इसे महीन पीस ले। इस प्रकार मण्डूर प्राप्त होता है। (५।१५०)

वंग (tin) दो प्रकार का होता है—खुरक (क्षुरक) और मिश्रक। 'खुरक' श्रेष्ठ होता है। यह धवल (white tin), मृदुल, स्निग्ध, शीघ्र गलनेवाला (द्रुतद्राव), भारी और निःशब्द होता है। 'मिश्रक' वंग श्याम-शुभ्रक (grey tin) माना जाता है। यदि वंग को गलाकर निर्गुण्डिका के रस में हलदी मिलाकर डाल दें और ऐसा तीन बार करें, तो वंग शुद्ध हो जाता है। (५।१५३-१५८) वंगभस्म ताल (orpiment) और अर्कदुग्ध की सहायता से बनाने की विधि भी दी गई है। (५।१५९)

सीसक (सीसा) शीघ्र गलनेवाला, महाभारवाला (बहुत भारी), काटने (छेदने) पर चमकदार कृष्ण आभावाला और पूतिगन्धवाला होता है। इससे लाल रंग की भस्म बनाने की विधि दी हुई है।

पीतल दो प्रकार की होती है—रीतिका और काकतुण्डी। रीतिका वह है जो गरम करके काञ्जी में छोड़ देने पर ताम्र की-सी आभावाली बन जाय। ऐसा करने पर जो काली पड़ जाय, वह 'काकतुण्डी' है। नीबू के रस, ताल और गन्धक के योग से इसकी भस्म बनाने की विधि दी है। (५।१९२-१९८)

आठ भाग ताँबा और दो भाग कुटिल (वंग) साथ-साथ डालकर कांस्य (काँसा) नामक मिश्रधातु बनती है (५।२०५)। पंचपुट (पाँच बार गरम करके) द्वारा गन्धक और ताल की सहायता से यह मारी जा सकती है।

कांस्य, ताँबा, पित्तल, लोहा और सीसा, इन पाँच धातुओं के योग से 'वर्त्तलोह' बनता है।

रसशाला का निर्माण—'रसरत्नसमुच्चय' में रसशाला की स्थापना के संबंध में निम्नलिखित वर्णन दिया गया है—

रसशालां प्रकुर्वीत सर्वबाधा विवर्जिताम्।
सर्वौषधमये देशे रम्यकूपसमन्विते ॥१॥
नानोपकरणोपेतां प्राकारेण सुशोभिताम् ॥२॥
शालायाः पूर्वदिग्भागे स्थापयेद् रसभैरवम्।
वह्निकर्म्माणि चाग्नेये याम्ये पाषाणकर्म च ॥
नैर्ऋत्ये शस्त्रकर्माणि वारुणे क्षालनादिकम्।
शोषणं वायुकोणे च वेधकर्मोत्तरे तथा ॥
स्थापनं सिद्धवस्तूनां प्रकुर्यादीशकोणके।
पदार्थसंग्रहः कार्यो रससाधनहेतुकः ॥
सत्त्वपातनकोष्ठीं च सुराकोष्ठीं सुशोभनाम्।
भूमिकोष्ठीं चलत्कोष्ठीं जलद्रोणीरनेकशः ॥

भस्त्रिकायुगलं तद्वन्नालिके वंशलोहयोः ॥३-७॥
× × ×
करणानि विचित्राणि द्रव्याण्यपि समाहरेत् ।
कण्डनीं पेषणीं खल्लान् द्रोणीरूपांश्च वर्त्तुलान् ॥८॥
सूक्ष्मच्छिद्रसहस्राढ्यां द्रव्यगालनहेतवे ।
चालनीं च कटत्राणि शलाकाऽहिश्च कुण्डली ॥१०॥
मूषामृत्तुषकार्पासवनोपलकपिष्टकम् ॥१५॥
काचायोमृद्वराटानां कूपिकाचषकानि च ॥१८॥(७।१-१८)

अर्थात् सर्वबाधा से रहित स्थान में रसशाला बनावे, जहाँ ओषधियाँ पास में मिलती हों और जहाँ रम्य कुएँ हों। 'रसशाला' में अनेक उपकरण (apparatus) हों और यह आकार (boundary wall) से सुशोभित हो। इसकी पूर्व दिशा में पारे का (मरे हुए) शिवलिंग (रस-भैरव) हो। अग्निकोण (दक्षिण-पूर्व) में वह्निकर्म (furnaces) के लिए स्थान हो। पाषाणकर्म याम्य (दक्षिण) दिशा में हो, नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम) में शस्त्रकर्म (instruments) हो, वारुण (पश्चिम) दिशा में क्षालनकर्म (washing operations), वायुकोण (उत्तर-पश्चिम) में शोषणकर्म (drying) हो और उत्तर दिशा में वेधकर्म (छेदन, कर्त्तन आदि) हो और ईशकोण (उत्तर-पूर्व) में सिद्ध वस्तुओं के रखने का स्थान (stores) हो। पदार्थों के संग्रह से रस-साधन में सुविधा होती है।

रसशाला में सत्वपातन (extraction of essences) के लिए कोष्ठी-यंत्र हो। सुराकोष्ठी, भूमिकोष्ठी, चलत्कोष्ठी, जलद्रोणी (water jugs or troughs), दो भस्त्रिका (bellows), बाँस और लोहे की नलियाँ, ये सब हों। अन्य विशेष उपकरण और द्रव्य भी इसमें इकट्ठा करने चाहिए, इसमें कण्डनी (लकड़ी का खरल अन्न के कूटने के लिए), पेषणी (पीसने का, pestle and mortar), खल्ल (stone for grinding drugs), वर्त्तुल रूप की द्रोणियाँ (wooden buckets), द्रव्यगालन के लिए सहस्रों सूक्ष्म छेदों की चलनी (sieve) और कटत्र (छेनी) होने चाहिए। मिट्टी की मूषा, कपास (cotton), वनोपलक (कोयला और गोबर के कंडे), काँच, मिट्टी और वराट (कौड़ी या शंख) की बनी कूपिका (flasks) और चषक (प्याले) होने चाहिए।

यन्त्र—'रसरत्नसमुच्चय' में निम्नांकित यन्त्रों का विशेष वर्णन है—दोलायन्त्र, स्वेदनीयन्त्र, पातनायन्त्र, अधःपातनायन्त्र, दीपिकायन्त्र, ढेकीयन्त्र, वालुकायन्त्र, लवणयन्त्र, नालिकायन्त्र, तिर्यक्पातनयन्त्र, विद्याधरयन्त्र और धूपयन्त्र।

१. दोलायन्त्र—इस यंत्र में द्रवद्रव्य से भाण्ड को आधा भरते हैं, और इसके मुख पर बीच में एक दण्ड (rod) रखते हैं, और इसकी सहायता के लिए रसपोटली लटका देते हैं। द्रव उबलता है, और उसके ऊपर दूसरा पात्र उलटकर रखते हैं।

द्रवद्रव्येण भाण्डस्य पूरितार्द्धोदरस्य च ।
मुखमुभयतो द्वारद्वयं कृत्वा प्रयत्नतः ॥

तयोस्तु निक्षिपेद्दण्डं तन्मध्ये रसपोटलीम् ।
बद्धा तु स्वेदयेदेतद् दोलायन्त्रमिति स्मृतम् ॥ (९।३–४)

२. स्वेदनीयन्त्र—

साम्बस्थाली मुखाबद्धे वस्त्रे पाक्यं निवेशयेत् ।
पिधाय पच्यते यत्र स्वेदनीयन्त्रमुच्यते ॥ (९।५)

उबलते पानी की हाँड़ी के मुख पर कपड़ा बाँधते और उसपर स्वेद्य पदार्थ को रखते और ऊपर से दूसरी हाँड़ी उलटकर रखते हैं। फिर चूल्हे पर चढ़ाकर पकाते हैं।

३. पातनायंत्र—

अष्टांगुलपरिणाहमानाहेन दशाङ्गुलम् ।
चतुरंगुलकोत्सेधं तोयाधारं गलादधः ॥
अधोभाण्डे मुखं तस्य भाण्डस्योपरिवर्त्तिनः ।
षोडशाङ्गुलविस्तीर्णं पृष्ठस्यास्ये प्रवेशयेत् ॥
पार्श्वयोर्महिषीक्षीर चूर्णमंडूरफाणितैः ।
लिप्त्वा विशोषयेत् सन्धिं जलाधारे जलं क्षिपेत् ।
चुल्यामारोपयेदेतत् पातनायंत्रमीरितम् ॥ (९।६–८)

एक हाँड़ी पर दूसरी हाँड़ी उलटकर इस तरह रखते हैं कि एक का गला दूसरे के भीतर आ जाय। गले के जोड़ों पर भैंस के दूध, चूना, कच्ची खाँड़ और लोहे के जंग का मिश्रण लेप देते हैं। यह यंत्र ऊर्ध्वपातन (sublimation) और साधारण पातन (distillation) दोनों के काम का है।

४. अधःपातनायंत्र—

अधोर्ध्वभाजने लिप्तं स्थापितस्यजले सुधीः ।
दीप्तैर्वनोपलैः कुर्यादधःपातं प्रयत्नतः ॥ (९।९)

यह यंत्र पातनायंत्र के समान ही है। ऊपर की हाँड़ी के पेंदे में पदार्थ लेप देते हैं और कंडों से गरम करते हैं। नीचेवाली हाँड़ी में पानी रखते हैं। पदार्थ से निकली भाफें नीचे वाले पानी में घुल जाती हैं।

५. कच्छप यन्त्र—

जलपूर्णपात्रगर्भे दत्त्वा घटखर्परं सुविस्तीर्णम् ।
तदुपरि बिडमध्यगतः स्थाप्यः सूतः कृतः कोष्ठ्ययाम् ॥
लघुलोहकटोरिकया कृतषन्मृत्सन्धि लेपयाऽऽच्छाद्य ।
पूर्वोक्तघटखर्पर मध्येऽङ्गारैः खदिरकालभवैः ॥
स्वेदनतोमदनतः कच्छपयन्त्रस्थितो रसो जरति ।
अग्निबलेनैव ततो गर्भे द्रवन्ति सर्वसत्त्वानि ॥ (९।१०–१२)

एक बड़े बर्त्तन (टब या नाद सा) में पानी भरते हैं और उसके बीच में मिट्टी का खीपरा रखकर उसके ऊपर पारे की मूषा रखते हैं। मूषा हलके लोहे की कटोरी

से ढक दी जाती है, और छः बार मिट्टी द्वारा कपरौटी करते और सुखाते हैं। खीपरे में मूषा के चारों ओर खैर और बैरी के कोयलों को रखकर आग देते हैं। इस प्रकार स्वेदन और मर्दन करने से इस कच्छप यन्त्र में रखा गया पारा जीर्ण हो जाता है। जारित पारे के गर्भ में कोई भी सत्व डाल दें तो उनका द्रावण भी हो जाएगा।

६. दीपिकायंत्र—

कच्छपयन्त्रान्तर्गतमृन्मयपीठस्थ दीपिकासंस्थः।
यस्मिन्निपतति सूतः प्रोक्तं तद्दीपिकायन्त्रम्॥ (९.१३)

कच्छप यन्त्र में कही गयी विधि के अनुसार पानी से भरे पात्र में मिट्टी का खीपरा (या घड़ा) रखते हैं, उस खीपरे या घड़े में छोटे-छोटे छेद कर देते हैं, और मूषा में पारा भर कर उसमें रख देते हैं। इस प्रकार आग की गरमी से मूषा में से उड़ा हुआ पारा खीपरे के छेड़ों द्वारा निकल कर पानी में गिर पड़ता है। इसको दीपिका यन्त्र कहते हैं। खीपरों में छेदों का होना इसकी विशेषता है।

७. ढेकीयंत्र—

भाण्डकण्ठादधश्छिद्रे वेणुनालं विनिक्षिपेत्।
कांस्यपात्रद्वयं कृत्वा संपुटं जलगर्भितम्।
नलिकास्यं तत्र योज्यं दृढं तच्चापि कारयेत्।
युक्तद्रव्यैर्विनिक्षिप्तः पूर्वं तत्र घटे रसः।
अग्निना तापितो नालात् तोये तस्मिन् पतत्यधः॥
यावदुष्णं भवेत् सर्वं भाजनं तावदेवहि।
जायते रससंधानं ढेकीयन्त्रमितीरितम्॥ (९।११-१४)

घड़े या हाँड़ी की गर्दन के नीचे एक छेद करके इसमें बाँस की नली लगाते हैं। नली का दूसरा सिरा काँसे के पात्र से जुड़ा होता है। इस पात्र में पानी रहता है। काँसे का पात्र दो कटोरों से मिलकर बनता है। एक कटोरा दूसरे पर औंधा होता है। घड़े को भट्ठी या चूल्हे पर गरम करते हैं।

८. वालुकायन्त्र (sand bath)—

सरसां गूढवक्त्रां मृद्वस्त्रांगुलघनावृताम्।
शोषितां काचकलसीं पूरयेत्त्रिषु भागयोः॥
भाण्डे वितस्तिगम्भीरे वालुका सुप्रतिष्ठिता।
तत्भाण्डं पूरयेत् त्रिभिरन्याभिरवगुण्ठयेत्॥
भाण्डवक्त्रं माणिकया सन्धि लिंपेन्मृदा पचेत्।
चूल्यां तृणस्य चादाहान्मणिका पृष्ठवर्त्तिनः॥
एतद्धि वालुकायंत्रं तद्यंत्रं लवणाश्रयम्। (९।३४-३६)

लम्बी गर्दन की काँच की कलसी में पारदयोगवाले द्रव्य रखते हैं और इसपर कपड़े के कई लपेट चढ़ाते हैं। फिर मिट्टी ऊपर से लेपकर धूप में सुखा लेते हैं। कलसी

का तीन-चौथाई भाग बालू में गाड़ देते हैं (बालू मिट्टी के चौड़े घड़े में ली जाती है)। बालूवाले घड़े को भट्ठी पर रखते हैं। घड़े के मुँह पर एक और हाँड़ी उलट कर रख देते हैं। इसे इतना गरम करते हैं कि औंधी हाँड़ी के ऊपरी पृष्ठ पर रक्खा हुआ तिनका जल न जाय।

९. लवणयन्त्र (salt bath)—

एवं लवणनिक्षेपात् प्रोक्तं लवणयन्त्रकम्॥ (९।३८)

अगर ऊपर के यंत्र में बालू की जगह नमक भरा जाय, तो इसे लवणयन्त्र कहेंगे।

१०. नालिकायंत्र—

लौहनालं गतं सूतं भाण्डे लवणपूरिते।
निरुद्धं विपचेत् प्रागवन्नालिकायन्त्रमीरितम्॥ (९।४१)

ऊपर के बालुकायंत्र में काँच की कलसी के स्थान में लोहनाल ली जाय और बालू की जगह नमक लिया जाय, तो यह 'नालिकायंत्र' हो जायगा।

रसद्रव्यों से युक्त मूषा बालू में रक्खी जाय और इसे कण्डों से गरम किया जाय तो यह 'भूधरयन्त्र' कहलायेगा।

११. तिर्यक्पातनयंत्र—

क्षिपेद् रसं घटे दीर्घनताधोनालसंयुते।
तन्नालं निक्षिपेदन्यघटकुक्ष्यन्तरे खलु॥
तत्र रुद्ध्वा मृदा सम्यक् वदने घटयोरधः।
अधस्ताद् रसकुम्भस्य ज्वालयेत् तीव्रपावकम्॥
इतरस्मिन् घटे तोयं प्रक्षिपेत् स्वादुशीतलम्।
तिर्यक्पातनमेतद्धि वार्त्तिकैरभिधीयते॥ (९।४८-५०)

यह आजकल के भभके के समान है। एक घड़े के पेट में लम्बी नाल लगाते हैं, और इस नाल का दूसरा सिरा दूसरे घट की कुक्षी में जोड़ देते हैं। जोड़ के स्थान पर मिट्टी लेप देते हैं। दोनों घड़ों के मुँह भी मिट्टी से बन्द कर देते हैं। पहले घड़े के नीचे आग जलाते हैं और दूसरे पर पानी डालते रहते हैं जिससे ठंढा रहे।

१२. विद्याधरयंत्र—

स्थालिकोपरि विन्यस्य स्थालीं सम्यङ्निरुध्य च।
ऊर्ध्वस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा वह्निं प्रज्वालयेदधः॥
एतद् विद्याधरं यंत्रं हिङ्गुलाकृष्टिहेतवे॥ (९।५७-५८)

हिंगुल (cinnabar) से पारा निकालने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। एक हाँड़ी के ऊपर दूसरी हाँड़ी सीधी रखते हैं। ऊपरवाली हाँड़ी में पानी और नीचेवाली में हिंगुल रखते हैं। नीचेवाली हाँड़ी के नीचे आग जलाते हैं। पारा नीचेवाली से उड़कर ऊपरवाली हाँड़ी के पेंदे में जमा हो जाता है।

१३. धूपयंत्र (fumigating apparatus)—

विधायाष्टांगुलं पात्रं लौहमष्टाङ्गुलोच्छ्रयम् ।
कण्ठाधो द्व्यंगुले देशे गलाधारे हि तत्र च ॥
तिर्यक्लोहशलाकाश्च तन्वीस्तिर्यग् विनिक्षिपेत् ।
तनूनि स्वर्णपत्राणि तासामुपरि विन्यसेत् ॥
पात्राधो निक्षिपेद्धूमं वक्ष्यमाणमिहैव हि ।
तत्पात्रं न्युंजपात्रेण - च्छादयेदपरेण हि ॥
मृदा विलिप्य सन्धिं च वह्निं प्रज्वालयेदधः ।
तेन पत्राणि कृत्स्नानि हतान्युक्तविधानतः ॥
× × ×
धूपयन्त्रमिदं प्रोक्तं जारणाद्द्रव्यसाधनम् । (९।७०-७६)

इस यन्त्र का उपयोग जारण के कार्य्य के लिए होता है। इस यन्त्र में आठ अंगुल के ऊपर एक दूसरा आठ अंगुल का लोहपात्र औंधा कर रखते हैं। नीचेवाले पात्र के मुँह के भीतर लोहे की शलाका टेढ़ी करके रख देते हैं और इसके सहारे स्वर्णपत्र लटका देते हैं। नीचे के पात्र में गन्धक, मनःशिला और कज्जली रख देते हैं। दोनों पात्रों के मुखों की सन्धि पर मिट्टी लेप देते हैं। नीचे से आग जलाते हैं। इस प्रकार स्वर्ण-पत्र का जारण होता है। चाँदी के जारण के लिए चाँदी के पत्र लेते हैं और मृतवंग से धूप देते हैं।

मूषा—निम्नलिखित पदार्थों की मूषाएँ (crucibles) बनती हैं—

मृत्तिका पाण्डुरस्थूला शर्करा शोणपाण्डुरा ।
चिराध्मानसहा सा हि मूषार्थमतिशस्यते ॥
तदभावे हि वाल्मीकी कौलाली वा समीर्यते ।
या मृत्तिका दग्धतुषैः शणेन शिखित्रकैर्वा हयलद्दिना च ॥
लोहेन दंडेन च कुट्टिता सा साधारणी स्यात् खलु मूषकार्थम् ।(१०।५-६)

पीली मिट्टी, लाल या पीली शर्करा (बालू) जो अग्नि को देर तक सह सके, ये मूषा के लिए अच्छी हैं। इनके अभाव में वाल्मीकी (दीमकवाली मिट्टी), या कुम्हार की मिट्टी (कौलाली) लेनी चाहिए। इस मिट्टी में तुषा (भूसी), शण (सन) एवं शिखित्रक (कोयला) या घोड़े की लीद मिलाकर लोहदण्ड से कूट लेनी चाहिए।

इस मिट्टी में निम्नलिखित पदार्थ भी मिला लेना उचित होता है---श्वेताश्म (सिलखड़ी–gypsum),दग्ध तुषा (भूसी), शिखित्र (कोयला), सन, खर्परों का चूर्ण, लोह, किट्ट (लोहे का जंग) और काली मिट्टी।

श्वेताश्मानस्तुषा दग्धाः शिखित्राः शणखर्परौ ।
लद्दिः किट्टं कृष्णमृत्स्ना संयोज्या मूषिकामृदि ॥ (१०।७)

'रसरत्नसमुच्चय' में निम्नलिखित प्रकार की मूषाओं का उल्लेख है—वज्रमूषा,

योगमूषा, दो प्रकार की वज्रद्रावणीमूषा, गारमूषा, वरमूषा, वर्णमूषा, रौप्यमूषा, विडमूषा, वृन्ताकमूषा, गोस्तनीमूषा, मल्लमूषा, पक्वमूषा, गोलमूषा, महामूषा, मंडूक-मूषा, मुसलाख्यामूषा। (१०।८–३१)

मूषा शब्द के अन्य पर्य्याय क्रौञ्चिका, कुमुदी, करहाटिका, पाचनी और वह्नि-मित्रा हैं। (१०।१)

मूषा के नाम	किन पदार्थों से बनी और किस आकार की	उपयोग और विशेषता
वज्रमूषा	मिट्टी, सन, लीद, दग्ध तुषा, सिलखड़ी, किट्ट।	सत्त्वपातन (धातु आदि का)।
योगमूषा	दग्ध अंगार (कोयला), तुषा, काली मिट्टी, वल्मीक मिट्टी, विड (क्षार, अम्ल, गन्धक, पाँचों नमक आदि से बना)।	पारे को गुणवान बनाने के लिए।
वज्रद्रावणीमूषा (क्रौञ्चिका)	गारा (तालाब की चिकनी मिट्टी), केंचुओं का सत्त्व, सन, दग्ध तुषा, भैंस के दूध में घोंटकर।	वज्रद्रावण (हीरे आदि कठोर पदार्थों को पिघलाने के लिए)।
गारमूषा	किट्ट, अंगार (कोयला), सन और गारा को दूध में सानकर।	दो प्रहर तक अग्नि में फूँकने से भी नहीं पिघलती।
वरमूषा	थूहर लकड़ी का कोयला, तुषा, काली मिट्टी, गारा।	एक प्रहर तक आग सहती है।
वर्णमूषा	पाषाण-रहित लाल रंग की मिट्टी, लाल वर्ग (जैसे कत्था, मजीठ, लाख आदि)[१२] के रसों में घोंटकर और ऊपर से बीरबहूटी के चूर्ण का लेप।	वर्णोत्कर्षविधायिनी (अर्थात् धातु, उपधातु, रस, उपरस सबके रंगों को उत्कृष्ट करनेवाली)।
रौप्यमूषा	पाषाणरहित श्वेत मिट्टी, श्वेत वर्ग की ओषधियों के रसों[१३] में घोंटकर, ऊपर से वीरबहूटी के चूर्ण का लेप।	श्वेत वर्ण को प्रशस्त करती है।
विडमूषा	विड नमकवाले स्थान की मिट्टी, ऊपर से विड का लेप।	शरीर को लोह बना देने वाली ओषधियों के लिए।
वृन्ताकमूषा	यह बैंगन के आकार की, इसके पेट में १२ अंगुल नली, धतूरे के फूल के समान ऊँची। चौड़े पार्श्व में ८ अंगुल का छेद होता है।	खर्पर आदि मृदु पदार्थों के सत्त्व निकालने के लिए।
गोस्तनीमूषा	गो के स्तन के आकार की, शिखादार ढक्कन से युक्त।	सत्त्वों के द्रावण और शोधन के लिए।

(१२) रक्तवर्ग—कुसुम्भ, खदिर, लाक्ष, मंजिष्ठ, रक्तचन्दन, अक्षी, बन्धुजीव, कर्पूर-गन्धिनी, मधु (१०।९३–९४)।

(१३) श्वेतवर्ग—तगर, कुटज, कुन्द, गुञ्जा, जीवन्तिका, श्वेतकमल, कमल-कन्द (१०।९६)।

मल्लमूषा	एक प्याले को दूसरे प्याले से ढाँककर बनी।	पर्पटी आदि रसों के स्वेदन के लिए।
पक्वमूषा	कुम्हार की पकी हाँडी के समान।	पोटली आदि रस के पाचन के लिए।
गोलमूषा	दो गोलार्धों से बनी। सम्पुट गोल मुखरहित हो।	शीघ्र द्रव्य शोधन के लिए।
महामूषा	यह तली में कछुए के आकार की, और ऊपर क्रमशः विस्तृत होती जावे, बीच में मोटे बैंगन के समान।	लोहे और अभ्रक के सत्त्व को गलाने और पुट देने के लिए।
मंडूकमूषा	मेंढक के आकार की, ६ अंगुल की, नीचे को लम्बी, चौड़ी और खोखली। इसे जमीन में खोदकर गाड़ते और ऊपर से आग देते हैं।	ऊपर से आग देकर रसों को बनाने के लिए।
मुसलाख्यामूषा	यह मूल में चिपटी, ८ अंगुल ऊँची, गोल।	पारे को चक्र-बद्ध करने के लिए।

मूषाप्यायन—मूषा में यदि कोई धातु भरकर द्रावण के लिए रक्खी जाय, और जब वह पिघल कर पतली पड़ जाय, तब उसी क्षण आग पर से उसे उतार लें। इस क्रिया का नाम 'रसरत्नसमुच्चय' में मूषाप्यायन रक्खा गया है—

द्रवे द्रवीभावमुखे मूषाया ध्मानयोगतः।
क्षणमुद्धरणं यत्तन्मूषाप्यायनमुच्यते॥ (१०।३२)

खल्व या खरल (mortar) और **घर्ष, मर्दक या मूसल** (pestle)—'रसरत्नसमुच्चय' में तीन प्रकार के खल्वों और उनके घर्षों या मर्दकों का उल्लेख है। (१) अर्धचन्द्र खल्व—यह दस अंगुल उत्सेध (ऊँचाई), दस अंगुल आयाम (लम्बाई), दस अंगुल विस्तार (चौड़ाई) और नीचे सात अंगुल परिमाणों का, इसके किनारे २ अंगुल ऊँचे, और इसका घर्ष १२ अंगुल का हो। (२) वर्तुल खल्व—यह बारह अंगुल लंबा-चौड़ा, चार अंगुल गहरा, चिकने पत्थर का, और इसका मर्दक नीचे से चिपटा और ऊपर से सुग्राही (मुठियादार पकड़ने योग्य) होना चाहिए। (३) तप्त खल्व—यह (९ × ९) अंगुल विस्तार का पर ६ अंगुल गहराई का, और इसका मर्दक ८ अंगुल का होना चाहिए। यह लोहे का बनाया जाता है। इसे चुल्ली या अँगीठी पर गरम करते हैं और गरम अवस्था में ही रसों को घोंटते हैं। (१०।८४-९१)

कोष्ठी (furnaces)—सत्वपातन (distillation and sublimation) और सत्त्वशोधन (purification) के लिए विविध प्रकार की कोष्ठियाँ (कोठियाँ या भट्टियाँ) बनाई गई हैं—

सत्त्वानां पातनार्थाय पतितानां विशुद्धये।
कोष्ठिका विविधाकारास्तासां लक्षणमुच्यते॥ (१०।३३)

ये कोष्ठियाँ चार प्रकार की हैं—अंगारकोष्ठी, पातालकोष्ठी, गारकोष्ठी और मूषा-कोष्ठी (१०।३३–४९)। पातालकोष्ठी का प्रचलन प्रसिद्ध नन्दी ने किया था—

पातालकोष्ठिका ह्येषा मृदूनां सत्त्वपातिनी।
ध्मानसाध्यपदार्थानां नन्दिना परिकीर्त्तिता॥ (१०।४४)

(१) अंगारकोष्ठी—यह एक हाथ ऊँची, आधा हाथ लम्बी, चौड़ी तथा चौकोर होती है। इसके चारों ओर मिट्टी की दीवार होती है। उनमें से एक दीवार में एक या डेढ़ बालिश्त ऊँचाई छोड़कर एक सुदृढ़ द्वार होता है। देहली के नीचे से फूँकने के लिए भी एक उचित द्वार होता है। फिर, इस कोष्ठिका के उत्तर की ओर की एक बालिश्त ऊँची दीवार के ऊपर एक बालिश्त ऊँचा द्वार बनाया जाता है। इस द्वार को ईंट लगाकर और इसकी सन्धियों को लेप करके बन्द कर देते हैं। फिर भट्टी में शिखित्र (कोयला) भर कर दो धौंकनियों से फूँकते हैं। अंगारकोष्ठी का प्रयोग दृढ पदार्थों के सत्त्वपातन के लिए होता है। जिस पदार्थ का सत्व निकालना हो, उसके पाँच-पाँच गोले बार-बार भट्टी में छोड़े जाते हैं। (१०।३४–३९)

(२) पातालकोष्ठी—दृढ भूमि में एक बालिश्त लम्बा, चौड़ा और गोल (अर्थात् संमित) गड्ढा बनाया जाता है। इसके बीच चार अंगुल चौड़ा, गहरा और गोल एक दूसरा गड्ढा बनाते हैं। इस गड्ढे में जिस पदार्थ का सत्त्व निकालना हो, उसे रखते हैं। इस गड्ढे के ऊपर मिट्टी की बनी चकई, जिसमें पाँच छेद हों, रखते हैं। उसमें गड्ढे से लेकर जमीन तक एक तिरछी नाल (तिर्यङ्नाल) लगाते हैं, जो बाहर की तरफ कुछ ऊँची और गड्ढे के सामने को झुकी हो। इस कोष्ठी में कोकिल (अर्थात् कोयला) भरकर धौंकनी से फूँकते हैं। यह कोष्ठी मृदु और साध्य पदार्थों के सत्व-पातन के लिए उपयोगी है। (१०।४०–४४)

(३) गारकोष्ठी—यह १२ अंगुल गहरी और प्रादेशमाप (११ अंगुल) की लम्बी लोटे के समान आकार की होती है। इसका कण्ठ चार अंगुल ऊँचा होता है और इसमें एक वलय (या कड़ा) लगा होता है। इस वलय के ऊपर बहुत छेदोंवाली एक थाली ढक दी जाती है। इसमें शिखित्र (कोयला) डालकर वंकनाल (टेढ़ी नली) से फूँकते हैं। यह कोष्ठी धातुओं के मैल को दूर करने के लिए उपयोगी है। (१०।४५–४७)

(४) मूषाकोष्ठी—यह १२ अंगुल ऊँची और ४ अंगुल विस्तार की होती है। इसे तिरछा रखकर फूँकते हैं। मृदु पदार्थों के शोधन और सिद्ध रसों के विधान के लिए यह उपयोगी है।

पुट (calcination and roasting)—'रसरत्नसमुच्चय' के शब्दों में पुट शब्द की परिभाषा और पुट का उद्देश्य इस प्रकार दिया गया है—

रसादिद्रव्यपाकानां प्रमाणज्ञापनं पुटम्।
नेष्टो न्यूनाधिकः पाकः सुपाकं हितमौषधम्॥ (१०।५०)

अर्थात् रसादि द्रव्यों के पाक के प्रमाण का जानना ही पुट है। ओषधियाँ ठीक

से हितकर हों, इसके लिए यह आवश्यक है कि न वे अभीष्ट परिमाण से अधिक पकें, और न कम ही।

पुट देने से लोहे आदि धातुएँ निरुत्थ हो जाती हैं, उनमें और योग्यता बढ़ती जाती है, वे पानी पर तैरने लगती हैं, और अंगुलियों की रेखाओं में भरने योग्य हो जाती हैं—

लोहादेरपुनर्भावो गुणाधिक्यं ततोऽग्रतः।
अनप्सु मज्जनं रेखापूर्णता पुटतो भवेत्॥ (१०।५१)

इस विवरण का स्पष्ट अर्थ यह है कि पुट देने से धातुएँ उन पदार्थों में परिणत हो जाती हैं जिन्हें हम आज ऑक्साइड (oxide) कहते हैं, और पुट देने का इस समय की भाषा में नाम 'roasting' है। पत्थर जैसे गुरु पदार्थ पुट देने से हलके हो जाते हैं। पुट देने को हम कैलसिनेशन (calcination) भी कह सकते हैं, जैसे चूने के पत्थर से चूना प्राप्त होना, अर्थात् पुट देने पर कार्बोनेट भी ऑक्साइड में परिणत हो जाते हैं। पुट दी हुई धातुओं में जारण किए हुए पारे से भी अधिक गुण होता है—

पुटाद्ग्राव्णो लघुत्वं च शीघ्रव्याप्तिश्च दीपनम्।
जारितादपि सूतेन्द्राल्लोहानामधिको गुणः॥
यथाश्मनि विशेद्वह्निर्बहिस्थ पुटयोगतः।
चूर्णत्वाद्धि गुणाव्याप्तिस्तथा लोहेषु निश्चितम्॥ (१०।५२-५३)

'रसरत्नसमुच्चय' में दस प्रकार के पुटों का वर्णन है—महापुट, गजपुट, वाराहपुट, कुक्कुटपुट, कपोलपुट, गोबरपुट, भाण्डपुट, बालुकापुट, भूधरपुट और लावकपुट। पुटों के ये अधिकांश नाम पशु-पक्षियों पर रख दिए गए हैं। (१०।५४-६९)

महापुट में (२×२×२) हाथ परिमाण का गड्ढा खोदते हैं और उसमें १००० जंगली गोबर के कण्डे या उपले (वनोत्पल) भर देते हैं। पुट देने योग्य धातु को मूषा में भरते और ऊपर से बन्द कर देते हैं, और फिर मूषा को उपलों के बीच में रख देते हैं। ५०० वनोत्पल ऊपर से और चिन देते हैं। इस प्रकार रचकर आग लगाते हैं।

गजपुट में (१×१×१) हाथ परिमाण का गड्ढा खोदते हैं। इसे कण्ठपर्य्यन्त वनोत्पलों (उपलों) से भर देते हैं। फिर मूषा में धातु भर कर रखते हैं। जितने उपले नीचे थे, उसके आधे उपले और ऊपर चिनकर आग लगा देते हैं।

वाराहपुट में (१ × १ × १) बालिश्त परिमाण का गड्ढा खोदते हैं, और उपले आदि की चिनाई इत्यादि गजपुट के समान ही है। कुक्कुटपुट में गडढा (२ × २ × २) बालिश्त परिमाण का होता है। कपोतपुट में छोटा सा गडढा खोदते हैं, और आठ वनोत्पलों को आग दी जाती है। इस कपोतपुट में पारे के साथ बद्ध धातुओं (एमलगमों, amalgam) को भस्म किया जाता है।

गोबरपुट में (१ × १ × १) हाथ परिमाण का गड्ढा खोदते हैं और इसमें गोबर या तुषा की आग देते हैं। यह पुट पारे के भस्म के लिए उपयोगी है। 'रसरत्न-समुच्चय' में गोबर और गोमय शब्दों में भेद किया गया है—

गोष्ठान्तर्गोक्षुरक्षुण्णं शुष्कं चूर्णितगोमयम्।
गोबरं तत्समादिष्टं वरिष्ठं रससाधने॥ (१०।६३)

अर्थात् गोशाले में गौओं के खुरों से खुदे हुए, सूखे, चूर्ण किए गोमय को गोबर कहते हैं। यह पारद को सिद्ध करने के लिए उपयोगी है।

भाण्डपुट में बड़े मटके में तुषा (धान की भूसी) बीच तक भरते हैं, और फिर उसमें मूषा रखकर ऊपर तक फिर तुषा भर देते हैं और फिर आग पर चढ़ा देते हैं। बालुकापुट भी भाण्डपुट के समान ही है। इसमें तुषा के स्थान पर बालू का प्रयोग करते हैं।

भूधरपुट में दो अंगुल गहरा एक गड्ढा खोदते हैं, और ओषधि से भरी मूषा इस पर रखकर ऊपर से ओषधि की मात्रा के अनुसार कंडों का पहाड़ की तरह ढेर लगा देते हैं, और फिर आग जलाते हैं।

लावकपुट में चौरस भूमि के ऊपर १ तोले से ५ तोले धानों की भूसी अथवा गोबर के बीच में पुट देने योग्य वस्तु की मूषा को रखकर अग्नि देते हैं। यह पुट मृदु द्रव्यों की सिद्धि के लिए है।

तौल और माप—'रसरत्नसमुच्चय' में तौल और माप इस प्रकार दी हुई है--

६ अणु = १ त्रुटि	२ कोल = १ तोला
६ त्रुटि = १ लिक्षा	२ तोला = १ शुक्ति
६ लिक्षा = १ यूक	२ शुक्ति = १ पल
६ यूक = १ रज (कण)	२ पल = १ प्रसृत
६ रज = १ सर्षप	२ प्रसृत = १ कुडब (अंजलि)
६ सर्षप = १ यव	२ कुडब = १ मानिका
६ यव = १ गुञ्जा	२ मानिका = १ प्रस्थ
२ गुञ्जा = १ निष्पाव }	२ प्रस्थ = १ शुभ
३ गुञ्जा = १ वल्ल }	२ शुभ = १ पात्रक
२ वल्ल = १ माष	२ पात्रक = १ आढक
२ माष = १ धरण	४ आढक = १ द्रोण
२ धरण = १ निष्क	१०० पल = १ तुला }
२ निष्क = १ वटक (कोल)	१४० पल तुला = १ भार }

तोले के कुछ पर्य्याय कर्ष, निष्कचतुष्टय, उदुम्बर, पाणितल, सुवर्ण, कवलग्रह, अक्ष और विडालपदक हैं। पल के पर्य्याय मुष्टि, प्रकुञ्च और बिल्व हैं। द्रोण के पर्य्याय घटोन्मान, नल्वणार्मण और कुम्भक हैं। इन तौलों का उपयोग रसायन-

शालाओं में किया जाता था। रसार्णवग्रन्थ में भी इसी प्रकार का उल्लेख है। (११।१-१०)।

इस तौल में १ तोला = ६^{७} × ३ × २^{५} अणु = २६८७३८५६ अणु। क्या इतनी सूक्ष्म तौल हम अपनी रासायनिक तुलाओं द्वारा आज कर सकते हैं?

रस के अष्टादश संस्कार (operatious)—रसायनशालाओं में रसों को तैयार करने और शोधने के संबंध में १८ प्रकार की क्रियाएँ होती थीं, जिनका नाम संस्कार है। 'रसरत्नसमुच्चय' में इनका अधिकांश विस्तार पारे के सम्बन्ध में ही दिया है; पर इन्हीं प्रक्रियाओं का प्रयोग अन्य रसों के साथ भी किया जाता था।

१. स्वेदन	१०. चारण
२. मर्दन	११. गर्भद्रुति
३. मूर्छन	१२. बाह्यद्रुति
४. उत्थापन	१३. पारदजारण
५. पातन	१४. ग्रास
६. रोधन	१५. सारण
७. नियामन	१६. संक्रामण
८. संदीपन	१७. वेध
९. गगनभक्षण	१८. शरीरयोग

दोलायन्त्र में आधी ऊँचाई तक अम्ल और लवण घुला पानी रखते हैं, और इसे गरम करते हैं। पानी से निकली भापों में रस को पोटली में बाँध कर लटकाते हैं। इस प्रकार **स्वेदन** (sweating) होता है। खरल में घोंटने का नाम **मर्दन** (grinding) है। गृहकन्या (घीग्वार), त्रिफला और चित्रमूल के रस से प्रतिकृत करके पारा **मूर्च्छित** (congealing) किया जाता है। मूर्च्छित होने पर यह चपलता छोड़कर ठोस हो जाता है। मूर्च्छित रस को डमरूयंत्र में ऊपर उड़ाकर, और कांजी में धोकर निकालने को **उत्थापन** (animation) कहते हैं। **पातन** (distillation) तीन प्रकार का है—(क) ऊर्ध्वपातन (upward distillation)—डमरूयंत्र के नीचे के हिस्से में अशुद्ध रस रखते हैं। वह गरम होकर उड़ता है और यंत्र के ऊपर के भाग में जमा हो जाता है। (ख) अधःपातन (downward distillation)—शोधनीय पदार्थ को विद्याधरयंत्र, अधःपातनयंत्र या सोमानलयंत्र के ऊर्ध्व भाग में लेप देते हैं, और यंत्र के ऊपर वनोत्पलों से आग पहुँचाते हैं। नीचे रक्खे पात्र के जल में शुद्ध रस आ जाता है। (ग) तिर्यग्पातन (distillation per descensum)—यह दीपकयन्त्र में किया जाता है। शोधनीय रसों को एक ऐसे पात्र में रखते हैं, जिसमें एक लम्बी झुकी नली होती है। यह नली दूसरे पात्र के भीतर तक जाती है। दोनों पात्रों के मुख मिट्टी से बन्द कर दिए जाते हैं। एक पात्र को आग पर चढ़ाते और दूसरे पात्र को पानी के भीतर ठंडा रखते हैं। इस ठंढे पात्र में शुद्ध रस आ जाता है। स्त्री-रज या मूत्र से पारे का

रोधन (suppression) करते हैं, ऐसा करने पर पारा मुखकर (मुखवाला) हो जाता है। रोधन के बाद चपलत्व दोष दूर करने के लिए पारे का **नियामन** (subduing) करते हैं, इसके करने पर पारा बुभुक्षित हो जाता है। नियामन के बाद स्वेदन आदि द्वारा पारे का फिर **संदीपन** (stimulation) करते हैं। ये आठ संस्कार, ओषधियों को उत्तम बनाते हैं। शेष दस संस्कार ओषधियों के उपयोग में नहीं आते हैं, अतः उनका विस्तार 'रसरत्नसमुच्चय' ने नहीं दिया। (११।११-५३)

रसबन्ध (fixation of mercury)—पच्चीस प्रकार के रसबन्ध का उद्देश्य इन शब्दों में बताया है—

पंचविंशतिसंख्याकान् रसबन्धान्प्रचक्ष्महे।
येन येन हि चाञ्चल्यं दुर्ग्रहत्वं च नश्यति॥ (११।५४)

अर्थात् रसबन्ध से पारे की चंचलता और दुग्राह्यता नष्ट हो जाती है। पचीस प्रकार के रसबन्ध ये हैं—हठ, आरोट, आभास, क्रियाहीन, पिष्टिका, क्षार, खोट, पोट, कल्कबन्ध, कज्जलि, सजीव, निर्जीव, निर्बीज, सबीज, शृंखलाबन्ध, द्रुतिबन्ध, बालक, कुमार, तरुण, वृद्ध, मूर्तिबन्ध, जलबन्ध, अग्निबन्ध, सुसंस्कृतबंध और महाबन्ध। कोई-कोई आचार्य जलूकाबन्ध नाम का एक और भी बन्ध बताते हैं। इन बन्धों के विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

अन्य तंत्र रसग्रन्थ—'रसप्रकाशसुधाकर', 'रसकल्प', 'रसराजलक्ष्मी' और 'रसरत्नसमुच्चय' के अनन्तर जिन रसग्रन्थों की प्रधानता है, उनमें ये उल्लेखनीय हैं—

१. रसनक्षत्रमालिका—जो आश्विन कृष्ण पंचमी, सोमवार, संवत् १५५७ को मालवराजा के राजवैद्य मथनसिंह ने समाप्त की।

२. रसरत्नाकर—पार्वतीपुत्र सिद्ध नित्यनाथ ने इसकी रचना की। लेखक ने स्पष्ट कहा है कि जो ज्ञान शिव ने 'रसार्णव' में दिया, या 'दीपिका' के 'रसमंगल' में है, या जो नागार्जुन, सिद्धचर्पटि, कपालिक, वाग्भट, सुश्रुत आदि शास्त्रों में है, उनमें से रससंबंधी अनेक योग असाध्य हैं और कुछ दुर्लभ हैं। मैंने उनको निकाल दिया है। मैंने जैसा गुरुमुख से सीखा या अपने अनुभव से जो कुछ मैंने जाना, वह सब इस ग्रन्थ में लिखा है—**यद्यद् गुरुमुखाज्ज्ञातं स्वानुभूतं च यन्मया।**
तत्तल्लोकहितार्थाय प्रकटीक्रियतेऽधुना।

३. रसेन्द्रचिन्तामणि—यह संभवतः कालनाथ के शिष्य ढुंढुकनाथ द्वारा अथवा रामचन्द्र द्वारा लिखा गया था। इसने भी पारे के कई ऐसे योग दिए हैं, जिन्हें ग्रन्थकार ने स्वयं किए थे। इस ग्रन्थ में रसार्णव, नागार्जुन, गोविन्द, नित्यनाथ, सिद्धलक्ष्मीश्वर, त्रिविक्रमभट्ट और चक्रपाणि का उल्लेख है, जिससे इससे पहले की परंपरा का कुछ आभास मिल सकता है।

४. रससार—यह ग्रन्थ गोविन्दाचार्य्य का रचा हुआ है, जो शिव और पार्वती का भक्त था; पर इसने बौद्धों से प्राप्त रसज्ञान के प्रति भी कृतज्ञता प्रदर्शित की है—**एवं बौद्धा विजानन्ति भोटदेशनिवासिनः।** और **बौद्धमतं तथा ज्ञात्वा रससारः कृतो मया।**

अफीम का युग—रससार पहला ग्रन्थ है, जिसमें अफीम का वर्णन इस देश की पुस्तकों में आता है। अहिफेन (अफीम) को रससार के रचयिता ने चार प्रकार की विषैली मछलियों के फेन से उत्पन्न बताया है जिससे स्पष्ट है कि उसे अफीम की उत्पत्ति का पता न था—

समुद्रे चैव जायन्ते विषमत्स्याश्चतुर्विधाः।
तेभ्यः फेनं समुत्पन्नमहिफेनो चतुर्विधम्।
केचिद्वदन्ति सर्पाणां फेनं स्यादहिफेनकम्।
यथा—**धारणं श्वेतवर्णं च रक्तवर्णं च जारणम्।**
सारणं पीतवर्णं च कृष्णवर्णं च मारणम्।
विषविदुत्तमं फेनं युज्यते रसकर्मणि।

कुछ लोगों का कहना है कि अहिफेन साँप के फेन से निकलता है, इसलिए इसे ऐसा नाम दिया गया है (मालूम होता है कि अरबी के अफयून शब्द को किसी ने संस्कृत रूप 'अहिफेन' दे दिया है)। अफीम सफेद, लाल, पीली और काली चार रंगों की (जो क्रमशः धारण, जारण, सारण और मारण नाम की है) होती है और रसकर्म (पारद के मारने और बन्धन करने) में इसका उपयोग होता है।

यह कहना कठिन है कि अफीम हमारे देश में वस्तुतः कब आई। आढमल्ल ने शार्ङ्गधर की जो टीका की है, उसमें "षाषजः (खाखजः) क्षीरविशेषः" अर्थात् यह पोस्ते का दूधिया रस है—ऐसे शब्द आए हैं। 'शार्ङ्गधरसंग्रह' चरकादि आयुर्वेदग्रन्थों एवं तन्त्रग्रन्थों दोनों के समन्वय से बना है। इसे शार्ङ्गधर ने १४वीं शताब्दी में बनाया था। शार्ङ्गधर के पिता दामोदर और पितामह राघवदेव थे। राघवदेव की राजा हम्मीर के यहाँ बड़ी प्रतिष्ठा थी। सौगतसिंह भी हम्मीर के दरबार के वैद्य थे—

एषा सौगतसिंहनाम भिषजा लोके प्रकाशीकृता।
हम्मीराय महीभुजे × × × संभोजभाजे भृशम्।

५. रसेन्द्रसंग्रह—यह गोपालकृष्ण की रचना है जो 'रसमंजरी' और 'चन्द्रिका' एवं अन्य तन्त्रग्रन्थों से लिए गए उद्धरणों का संग्रह है। यह भस्मों द्वारा की गई चिकित्सा को प्रधान मानता है और कषाययोग प्रधान आयुर्वेद की पद्धति को गौण मानता है। इस पुस्तक की कई टीकाएँ हुईं और बंगाल के कविराजों में इस ग्रन्थ ने ख्याति प्राप्त की है। इसका एक टीकाकार रामसेन कवीन्द्रमणि मीरजाफर के दरबार का वैद्य था। रसेन्द्रचिन्तामणि ग्रन्थ का ही समकालीन रसेन्द्रसंग्रह है।

६. रसेन्द्रकल्पद्रुम—यह भी उसी काल का एक ग्रन्थ है। इसने रसार्णव, रसमंगल, रत्नाकर, रसामृत और रसरत्नसमुच्चय ग्रन्थों से विशेष सहायता प्राप्त की है।

७. धातुरत्नमाला—यह गुजरात के किसी देवदत्त का रचा गया १४वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। इसमें रौप्य (चाँदी), हेम, ताम्र, वंग, नाग और अयस् यह छः धातुएँ मानी गई हैं।

सोलहवीं शताब्दी के कुछ ग्रन्थ—१६वीं शताब्दी में गोआ आदि स्थानों में

पुर्तगाल के लोग आकर बस गए थे। उनके सम्पर्क से हमारे देश में कई यौन रोग प्रविष्ट हुए। यद्यपि उपदंश रोग का वर्णन चरक से लेकर शार्ङ्गधर तक के आचार्यों ने किया है; पर सिफिलिस (syphilis) रोग यहाँ न था। इस रोग के लिए कोई नया नाम भी चाहिए। रसप्रदीप इस युग का प्रतिनिधि-ग्रन्थ है। इसमें इस नये रोग का नाम फिरंगरोग रक्खा गया; क्योंकि यह फिरंगियों द्वारा (पुर्तगाल के लोगों द्वारा) लाया गया था। पुर्तगाल से आए हुए गोआवासियों ने चीनी व्यापारियों से इस रोग का इलाज सीखा। यह इलाज रसकपूर (calomel) और चोपचीनी (China root, Smilax China, Linn) द्वारा था। 'रसप्रदीप' में इस इलाज का वर्णन है।

गैरिकं रसकर्पूरम् उपला च पृथक्-पृथक्।
टंकमात्रं विनिष्पिष्य ताम्बूलीदलजैः रसैः॥
वट्यश्चतुर्दशस्तेषां कर्त्तव्या भिषगुत्तमैः।
सायं प्रातः समश्नीयात् एकैकां दिनसप्तकम्॥
सघृता योलिका देया भोजनार्थं निरन्तरम्।
फिरंगव्याधिनाशाय वटिकेयमनुत्तमा॥

अर्थात् पान के रस में गैरिक, रसकर्पूर और उपला (शक्कर) ये अलग-अलग एक-एक (४ माशा) लेकर पीस ले और १४ गोलियाँ बना ले, और एक-एक गोली सायं-प्रातः ७ दिन तक खावे। भोजन घी लगी गेहूँ की रोटी (योलिका) का हो तो फिरंग रोग दूर हो जायगा।

चोपचीनीभवं चूर्णं शाणमानं समाक्षिकम्।
फिरंगव्याधिनाशाय भक्षयेल्लवणं त्यजेत्॥

अर्थात् एक शाण (चार माशा) चोपचीनी और माक्षिक के सेवन से फिरंग-रोग दूर होता है।

कर्पूररस को 'फिरंगकरिकेशरी' कई आगे के ग्रन्थों में कहा गया है (योग-तरंगिणी, त्रिमल्लभट्टकृत कर्पूररसप्रकरण—बौद्धसर्वस्वात्)।

रसप्रदीपग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें 'शंखद्रावक' बनाने की विधि विस्तार से दी है। यह पहला स्थल है, जहाँ ऐसे खनिजाम्ल (mineral acid) का उल्लेख है जिसमें शंख भी घुल जावे। 'शंखद्रावरस' इस प्रकार बनता है—

स्फटिका नवसारश्च सुश्वेता च सुवर्चिका।
पृथक् दशपलोन्मानं गन्धकः पिचुसंमितः॥
चूर्णयित्वा क्षिपेद्भाण्डे मृन्मये मृद्विलेपिते।
तन्मुखं मुद्रयेत् सम्यक् मृद्भाण्डेनापरेण च॥
सरन्ध्रोदरकेणैव चुल्ल्यां तिर्यक् च धारयेत्।
अधः प्रज्वालयेद् वह्निं हठाद्यावद्रसः स्रवेत्॥

× × ×

कपर्दकाश्च लोहानां यस्मिन् क्षिप्ता गलन्ति हि॥

यह शंखद्रावरस फिटकिरी, नौसादर, शोरा और गन्धक मिलाकर मिट्टी के भाण्ड में गरम करके बनता है। नीचे अग्नि जलानी चाहिए और जितना रसस्राव हो, उसे संचित कर लेना चाहिए।

हमारे देश में सल्फ्यूरिक ऐसिड (गन्धक का तेजाब), शोरे का तेजाब और नमक का तेजाब कई शताब्दियों से बनाया जाता रहा है।[१४]

रसप्रदीप के समान ही लगभग उसी समय का एक और ग्रन्थ रसकौमुदी है। इसमें भी अफीम और 'शंखद्राव' रस का उल्लेख है। इस ग्रन्थ का रचयिता भी कोई माधव है।

भाव मिश्र का 'भावप्रकाश' संभवतः इस युग के ग्रन्थों में सबसे अधिक विस्तार का है। इसमें चरक, सुश्रुत, वाग्भट, हारीत, वृन्द और चक्रपाणि इन सबके उद्धरण हैं। एक दो अध्यायों में भस्मादि का भी वर्णन है और यह वर्णन रसप्रदीप, रसेन्द्रचिंतामणि, शार्ङ्गधर आदि के आधार पर लिया गया है। इस ग्रन्थ में फिरंगरोग और उसके उपचार रसकर्पूर और चोपचीनी का भी उल्लेख है। यह अकबर के समय का है। 'भाव मिश्र' उत्तर प्रदेश का निवासी था। मुसलमानों का प्रभाव भी ग्रन्थ पर स्पष्ट है।

'धातुक्रिया' नामक एक और ग्रन्थ इसी समय का है जो 'रुद्रयामलतंत्र' के अन्तर्गत है। इस ग्रन्थ में फिरंगदेश और रूमदेश के नाम आते हैं, जैसे ताम्र की उत्पत्ति के प्रकरण में—

> ताम्रोत्पत्तिश्च महता सुखेनैव प्रजायते।
> तेषां स्थानानि वक्ष्येऽहं याथातथ्येन च शृणु ॥
> नेपाले कामरूपे च वङ्गले मदनेश्वरे।
> गंगाद्वारे मलाद्रौ च म्लेच्छदेशे तथैव च ॥
> पावकाद्रौ जीर्णदुर्गे रूमदेशे फिरङ्गके।
> एतान्युदितस्थानानि सर्व्वपर्वतके सदा ॥ (१४३-१४५)

(१४) एन्सली (Ainslie) ने इन तीनों के सम्बन्ध में यह लिखा है—

'The Tamil physicians prepared their article (sulphuric acid) nearly in the same way that we do, viz., by burning sulphur with a small piece of nitre in strong earthen vessels.

Nitric acid: This acid the Hindus make a clumsy attempt at preparing in the following manner, which must not be rigidly criticized by the chemists of Europe: Take of saltpetre 20 parts, of alum 16 parts, and the acid liquid from the leaves and stem of the Bengal horsegram 18 parts. Mix and distil with an increasing heat till the whole of the acid is condensed in a receiver.

Muriatic acid: Take of common salt 8 parts, alum 6 parts and the acid liquid from the horsegram and distil etc."

'धातुक्रिया' ग्रन्थ में पहली बार 'दाहजल' शब्द सलफ्यूरिक ऐसिड के लिए मिलता है जो ताम्र को तुत्थ (तूतिया) में परिणत कर देता है—

ताम्रदाहजलैर्योगे जायते तुत्थकं शुभम्। (७१)

शुल्व (ताँबा) और खर्पर (calamina or zinc carbonate) के योग से पित्तल, और वंग तथा ताम्र के योग से कांस्य (काँसा) बनता है—

शुल्वंखर्परसंयोगे जायते पित्तलं शुभम्। (६३)
वंगताम्रसंयोगेन जायते तेन कांस्यकम्॥ (६५)

खर्पर शब्द यहाँ जस्ते के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जस्ते के अन्य पर्य्याय जासत्व, जरातीत, राजत, यशद या यशदायक, रूप्यभ्राता, चर्मक, खर्पर, रसक आदि हैं—

जासत्वं च जरातीतं राजतं यशदायकम्।
रूप्यभ्राता वरीयश्च त्रोटकं कोमलं लघु॥
चर्मकं खर्परं चैव रसकं रसवर्धकम्।
सदा पथ्यं बलोपेतं पीतरागं सुभस्मकम्॥ (५०-५१)

अन्य धातुओं और अधातुओं के पर्य्याय भी इस ग्रन्थ में दिए हैं।

यह ग्रन्थ शिव-पार्वती-संवाद के रूप में लिखा गया है। एक स्थान पर शिवजी पार्वती से कहते हैं कि कलियुग में मनुष्य स्वर्ण के लिए एक संकट ला देंगे (सुवर्णस्यैषा महती भीतिर्मानुषसंभवा--१२३); क्योंकि वे गन्धक और पारद की सहायता से नकली सोना बनाकर बहुत-सा द्रव्य उत्पन्न कर लेंगे--

तस्मात्तैर्बहुले द्रव्ये साध्यते गंधकी क्रिया।
अथवा पारदी चैव मम क्षोभानुवर्त्तिनी॥१२८॥

यह सुवर्णसाधिनी विद्या जानकर लोग प्राकृतिक स्वर्ण को पूछेंगे ही क्यों?

'सुवर्णतंत्र' ग्रन्थ में भी सोना बनाने के योग दिए हैं। इसमें शंखद्राव के अनेक भेद भी दिए हैं—लौहद्राव, ताम्रद्राव, शंखद्राव, हुन्ताल, दन्तद्राव। लोहद्राव में लोहा डालने पर शीघ्र घुल जाता है और अन्य द्रावों में अन्य पदार्थ।

क्षारों का निर्माण

दाहक क्षार (caustic alkali) **बनाना—**दाहद्रव, शंखद्राव आदि रस अम्ल या तेजाब हैं। हमारे देश में दाहक क्षार बनाने की प्रथा इनसे भी पुरानी है। सुश्रुत में क्षार (caustics) बनाने का विस्तृत वर्णन है। क्षारों का उपयोग घाव, मांस, त्वचादि काटने में होता था। ये क्षार श्वेत होने के कारण सौम्य (lunar) माने जाते थे।[१५] क्षार दो प्रकार के माने गए—१. प्रतिसारणीय या बाहर से काम आनेवाले, २. पानीय अर्थात् दवा के रूप में खाए जानेवाले। कुष्ठ, दाद, आदि

(१५) **शुक्लत्वात् सौम्यः तस्य सौम्यस्यापि सतो दहनपचनदारणादिशक्तिरविरुद्धा। ॥ सूत्र० ११।५ ॥**

अनेक रोगों में प्रतिसारणीय का उपयोग बताया गया है—मुख के अनेक रोगों (उपजिह्वा, अधिजिह्वा, उपकुश, दन्तुविदर्भ आदि) में भी। पानीय क्षार गुल्म, उदर, अजीर्णादि रोगों में उपयोगी है।[१६] यज्ञ के समान विधान द्वारा मन्त्रादि उच्चारण करते हुए इन क्षारों के बनाने का विस्तार दिया गया है (११।५-११)। वृक्षविशेषों को काटा जाता था, और ऐसे स्थान में जहाँ तेज हवा न हो, वहाँ इस लकड़ी का ढेर लगाते थे।[१७] इस ढेर पर कुछ चूने का पत्थर (सुधाशर्करा)- रखते थे और फिर ढेर में तिलनाल से आग सुलगा देते थे। जब आग बुझ जाती थी तब पौधे की राख अलग रखते थे और चूने के पत्थर की राख अर्थात् भस्मशर्करा अलग।[१८]

क्षारदहन करने के पश्चात् (दो भाग मुष्क भस्म और एक भाग कुटजादि भस्म, अथवा दोनों बराबर भाग), मिलित एक द्रोण भस्म लेकर ६ द्रोण पानी में मिला देना चाहिए। अथवा पूर्वोक्तविधि (दुन्दुभिक स्वनीयकल्प में कही विधि) से मूत्रों द्वारा २१ बार छानकर बड़े भारी कटाह (कढ़ाह) में धीरे-धीरे हिलाते हुए पकाना चाहिए। जब यह पकता हुआ क्षार निर्मल, तीक्ष्ण और पिच्छिल (चिकना) हो जाय, तब बड़े वस्त्र में इसे छानकर इसके दो भाग कर लेने चाहिए (एक क्षारोदक—पानीमें घुला और दूसरा नीचे बैठा भस्मकिट्ट अर्थात् अविलेय भाग)। इस क्षारोदक को फिर आग पर रख देना चाहिए और फिर इसमें से एक या डेढ़ कुडव निकाल लेना चाहिए। इसी समय कटशर्करा (खड़िया), भस्मशर्करा, क्षीरपाक (जलशुक्ति) और शंखनाभि (शंखग्रन्थि) को अंगारे के समान लाल करके लोहे के पात्र में रक्खे। फिर उसमें क्षारोदक मिलाकर पीसकर रक्खे (दो द्रोण क्षारोदक में आठ पल शंखनाभि आदि का तप्त चूर्ण मिलावे)। फिर कड़छी से हिलाता हुआ आग पर पकावे। इतना पकावे कि क्षार न अधिक सान्द्र (गाढ़ा) और न अधिक पतला रहे। जब इस प्रकार पाक तैयार हो जाय, तब आग पर से उतार कर लोहे के कुम्भ (jar) में डालकर मुख बन्द कर अच्छी तरह मूँदकर रख देना चाहिए। यह मध्यम क्षार है।[१९]

---

(१६) पानीयस्तु गरगुल्मोदराग्निसङ्गाजीर्णारोचकानाह शर्कराश्मर्याभ्यन्तरविद्रधि-क्रिमिविषार्शः सूपयुज्यते ॥ सूत्र० ११।८ ॥—सोडा बाइकार्बोनेट के समान इसके गुण हैं।

(१७) क्षार जिन वृक्षों की राख से बनता था, वे ये हैं—कुटजपलाशाश्वकर्णपारिभद्र-कविभीतकारग्वधतिल्वकार्कस्नुह्यपामार्गपाटलानक्तमालवृषकदलीचित्रकपूतीकेन्द्र-वृक्षास्फोताश्वमारकसप्तच्छदाग्निमन्थगुञ्जातसश्च कोशातकीः समूलफलपत्रशाखा-दहेत् ॥ सूत्र० ११।११ ॥

(१८) पाटयित्वा खण्डशः प्रकल्प्यावपाव्य निवाते देशे निचितिं कृत्वा सुधाशर्कराश्च प्रक्षिप्य तिलनालैरादीपयेत्। (सुधाशर्करा=limestone, सुधा=whitewash or mortar—आप्टे)—अथोपशान्तेऽग्नौ तद् भस्म पृथक् गृह्णीयाद् भस्म-शर्कराश्च ॥ सूत्र० ११।११ ॥

(१९) ततः क्षारद्रोणमुदकद्रोणैः षड्भिरालोड्य मूत्रैर्वा यथोक्तैरेकविंशतिकृत्वः परिस्राव्य, महति कटाहे शनैर्दर्व्याऽवघट्टयन् विपचेत्। स यदा भवत्यच्छो रक्त-

इसी मध्यम क्षार में यदि प्रतिवाप्य द्रव्यों का प्रक्षेप न करके पाक कर लिया जाय, तो यही मृदु क्षार बन जाता है (प्रतिवाप्य द्रव्य शंखनाभि आदि हैं) ।[२०]

यदि बहुत समय रक्खे रहने पर क्षार का बल क्षीण पड़ जाय तो इसमें पूर्वविधि से बनाया क्षारोदक मिलाकर, फिर पाक करना चाहिए। ऐसा करने से तीक्ष्णता आ जायगी ।[२१]

क्षार बनाने का इसी प्रकार का विवरण 'चक्रपाणि' और 'वाग्भट' में भी मिलता है।

शुक्रनीति में अग्निचूर्ण या बारूद (gun-powder) का वर्णन—भारतीय साहित्य में बन्दूक की बारूद का कहीं उल्लेख नहीं है। सबसे पहला विस्तृत उल्लेख 'शुक्रनीति' में पाया जाता है। यह उल्लेख ही यह बताता है कि 'शुक्रनीति' कोई पुराना ग्रन्थ नहीं है, और यह उस समय लिखा गया है जब देश में बाहर से बारूद का ज्ञान आ गया।[२२] शुक्रनीति में जिस प्रकार के नालिक और द्रावचूर्ण (दारू) का वर्णन दिया है, वह इस प्रकार है—

नालिकं द्विविधं ज्ञेयं बृहद्क्षुद्रविभेदतः।
तिर्यगूर्ध्वच्छिद्रमूलं नालं पंचवितस्तिकम् ॥१०२८॥
मूलाग्रयोर्लक्ष्यभेदी तिलबिंदुयुतं सदा।
यंत्राघाताग्निकृद्द्रावचूर्णमूलककर्णकम् ॥१०२९॥
सुकाष्ठोपांगबुध्नं च मध्यांगुलबिलांतरम्।
स्वान्तेग्निचूर्णसंधात्री शलाकासंयुतं दृढम् ॥१०३०॥
लघुनालिकमप्येतत्प्रधार्यं पत्तिसादिभिः।
यथा यथा तु त्वक्सारं यथा स्थूलबिलान्तरम्॥१०३१॥
यथा दीर्घं बृहद्गोलं दूरभेदि तथा तथा।
मूलकीलोद्गमाल्लक्ष्यसमसंधानभाजियत् ॥१०३२॥

स्तीक्ष्णः पिच्छिलश्च, तमादाय महति वस्त्रे परिस्राव्येतरं विभज्य पुनरग्नावधिश्रयेत्। तत एव क्षारोदकात् कुडवमध्यर्धं वाऽपनयेत्। ततः कटशर्करा-भस्मशर्कराक्षीरपाकशंखनाभीरग्निवर्णाः कृत्वाऽऽयसे पात्रे तस्मिन्नेव क्षारोदके निषिच्य पिष्ट्वा तेनैव द्विद्रोणेऽष्टपलसंमितं शंखनाभ्यादीनां प्रमाणं प्रतिवाप्य, सततमप्रमत्तश्चैनमवघट्टयन् विपचेत्। स यथा नातिसान्द्रो नातिद्रवश्च भवति तथा प्रयतेत। अथैनमागतपाकमवतार्यानुगुप्तमायसे कुम्भे संवृतमुखे निदध्यादेष मध्यमः ॥ सूत्र० ११।११ ॥

(२०) एष च वा प्रतीवापः पक्वः संव्यहिमो मृदुः ॥ १२ ॥

(२१) क्षीणबले तु क्षारोदकमावपेद्बलकरणार्थम् ॥ १५ ॥

(२२) Like this Nitiprakashika, the Sukraniti is a work of quite late date which mentions the use of gunpowder and is a work of no value whatever as evidence for early Indian usage or philosophy.—Keith, p. 464.

बृहन्नालिकसंज्ञं तत्काष्ठबुध्नविवर्जितम् ।
प्रवाह्यं शकटाद्यैस्तुस्सुयुक्तं विजयप्रदम् ॥१०३३॥(अध्याय ४)

बृहद् और क्षुद्र इस प्रकार के भेद से नालिक (guns) दो प्रकार के होते हैं। इनमें तिर्यक् नाल (तिरछी), ऊर्ध्वछिद्र और मूलनाल पाँच बालिश्त की होती हैं। ये बन्दूकें मूल लक्ष्यभेदी, और अग्र लक्ष्यभेदी होती हैं और अचूक निशाना लगाने के लिए इनमें एक तिल-बिन्दु होता है। यंत्र चलाने पर ये दगती हैं और इनमें द्रावचूर्ण (बारूद) पड़ा होता है। ये ऊपर से दृढ काष्ठ की और भीतर से एक अंगुल पोली होती हैं जिसमें भीतर अग्निचूर्ण (बारूद) पड़ा होता है, और इसमें एक दृढ शलाका भी होती है। इन लघुनालिकाओं को पैदल और सवार सैनिक लिए रहते हैं।

जितना बड़ा गोला दागना हो और यह गोला जितनी दूर जाना हो, उसी के अनुसार मोटी त्वचावाली और भीतर बड़े पोलवाली बृहन्नालिका (तोप) होनी चाहिए। इसमें काष्ठ के अंश कहीं नहीं होते हैं। यह विजयदायिनी तोप शकट (गाड़ी) पर चलती है।

सुवर्चिलवणात्पञ्चपलानिगंधकात्पलम्
अन्तर्धूमविपक्वार्कस्नुह्याद्यंगारतः पलम् ॥१०३४॥
शुद्धात्संग्राह्य संचूर्ण्य संमील्य प्रपुटेद्रसैः ।
स्नुह्यर्काणां रसो तस्य शोषयेदातपेन च ॥१०३५॥
पिष्ट्वाशर्करवच्चैतदग्निचूर्णं भवेत्खलु ।
सुवर्चि लवणाद्भागाः षड्वा चत्वार एव वा॥१०३६॥
नालास्त्रार्थाग्निचूर्णे तु गंधागारौ तु पूर्ववत् ।
गोलो लोहमयो गर्भः गुटिकः केवलोऽपि वा ॥१०३७॥

द्रावचूर्ण में पाँच पल शोरा (सुवर्चिलवण), एक पल गन्धक और एक पल आग से (या अन्तर्धूम से) पके अर्कस्नुही का कोयला (अंगार) होता है। इन सबको शुद्ध-शुद्ध लेकर पीस ले और केले के (या अर्कस्नुही के) रस में मिलाकर पुट दे और धूप में सुखा ले। यह अग्निचूर्ण पिसकर शक्कर ऐसा हो जाता है। शोरे को छः या चार भाग ले। नालास्त्र (तोप) के लिए जो अग्निचूर्ण है, उसमें भी गन्धक और कोयला पहले के समान ले। तोप में या तो लोहे का बड़ा गोला ले या उसमें बहुत-सी छोटी-छोटी गोलियाँ (गुटिक) ले।

सीसस्य लघुनालार्थे ह्यन्यधातुभवोऽपि वा ।
लोहसारमयं वापि नालास्त्रं त्वन्यधातुजम् ॥१०३८॥
नित्यसंमार्जनस्वच्छमस्त्रपातिभिरावृतम् ।
अंगारस्यैव गंधस्य सुवर्चिलवणस्य च ॥१०३९॥
शिलाया हरितालस्य तथा सीसमलस्य च ।
हिंगुलस्य तथा कांतरजसः कर्परस्य च ॥१०४०॥

जतोर्नील्याश्च सरलनिर्यासस्य तथैव च।
समन्यूनाधिकैरंशैरग्निचूर्णान्यनेकशः ॥१०४१॥
कल्पयंति च तद्विद्याश्चंद्रिकाभादिमंति च।
क्षिपंति चाग्निसंयोगाद्गोलं लक्ष्ये सुनालजम्॥१०४२॥

लघुनाल (बन्दूक) के लिए सीसा या अन्य धातु की गोली होती है और नालास्त्र (तोप) के लिए लोहसार या अन्य उचित धातु की। बन्दूक और तोप को नित्य माँजना और स्वच्छ रखना चाहिए और गोलंदाजों से युक्त रखना चाहिए।

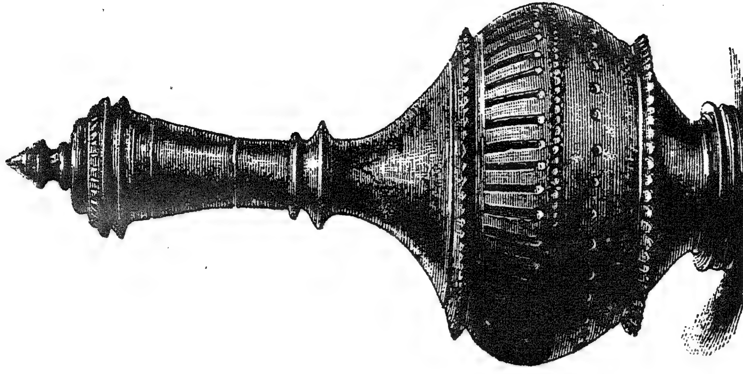
बारूद बनाने के लिए कोयला (अंगार), गन्धक, सुवर्चि (शीस) मनःशिला, हरिताल, सीस-मल, हिंगुल, कान्तरज, कर्पर (खपरिया), जतु (लाख), नील (देवदार), सरल निर्यास (गोंद), इन सबकी बराबर या न्यूनाधिक मात्रा का प्रयोग किया जाता है। बारूद बनानेवाले विशेषज्ञ चाँदनी के समान चमकनेवाले अनेक अग्निचूर्णों की कल्पना करते हैं एवं अग्निसंयोग द्वारा तोप के गोले को लक्ष्य तक फेंकते हैं।

उद्योगधन्धों के अन्तर्गत रसायनपरम्परा

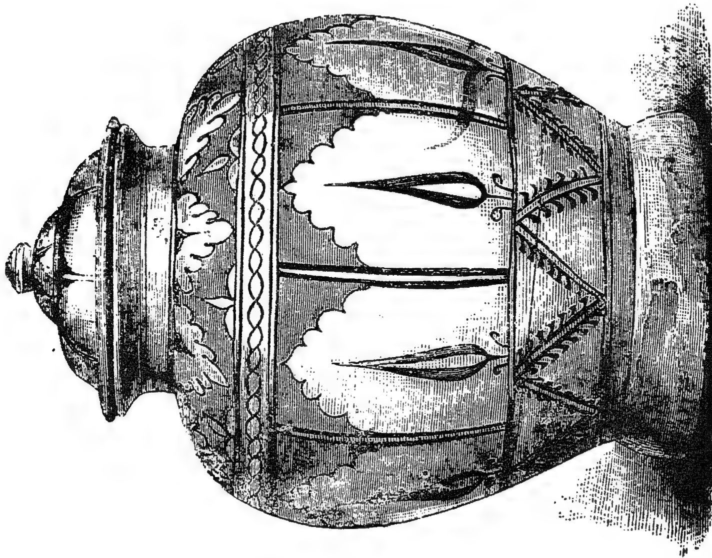
यद्यपि प्राचीन धन्धों के विस्तार का लेखबद्ध साहित्य हमारे पास नहीं है, फिर भी हमारे संग्रहालयों में ऐसे पदार्थ संगृहीत हैं जिनसे उन धन्धों का प्रमाण हमें मिलता है। इस सम्बन्ध में हम पाठकों का ध्यान 'जॉर्ज सी० ए० एम० बर्डवुड' की प्रसिद्ध पुस्तक 'दी इण्डस्ट्रियल आर्ट्स् ऑफ इण्डिया' की ओर आकर्षित कराना चाहते हैं। यह पुस्तक सन् १८८० में चैपमन एण्ड हौल द्वारा प्रकाशित की गई थी। इस पुस्तक के दूसरे खण्ड 'मास्टर हैंडिक्राफ्ट्स् ऑफ इण्डिया' में अनेक विषयों का सचित्र विवरण है। इस पुस्तक के आधार पर हम कुछ विवरण नीचे देंगे।

(१) सोने की सबसे पुरानी प्राप्त चीज एक कैस्कैट (रत्नपेटिका) है जो बौद्धकालीन है और इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी में सुरक्षित है। (चित्र १) सन् १८४० के लगभग यह मैसन (Masson) महोदय को काबुल उपत्यका में जलालाबाद के पास मिली थी। विल्सन के सन् १८४१ के एरियाना-इण्डिका में इसका विस्तृत वर्णन है। यह विल्सन के मतानुसार ५० वर्ष ई० से पूर्व अर्थात् विक्रम की समकालीन है।[२३] इसका उल्लेखनीय वर्णन नीचे टिप्पणी में दिया जाता है।

(२३) The tope in which it was found is known as No.2 of Bimaran. Dr. Honigberger first opened this monument, but abandoned it, having been forced to hastily return to Kabul. Mr. Masson continued Honigberger's pursuit, and in the centre of the tope, discovered a small apartment, constructed as usual, of squares of slate, in which were found several most valuable relics. One of these was a good sized globular vase of steatite, with which, its carved cover or lid, was encircled with inscriptions, scratched



चित्र ७ (ख)—मदुरा का बना मिट्टी का पुराना पात्र। (पृष्ठ २१३)



चित्र ७ (क)—दिल्ली का बहुत पुराना बना मिट्टी का बर्तन। (पृष्ठ २१३)

(२) बर्डवुड ने चाँदी के एक प्राचीन पात्र का उल्लेख किया है (चित्र २), जिसका व्यास ९ इञ्च, गहराई १$\frac{1}{2}$ इञ्च और तौल २९ औंस से कुछ अधिक है। यह बदख्शाँ के मीरों की सम्पत्ति थी, जो सिकन्दर के वंशज थे। यह संवत् ४००-५०० वि० का रहा होगा। बर्डवुड की सम्मति है कि पंजाब में सोने और चाँदी का काम कुशलतापूर्वक होता आया है।[२४] कश्मीर की चाँदी की सुराहियाँ आदि प्राचीनकाल से महत्व पाती रही हैं।

लखनऊ की सुराहियाँ भी कश्मीर की सुराहियों की समता कर सकती थीं।[२५] चाँदी और सोने की थालियों के लिए ढाका, कलकत्ता और चटगाँव भी अबतक प्रसिद्ध रहा। मध्य-भारत में बाँदा ज़िला सभी प्रकार के धातुओं के काम के लिए प्रसिद्ध था। कच्छ और गुजरात भी चाँदी और सोने के बर्तनों के लिए प्रसिद्ध और उल्लेखनीय हैं। बर्डवुड का कहना है कि मद्रास में सोने और चाँदी का काम हर जगह ही बड़ी कुशलता से किया जाता है। मद्रास के समान ही धार्मिक कृत्यों के लिए सोने की प्रतिमाएँ समस्त देश में बनाई जाती रही हैं। रघुनाथराव (राघोबा) ने दो ब्राह्मण इंग्लैण्ड भेजे थे। जब सन् १७८० ई० में वे वापिस आए तो उनके प्रायश्चित्त के लिए शुद्ध सोने की एक विशाल 'योनि' बनाई गई, जिसमें होकर वे निकाले गए। ऐसा करने के अनन्तर वे जाति में सम्मिलित किए जा सके। लगभग उसी समय महाराजा ट्रावनकोर ने युद्ध में की गई हत्या का प्रायश्चित्त किया—सोने की एक बड़ी-सी गाय बनाकर उसके उदर में राजा को कुछ समय तक रक्खा गया, तथा उसका फिर 'पुनर्जन्म' हुआ और इस प्रकार वह पूर्व पापों से मुक्त समझा गया। राजसिंहासन पर बैठते समय यह प्रक्रिया ट्रावनकोर के सभी राजाओं को करनी पड़ती रही है।

---

with a style, in Bactro-Pali-characters. On removing the lid, the vase was found to contain a little fine mould, mixed up with burnt pearls, sapphire beads, etc., and this casket of pure gold, which was also filled with burnt pearls, and beads of sapphire, agate and crystal and burnt coral, and thirty small circular ornaments of gold, and a metallic plate, apparently belonging to a seal engraved with a seated figure. By the side of the vase were found four copper coins, in excellent preservation, having been deposited in the tope freshly minted. They were the most useful portion of the relics, for they enabled Prof. H. H. Wilson to assign the monument to one of the Azes dynasty of Graeco-Barbaric kings who ruled in this part of India about 50 B. C. (p. 145).

(२४) The Punjab has ever maintained a high reputation for the excellence of its gold and silver work. (p. 149).

(२५) The sliver sarais made at Lucknow are very like those of Kashmere. (p. 150).

(३) **पीतल, ताँबे और टीन के काम**—भारतवर्ष में गृहस्थी के सभी बर्तन इन धातुओं के बनते रहे हैं। सन् १८५७ में मेजर हे (Hay) ने कुण्डला (कूलू) में एक बौद्ध-गुफा में दबा हुआ ताँबे का एक लोटा पाया जो सन् २००-३०० ई० का प्रतीत होता है। यह लोटा आजकल के लोटों से मिलता-जुलता है। इसके ऊपर गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली चित्रकारी भी है। (चित्र ३)

सुलतानगंज में पाई गई बुद्ध की ताम्र-मूर्ति (जो बर्मिंघम के किसी व्यक्ति के पास चली गई है) ताँबे की बनी सबसे बड़ी प्रतिमा है। दिल्ली को कुतुबमीनार के निकट बना लोहस्तम्भ भारतवर्ष के लोह-निर्माण-कौशल का जीता-जागता नमूना है। यह २३ फुट ८ इञ्च ऊँचा, नीचे की ओर १६·४ इञ्च व्यास का और ऊपर चलकर १२·०५ इञ्च व्यास का है। यह लगभग ४०० ई० में बनाया गया था, और आज १५५० वर्ष बाद भी उतना ही दृढ बना हुआ है तथा धूप-पानी में बिलकुल खुला रहने पर भी इसमें जंग कहीं नहीं लगा है।[२६] अहमदाबाद में शाह आलम के मकबरे के फाटक सुन्दर पीतल के बने हुए हैं और भारतीय कारीगरी के अद्‌भुत नमूने हैं। करनाल, अमृतसर, लाहौर, लुधियाना, जालंधर आदि स्थानों में धातुओं का काम कुशलता से होता रहा है। कश्मीर में ताँबे के बर्तनों पर राँगे की कलई बड़ी सुन्दरता से शताब्दियों से की जाती रही है। मुरादाबाद के कलई के बर्तन (पीतल पर राँगे की कलई) सदा से प्रसिद्ध रहे हैं। बनारस में धातु के बर्तनों का काम बहुत पुराना है। यहाँ पीतल में सोना, चाँदी, लोहा, राँगा, सीसा और पारा मिलाकर अष्ट-धातु तैयार की जाती है (पीतल में ताँबा और जस्ता होता है) और यह धातु-मिश्रण बड़ा पवित्र समझा जाता रहा है। पारा और राँगा के मिश्रण से बना शिवलिंग बड़ा पवित्र माना जाता है। बर्दवान और मिदनापुर में काँसे के बर्तन अच्छे बनते आए हैं। नरसिंहपुर (मध्यप्रान्त) के तेंदूखेरा में बहुत सुन्दर इस्पात बनती रही है। नासिक, पूना, अहमदाबाद आदि स्थलों में भी सभी प्रकार की धातुओं का काम होता रहा है। तंजोर के बर्तन सदा प्रसिद्ध रहे हैं।

(४) **कुफ्त और बीदरी का काम** (damascened work)—कलई मुलम्मे से नहीं, बल्कि एक धातु के तार को दूसरी धातु पर पीटकर लगाने का नाम कुफ्त है। यह प्रथा दमस्कस (Damascus) नगर के नाम पर अंग्रेजी में डेमेसेनिंग (damascening) कहलाती है और पूर्वी देशों की ही प्रथा है। कश्मीर, गुजरात,

---

(२६) Mr. Fergusson assigns to it the mean date of A D. 400, and observes that it opens our eyes to an unsuspected state of affairs to find the Hindus at that age capable of forging a bar of iron larger than any that has been forged in Europe up to a late date, and not frequently, even now. After an exposure of fourteen centuries, it is still unrusted, and the capital and inscription are as clear and as sharp as when the pillar was first erected (p.155).

सियालकोट और निजाम राज्य में यह विशेषतया होती है। जब चाँदी का कुफ्त करना होता है, तो इसी का नाम बीदरी हो जाता है (बीदर नगर के नाम पर)। कभी-कभी इस्पात के प्लेट पर नक्काशी करके और फिर उसपर सोने का पत्र पीटकर भी कुफ्त करते हैं। बिहार के पूर्निया और भागलपुर में भी यह कार्य कुशलता से होता है। इन सबकी नक्काशी और चित्रकारी देखने योग्य होती है।

(५) **एनेमेल या मीना**—एनेमेल की प्रथा संसार-भर में महत्त्व की समझी जाती है और यह काम जयपुर में अति प्रारम्भिक समय से होता आ रहा है।[२७] महाराज एडवर्ड जब इस देश में प्रिन्स ऑफ वेल्स के रूप में आए थे, तब उन्हें (चित्र ३) एनेमेल किया हुआ जो थाल भेंट किया गया था, उसके बनाने में चार बरस लगे थे। लेडी मेयो के पास इस कला का बना हुआ एक चम्मच और प्याला था। एण्डरसन को जो इत्रदान मिला था, वह साउथ केनसिंगटन म्यूज़ियम में सुरक्षित है और जयपुर की कुशलता का स्मारक है। इण्डिया म्यूज़ियम में कलमदान, हुक्का (चित्र ४) आदि अनेक चीजें इस प्रकार के कामों की रक्खी हैं।

(६) **काँच का काम—चूड़ियाँ**—रायपुर की मनिहारिनें बहुत समय से प्रसिद्ध हैं। काँच के आभूषण होशियारपुर, मुल्तान, लाहौर, पटियाला, बाँदा, डलमी, लखनऊ, बम्बई, काठियावाड़, मैसूर आदि में बनते रहे हैं। काँच का गंगाजमनी नगीना (बिजनौर ज़िला) प्रसिद्ध रहा है।

(७) **अस्त्र-शस्त्र और इस्पात**—निर्मल से २० मील की दूरी पर जो लोहे का खनिज मिलता है, उससे दमस्कस-इस्पात बहुत दिनों से बनती चली आ रही है। इस्पात बनाने का विवरण बर्डवुड के शब्दों में नीचे दिया गया है।[२८] गोदावरी की दिमदुर्ती खानों से भी यह इस्पात बनाया जाता रहा है।

भारतवर्ष के अस्त्रशस्त्रों पर भी चित्रकारी की जाती थी। लाहौर, स्यालकोट,

---

(२७) Enamelling is the master art craft of the world, and the enamels of Jaipur in Rajputana rank before all others, and are of matchless perfection. The Jaipur enamelling is champleve (in which pattern is cut out of the metal itself). (p. 165)

(२८) The Dimdurti mines on the Godawari were also another source of Damascus steel, the mines here being mere holes dug through the thin granitic soil, from which the ore is detached by means of small iron crowbars. The iron ore is still further separated from its granitic or quartzy matrix by washing and the sand thus obtained is still manufactured into Damascus Steel at Kona Samundram near Dimdurti. The sand is melted with charcoal, without any flux and is obtained at once in a perfectly tough and malleable state, superior to any English iron, or even the best Swedish... In the manufacture of the best steel, three-fourths of Samundram ore is used, and one-fourth of Indore, which is a peroxide of iron. (p. 170)

कश्मीर, मुँगेर, चिटगाँव, पिहानी (सीतापुर जिला), मध्यप्रान्त के अनेक स्थान, मैसूर, गोदावरी प्रान्त आदि में इस्पात की तलवारें, चाकू, भाला आदि बनते रहे हैं। सातारा और कोल्हापुर में शिवाजी के अस्त्र-शस्त्र अबतक सुरक्षित रक्खे हुए हैं और वे पवित्र माने जाते हैं।[२९] उसकी भवानी नामक तलवार की बराबर पूजा होती है। एगरटन ने इण्डिया ऑफिस के अस्त्रशस्त्रागार की एक सूची तैयार की—"Hand-book of Indian Arms." इसमें उसने साँची के लेखों के आधार पर सन् २५० ई० से पूर्व के अस्त्रों के चित्र दिए हैं। उदयगिरि और अजन्ता की चित्रकारी में (सन् ४००), भुवनेश्वर के मन्दिर के चित्रों में (सन् ६५०), सैत्रोन (राजपूताना) इत्यादि के मूर्ति-चित्रों में (सन् ११००), जो अस्त्र-शस्त्र चित्रित हैं, उनके आधार पर उसने पूर्ण विवरण दिया है और अस्त्रों के बनाने की विधि भी दी है। खेद है कि मद्रास-सरकार ने अपने प्रान्त के पुराने अस्त्र-शस्त्रों को धातु की लालच में गलवा डाला, और इसलिए अब हमारे अजायबघरों में इस प्रान्त के अस्त्र-शस्त्र देखने को नहीं मिलते।[३०] (चित्र ५)

(८) **राजसी ठाठ के सामान**—चँवर, छत्र, मोरछल, सिंहासन, हौदे, हाथी और घोड़ों की झूलें, शामियाने, तोरण आदि ठाठबाट के सामान प्राचीन प्रथा के अनुसार आज तक राजघरानों और महन्तों के यहाँ चले आ रहे हैं। बहुत-सी शृंगार-सामग्रियाँ कई पीढ़ियों पुरानी हैं। आईने-अकबरी में राज्य-चिह्नों का औरंग, छत्र, सायेबान, अलम, नक्कारे आदि का वर्णन है। मुहर्रम के जलूसों की शृंगार-सामग्री का उल्लेख हेरक्लोट (Herklot) की पुस्तक कानून-इस्लाम (१८३२) में पाया जाता है। सन् १८७५ में राजेन्द्रलाल मित्र ने एक पुस्तक 'एंटीक्विटीज ऑफ उड़ीसा' लिखी थी, जिसमें 'युक्तिकलापतरु' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। इस ग्रंथ में तरह-तरह के छत्रों के बनाने का विस्तृत विधान है—जैसे (चित्र ६) प्रसाद-छत्र (जो बाँस और लकड़ी और लाल कपड़े का बनता है। यह राजाओं को भेंट देने योग्य है), प्रताप-छत्र (नीले कपड़े पर सुनहरे किनारे का), कनक-दण्ड छत्र (चंदन की डंडी, और उसपर स्वर्ण-कलश) और नव दंड छत्र (राज्याभिषेकादि महत्वपूर्ण अवसरों के लिए), यह स्वर्ण और रत्न-जटित होता है।

(२९) Every relic of his, his sword, daggers and seal, and the wag-nak or "tigerclaw" with which he foully assassinated Afzal Khan, have all been religiously preserved at Satara and Kolhapur ever since his death in 1680. (p. 174)

(३०) In his preface, Mr. Egerton expresses a regret, in which every one will concur,.........that the Government of Madras should have recently allowed the old historical weapons from the armouries of Tanjore and Madras to be broken up and sold for old metal. This act of vandalism is all the more to be deplored, as neither the tower, nor the India museum collections are, as Mr. Egerton points out, rich in Southern Indian arms. (p. 178)

(९) **बर्तनों को रँगना और चमकाना**—भारत के सभी प्रान्तों में मिट्टी के बर्तन बनते रहे हैं। इनको पकाने की विधि भी स्थल-स्थल पर अलग-अलग है। जैसी लकड़ी जहाँ मिली, वहाँ वैसा ही व्यवहार किया गया। इन बर्तनों पर चमक लाने के लिए दो चीजों का उपयोग होता रहा है—काँच और सिक्का। पंजाब में दो तरह के काँचों का प्रयोग होता रहा है—अंग्रेजी काँची और देशी काँची। (चित्र ७)

अंग्रेजी काँची में पचीस भाग संग-ए-सफेद, छः भाग सज्जी, तीन भाग सोहाग-तेलिया, और एक भाग नौसादर लिया जाता है। सब चीजों को महीन पीसा जाता है और फिर छानकर थोड़े से पानी के साथ गूँधा जाता है तथा नारंगी के आकार की सफेद गेंद तैयार की जाती है। इन्हें फिर गरम करके लाल कर लिया जाता है। फिर ठंढा करके पीसते हैं और कलमी शोरा मिला कर भट्ठी पर गलाते हैं। ऊपर उठा हुआ भाग अलग कर लेते हैं और काम में लाते हैं। (चित्र ८)

देशी काँची में भी संग-ए-सफेद, सोडा और सुहागा काम में लाते हैं।

चार तरह के सिक्के काम में आते हैं—सिक्का सफेद (white oxide), सिक्का जर्द, सिक्का शर्बती (litharge) और सिक्का लाल (red oxide)। सीसे में आधा भाग राँगा मिलाकर सिक्का सफेद बनाते हैं, सिक्के जर्द में सीसे को चौथाई भाग राँगा से अपचयित करते हैं, सिक्का शर्बती में राँगा की जगह जस्ता लेते हैं और सिक्का लाल बनाने के लिए सीसे को हवा में उपचयित या ऑक्सिडाइज़ करते हैं।

काँच और सिक्का सफेद मिलाकर सफेद रंग तैयार करते हैं। दक्षिण भारत में रेत या कोबल्ट का काला ऑक्साइड (rita or zaffre) मिलता है। इसे गरम करके सफेद रंग के साथ पीसकर नीला रंग तैयार करते हैं। इस तरह इन्हें ताँबे के साथ मिलाकर हरा रंग भी तैयार करते हैं। इनके विस्तार के लिए बर्डवुड महोदय की पुस्तक (पृ० ३०७-३१२) देखनी चाहिए।

हमने यहाँ कुछ थोड़े धन्धों का ही दिग्दर्शन कराया है। सुवर्णकारी सम्बन्धी रसायन का विस्तृत उल्लेख 'सर प्रफुल्लचन्द्रराय' की 'हिन्दू केमिस्ट्री' में देखा जा सकता है। १९वीं शताब्दी के अन्त से इस देश में पाश्चात्य विधियों का समावेश हुआ है। पाश्चात्य देश के विश्वविद्यालयों में रसायनशास्त्र की नये ढंग से शिक्षा आरम्भ हुई है। लगभग सभी चीजों के बड़े-बड़े कारखाने देश में खुल गए हैं, जिनके फलस्वरूप देशी विधियों का लोप होता जा रहा है। विदेशों से तैयार रंग, ओषधियाँ और जीवन की अन्य आवश्यक सामग्री हमारे बाजारों में आने लगी हैं। फिर भी अब भी बहुत से प्राचीन धन्धे देश में पूर्ववत् विद्यमान हैं। पाश्चात्य ढंग पर खुले कारखानों का इतिहास केवल गत पचास वर्षों का इतिहास है; पर इतने थोड़े-से समय में ही देश की काया पलट गई है और जो पद्धतियाँ सहस्रों वर्षों से प्रचलित थीं, वे बहुत शीघ्र नष्ट होती जा रही हैं।

पञ्चम अध्याय

आयुर्वेद की परम्परा—ओषधियाँ और वनस्पतियाँ

मनुष्य का अवतार कर्म और भोग दोनों के लिए हुआ। भोग के साथ मनुष्य को व्याधि और रोग का भी अभिशाप मिला। सबसे बड़ी व्याधि मृत्यु थी, जिससे कोई मर्त्य भी न बच सका। मनुष्य ने अपने को अमर बनाने की चेष्टा की, और उसकी यह चेष्टा आज भी उतनी ही जागरूक है जितनी पहले किसी समय थी। अति प्राचीन मानव के समान आज के भी मानव के हृदय में एक ऐसी सुप्त आशा है कि संभवतः वह अपने को जरा और व्याधि से मुक्त करके अमर बना सकेगा। प्रत्येक युग में ऐसे व्यक्ति रहे जिन्होंने व्याधिग्रस्त रोगियों को सान्त्वना प्रदान की और यह प्रयास किया कि मानव-जाति रोग से उन्मुक्त हो सके। रोगों से युद्ध करने के अनेक उपाय किए गए और उन रोगों के कारणों को समझने का प्रयत्न किया गया। हम यह तो नहीं कह सकते कि इस प्रयत्न के कारण रोग लुप्त हो गए या उनकी भयंकरता कम हो गई; पर इतना तो स्पष्ट है कि इस प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य ने अनेक आविष्कार और प्रयोग किए और उसने प्राकृतिक पदार्थों का निरीक्षण आरम्भ किया। दूरस्थ और दुर्गम स्थलों में प्राप्त खनिज, वानस्पतिक और जान्तव सम्पत्ति का निरीक्षण और विश्लेषण किया गया तथा पारस्परिक सम्मिश्रण से अनेक योग तैयार किए गए जिनके आधार पर किसी-न-किसी रोग को दूर किया जाना सम्भव माना गया। समाज के ऐश्वर्य की जैसे-जैसे अभिवृद्धि हुई, उसका घात-प्रतिघात मनुष्य के शरीर के साथ भी हुआ। कुछ रोगों का शमन हुआ, तो उस शमन के साथ-साथ कुछ अन्य रोगों का प्रादुर्भाव हुआ और यह क्रम आजतक बराबर चला आ रहा है।

अथर्ववेद में रोगों का उल्लेख

रोगों और उसके उपचारों से हमारा परिचय बहुत पुराना है। 'अथर्ववेद' में रोगों का अनेक स्थलों पर विस्तृत उल्लेख है। इस विवरण के सम्बन्ध में प्रतीक रूप से हम कुछ उदाहरण देंगे—

यो अंग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः।
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्॥
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि॥ ६।१२७।३॥

अर्थात् हम तुम्हारे उन रोगों को अलग किए देते हैं जो तुम्हारे अंगों को, कर्णों को, आँखों को, विद्रध (abscess) और हृदय को अत्यन्त कष्ट देते हैं।

इसी प्रकार अथर्ववेद के नवें काण्ड का चौदहवाँ सूक्त रोगों का विस्तृत वर्णन देता है। इसमें निम्नलिखित रोगों की ओर संकेत है—

शीर्षक्ति और शीर्षामय	—	सिरदर्द
कर्णशूल	—	कान का दर्द
शीर्षण्य-रोग	—	माथे का रोग
विलोहित	—	erysipelas (जिसमें चेहरा लाल पड़ जाता है)
यक्ष्मा	—	क्षयरोग, तपेदिक
अंगभेद	—	शरीर में ऐंठन या पीड़ा
अंगज्वर	—	बुखार

'यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम्। तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥' (९।८।६)।

(ऐसा रोग जिसे देखकर मनुष्य काँपने लगता है और प्रत्येक शरद ऋतु में आनेवाले ज्वर को बाहर निकालते हैं।) सम्भवतः यह मलेरिया ज्वर हो।

'य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके। ९।८।७।

(रोग जो जाँघों तक फैल गया है)

यदि कामादपकामाद्धृदयाज्जायते परि। ९।८।८। (रोग जो काम, अपकाम और हृदयसे उत्पन्न होता है)।

हरिमाणं ते अंगेभ्योऽप्वामन्तरोदरात् (हरिमा अर्थात् पीलिया रोग और पेट के भीतर का शूल) ९।८।९॥

या गुदाँ अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च (जो गुदा और अँतड़ियों में फैल गया है, ऐसा रोग) ॥९।८।१७॥

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः। अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥ ९।८।२१ ॥ (पैर, घुटने, श्रोणि या नितम्ब, अनूक या रीढ़ की हड्डी, गले (आगे और पीछे की गर्दन) आदि के रोग)।

अथर्ववेद चिकित्साशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। इसे 'आंगिरस' या 'भिषग्वेद' भी कहते हैं। अथर्ववेद में एक मंत्र है—आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥ (११।४।१६) अर्थात् हे प्राण, जब तुम प्रेरणा देते हो तो आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मानवी ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। अंगिरस का अर्थ 'आंगिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां हि यद्रसः' (छान्दोग्य, १।२।१०) अर्थात् अंगों का रस किया गया है। अथर्ववेदमें खाँसी के शमन का एक सूक्त (६।१०५) है—एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम्। एक सूक्त कुष्ठ-तक्म या ज्वर के दूर करने का है जो कुष्ठ ओषधि (costus speciosus or aralicus) से दूर होता है—कुष्ठे हि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः (५।४।१)। इस ओषधि के प्रभाव पर एक पूरा सूक्त (१९।३९) है। यह ओषधि हिमस्थानों पर सम्भवतः पाई जाती है। इसके दो नाम नद्यमार (नघमार) और नद्यारिष हैं (१९।३९।२)। इसकी माता जीवला है और पिता जीवन्त (या जीवल) (१९।३९।३)। ओषधियों द्वारा केश बढ़ाने की भी एक ओषधि है। कहा जाता है कि जमदग्नि ने अपनी पुत्री के केश बढ़ाने के लिए इसका उपयोग किया; और

वीतहव्य इसे असित के घर से लाया—यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् । तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः (६।१३७।१) ॥ इससे काले (असित) बाल सिर पर बढ़ते हैं—केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि (६।१३७।२) ।

पुरुषों में क्लीबत्व बढ़ाने के लिए भी वनस्पति-प्रयोग बताया गया है—"त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे । इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥(६।१३८।१) ।

गण्डमाला दूर करने के लिए अथर्ववेद में दो सूक्त हैं (७।७४) और (७।७६)—ये ग्रीवा में निकले हों या उपपक्ष में—या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः (७।७६।२) । वनस्पति-प्रयोग से सफेद कुष्ठ (कोढ़) या किलास रोग दूर करने की ओर संकेत है—नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च । इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ (१।२३।१) । हे ओषधि, तू रात को उत्पन्न हुई है, तेरा रंग राम (श्याम), कृष्ण (काला) और असिक्नी (अश्वेत) है । इसलिए हे 'रजनी' ओषधि ! तू इसके कोढ़ के सफेद दागों को फिर से रंगकर काला कर दे । कोढ़ दूर करनेवाली ओषधि का नाम इस मन्त्र में 'रजनी' है ।

रुधिर के प्रवाह को ले जानेवाली दोनों प्रकार की नसों का वर्णन है—धमनी (arteries) और हिरा (veins)—शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् (१।१७।३) । शल्यचिकित्सा में रक्तस्राव के समय इन्हें बाँध देने का उल्लेख एक सूक्त (१।१७) में है ।

सूर्य की रश्मियों से कृमियों के नष्ट होने की ओर भी एक मन्त्र में अच्छा संकेत है—

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥२।३२।१॥

रोग के कृमि अँतड़ियों में, मलस्थानों में, पसलियों में और अन्यत्र शरीर में रहते हैं (२।३१।४) । कृमि पर्वत, वन, ओषधि, पशु और जल सबमें हैं—ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः (२।३१।५) । ये दृष्ट, अदृष्ट, कुरूरु, अल्गण्डु, छलुन, अवस्कव, व्यध्वर आदि अनेक जातियों के हैं (२।३१।२,४) । इन कृमियों में विष होता है—भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः (२।३२।६) । विष और इसके दूर करने के सम्बन्ध में अथर्ववेदमें दो प्रसिद्ध सूक्त (४।६ और ४।७) हैं ।

अथर्ववेद में जहाँ इतने रोगों का उल्लेख है, वहाँ साथ ही साथ अनेक ओषधियों का भी विवरण है । अपामार्ग वनस्पति पर तीन विशेष सूक्त हैं (४।१७ से १९ तक) । इसे ओषधियों में शिरोमणि कहा गया है—ईशानां त्वा भेषजानाम् (४।१७।१) । यह भूख, प्यास को दूर करती है, अपत्य अर्थात् बच्चों के लिए भी लाभकर है—क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे । (४।१७।६)

अथर्व के एक सूक्त (६।१०९) में पिप्पली ओषधि का वर्णन है जो घावों में लाभकर होती है—पिप्पली क्षिप्तभेषज्यूतातिविद्धभेषजी (६।१०९।१) वाती कृतस्य

भेषजीमथो क्षितस्य भेषजीम् (६।१०९।३) [क्षित उस घाव को कहते हैं जो बाण आदि के लगने से उत्पन्न होता है।]

पिप्पली के समान एक ओषधि—पृश्निपर्णी (Hemionitis cordifolia) है जिसका उल्लेख अथर्व (२।२५) में हुआ है। सुश्रुत में इसे गर्भपात से बचानेवाली ओषधि बताया गया है—'शं नो देवी पृश्निपर्ण्य शं निर्ऋत्या अकः' । कुष्ठ-ओषधि का उल्लेख (६।९५) ऊपर किया ही जा चुका है। एक ओषधि रोहणी या अरुन्धति है जो छिन्न-अस्थि (टूटी हड्डी) के लिए प्रयोग की जाती है—'रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी, रोहयेदमरुन्धति' (४।१२।१) । इससे मज्जा, परु, मांस, लोम, त्वचा और हड्डी सब ठीक हो जाते हैं। यह हड्डी चाहे गड्ढे में गिरने से टूटी हो और चाहे फेंके गए पत्थर की चोट से—यह इस प्रकार इस ओषधि से जुड़ जाती है मानों रथ के विभिन्न अंग जोड़ दिए गए हों।

"यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि संदधत परुषा परुः।" (४।१२।७) ।

टूटी हड्डी को जोड़नेवाली एक दूसरी ओषधि 'लाक्षा' या 'सिलाची' है, जो अरुन्धति के समान ही है (५।५) । यह सम्भवतः एक लता है जो वृक्षों से चिपटती है जैसे प्रेमिका कन्या अपने प्रियतम से—'वृक्षं वृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला।' (५।५।३) । डंडे, बाण या किसी भी प्रकार की चोट से लगे घाव को यह अच्छा कर देती है—'यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम्। तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥ (५।५।४) । यह लता प्लक्ष, अश्वत्थ, खदिर, धव, पर्ण और न्यग्रोध वृक्षों पर चढ़ती है (५।५।५) । एक ऐसी विषनाशक वनस्पति का भी उल्लेख है जो काटनेवाले मशक या मच्छर को मार डालती है—"इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः। सा विहुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी" (७।५६।२) । यह ओषधि स्वयं तो अति मधु है। 'मशकस्यारसं विषम्' अर्थात् मच्छर द्वारा फैलाए गए विष का परिज्ञान हमारा बहुत पुराना है। (७।५६।३) । इसी प्रकार अगले मंत्रों (७।५६।५,७) में शर्कोट अर्थात् बिच्छू के विष का उल्लेख है—'शार्कोटमरसं विषम्।'

आयुर्वेद की परम्परा का आरम्भ

अथर्ववेद से आयुर्वेदशास्त्र ने प्रथम प्रेरणा पाई। अपामार्ग, पिप्पली और अरुन्धति—ये तीन सर्वप्रथम वनस्पतियाँ हैं, जिनका उपयोग व्याधियों और कष्टों के निवारण में करना मनुष्य ने अत्यन्त आदिम काल में सीखा। चरकसंहिता का प्रथम अध्याय तो भूमिका मात्र है, और इस अध्याय के बाद दूसरा अध्याय इस वाक्य से आरम्भ होता है—"अपामार्गस्य बीजानि पिप्पलीर्मरिचानि च।" (सू० २।३) । इस बात से ही अपामार्ग और पिप्पली की, जिसका विशद उल्लेख अथर्ववेद में है, प्रधानता का अनुमान हो सकता है। साथ ही इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि वानस्पतिक ओषधियों की परम्परा भी अथर्ववेदोल्लिखित अपामार्ग और पिप्पली से ही हुई।

अथर्ववेद से प्रभावित होकर आयुर्वेद किस प्रकार आर्य्यावर्त में विकसित हुआ,

इसका कुछ आभास चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों से मिलता है। चरक में इसकी परम्परा का विवरण इस प्रकार है (सूत्रस्थान प्रथम अध्याय)—'दीर्घजीवी होने का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से महर्षि भरद्वाज इन्द्र के पास गए। ब्रह्मा आयुर्वेदशास्त्र के सर्व-प्रथम प्रवर्त्तक थे। उनसे यह ज्ञान प्रजापति ने सीखा, प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने, अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने सीखा और इसीलिए भरद्वाज इन्द्र के पास गए।' यदि ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र और अश्विनीकुमारों को अमर्त्य समझा जाय, तो भरद्वाज ही पहला मर्त्य मानव था, जिसने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया।

तप, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य्य आदि व्रतों में रोग विघ्न डालने लगे तो हिमालय के पार्श्व में अनेक महर्षियों का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में उपस्थित होनेवालों में प्रमुख ये थे[1]—अंगिरा, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, भृगु, आत्रेय, गौतम, सांख्य, पुलस्त्य, नारद, असित, अगस्त्य, वामदेव, मार्कण्डेय, आश्वलायन, पारिक्षि, भिक्षु आत्रेय, भरद्वाज, कपिंजल, विश्वामित्र, आश्मरथ्य, भार्गव, च्यवन, अभिजित्, गार्ग्य, शांडिल्य, कौण्डिन्य, वार्क्षि, देवल, गालव, साङ्कृत्य, वैजवापि, कुशिक, बाद-रायण, बडिश, शरलोमा, काप्य, कात्यायन, काङ्कायन, कैकशेय, धौम्य, मारीच, काश्यप, शर्कराक्ष, हिरण्याक्ष, लोकाक्ष, पैङ्गि, शौनक, शाकुनेय, मैत्रेय, मैमतायनि, वैखानस-समुदाय और वालखिल्य-समुदाय (सू० १।८-१३)। इस सम्मेलन में ही सर्वसम्मति से यह निश्चित हुआ कि भरद्वाज के नेतृत्व में एक प्रतिनिधिमंडल इन्द्र के पास जाय। इन्द्र ने संक्षेप में भरद्वाज को आयुर्वेद का उपदेश दिया और हेतु, लिंग और औषध, इस त्रिसूत्र का ज्ञान कराया।

इसके अनन्तर सब प्राणियों पर अनुकम्पा करके पुनर्वसु ने यह आयुर्वेदज्ञान अपने ६ शिष्यों को दिया। ये शिष्य अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि थे (सू० १।३१)। पुनर्वसु और उसके ये छः शिष्य अथर्ववेद की ऋषि-नामावलि में स्थान नहीं पाते हैं, अतः यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद की परम्परा वैदिककाल से अब आगे को बढ़ी। पुनर्वसु के सब शिष्यों में अग्निवेश विशेष प्रतिभाशाली थे और वे ही आयुर्वेद-तन्त्र के प्रथम कर्त्ता अर्थात् प्रथम संकलनकर्त्ता माने गए—तन्त्रस्य कर्त्ता प्रथममग्नि-वेशो यतोऽभवत् (सू० १।३२)। अन्य भेल आदि शिष्यों ने भी संकलन किया और सबने अपने-अपने संकलन एक ऋषि-परिषद् में सुनाए, जिसके सभापति आत्रेय थे। (सू० १।३३)। इस परिषद् में जो कुछ भी संकलन किया गया, वह चरक द्वारा 'प्रतिसंस्कृत' अर्थात् फिर से सम्पादित और संशोधित होकर, हमारे सामने चरक-संहिता के रूप में उपस्थित हुआ है। चरकसंहिता वस्तुतः अग्निवेशकृत तन्त्र है, जैसा प्रत्येक अध्याय के अन्त में इस ग्रन्थ में स्वयं निर्दिष्ट है—"इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते..."।

---

(१) इन नामों में से अंगिरा, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, कश्यप, भृगु, कांका-यन, कौशिक, भार्गव, शौनक, भरद्वाज, गार्ग्य, अगस्त्य, अत्रि आदि अथर्ववेदीय ऋषि भी हैं।

आयुर्वेद की इस नई परम्परा में 'पुनर्वसु' सबसे महान् आविष्कारक था और 'अग्निवेश' सबसे बड़ा सम्पादक और 'चरक' महान् संशोधक। पुनर्वसु ने एरण्ड तैल का विरेचन में सर्वप्रथम प्रयोग किया जो आजतक चिकित्साशास्त्र में इस कार्य के लिए समस्त संसार में प्रचलित है (अग्र्यमैरण्डं तु विरेचने। सू० १३।१२)। इसके प्रमुख आविष्कारों का यथासम्भव आगे उल्लेख होगा।

मनुष्य ने ओषधिशास्त्र कहाँ से सीखा? कैसे उसने जाना कि अमुक-अमुक वनस्पतियाँ हमारे काम की हैं? इस सम्बन्ध में मनुष्य ने पशुओं को अपना गुरु बनाया। उसने देखा कि पशुओं में एक प्रकृत्या प्रेरणा होती है, जिससे वे अपने कष्ट के समय अपने चारों ओर प्राप्त वनस्पतियों का सेवन करते हैं। पशुओं के सहारे आविष्कार करने की प्रेरणा मनुष्य ने अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्रों से प्राप्त की जो एक विशेष औषधसूक्त से लिए गए हैं—

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे॥२३॥
याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे॥२४॥
यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः॥
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः॥२५॥

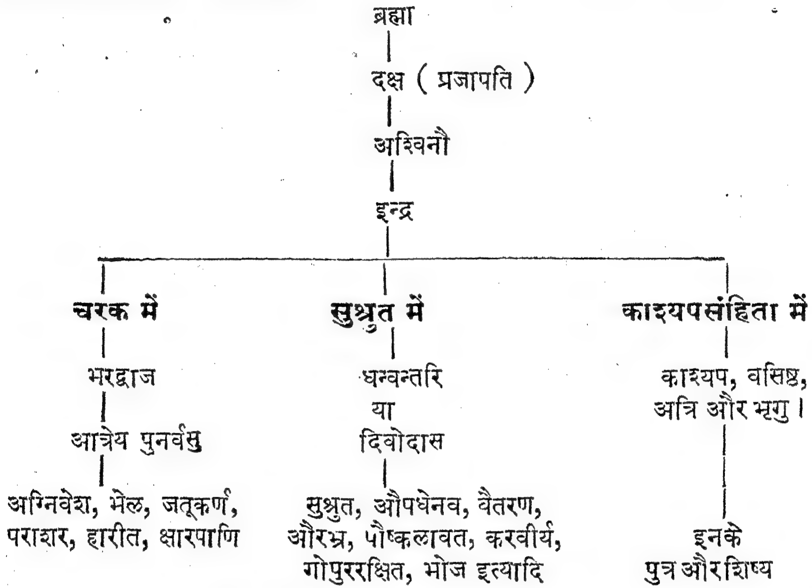
(अथर्व० ८।७।२३-२५)

अर्थात् कुछ पौधों को वराह (सूअर) जानता है और कुछ ओषधियों को नेवला, और कुछ को साँप और गन्धर्व। मैं इनमें से कुछ का उसके लिए प्रयोग करता हूँ। कुछ आंगिरसी ओषधियाँ सुपर्ण (चील, गिद्ध) जानते हैं और कुछ रघट जानता है। कुछ को वय (पक्षी) और हंस और अन्य सब पतत्री (पंखवाली चिड़ियाँ) जानते हैं। कुछ ओषधियों को मृग जानते हैं। उनमें से कुछ का मैं उसके लिए आवाहन करता हूँ। न जाने कितनी ओषधियाँ गायें खाती हैं और कितनी भेड़ें और बकरियाँ। ये सब ओषधियाँ तुम्हारे लिए लाई जायँ और तुम्हारे लिए कल्याणकारी और पोषक हों।

आयुर्वेद के आचार्यों ने बहुत-सी ओषधियों का आविष्कार तुल्य गुणों के आश्रय पर किया, जैसे अगर कोई चीज लाल है, और घुलने पर लाल रंग का विलयन देती है, तो उन्होंने समझा कि यह रक्त-शोधक है और रक्तस्राव से भी रक्षा करेगी। यदि कोई चीज दूध के समान श्वेत और गाढ़ी है तो यह वीर्यवर्धक और ओजप्रद होगी। इस प्रकार की उपमाओं के आधार पर भी कुछ ओषधियों का आविष्कार हुआ।

चिकित्साशास्त्र की हमारे देश में कई परम्पराएँ प्रारम्भ हो गईं जिनका सम्बद्ध इतिहास आज एकत्र करना सरल नहीं है। परम्परा कोई एक नहीं थी, वटवृक्ष की

शाखाओं के समान ये बढ़ती गईं। वटवृक्ष भी एक नहीं, कई वटवृक्ष आरोपित हुए। इस देश के साथ अन्य देशों का सम्पर्क भी हुआ और पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से यह परम्परा सदा प्रभावित होती रही। ज्ञान का आदान-प्रदान बड़ी उदारता-पूर्वक भूमण्डलभर में होता रहा। 'चरकसंहिता', 'सुश्रुतसंहिता' और 'कश्यपसंहिता' में तीन परम्पराओं का उल्लेख है—



चरक ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर शंकासमाधान के रूप में अथवा भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतप्रदर्शन के रूप में अनेक शिष्यों और आचार्यों के नाम आए हैं। जैसे—

सूत्रस्थान

काङ्कायन अध्याय १२, २५, २६
काप्य १२
कुमारशिरा भरद्वाज १२
कुश साङ्कृत्यायन १२
निमि वैदेह २६
पारिक्षि मौद्गल्य २५
पूर्णाक्ष मौद्गल्य २६
बडिश २६
भद्रकाप्य २५, २६
मारीचि काश्यप १२
वामक (काशीपति) २५
वार्योविद १२, २५, २६
शरलोमा २५
शाकुन्तेय ब्राह्मण २६
शौनक २५
हिरण्याक्ष कुशिक २५, २६

चिकित्सास्थान

अगस्त्य १
अंगिरा १
असित १
कश्यप १
गौतम सांख्य १
पुलस्त्य १
भार्गव च्यवन १
भृगु १
वसिष्ठ १
वामदेव १
वालखिल्य १
वैखानस १

शारीरस्थान

जनक वैदेह ६
धन्वन्तरि ६
भद्रशौनक ६

इन नामों में शरीरस्थान में 'धन्वतरि' नाम का प्रयोग होना उल्लेखनीय है; क्योंकि यह सुश्रुतपरम्परा का व्यक्ति है।

भरद्वाज—भरद्वाज नाम के अनेक ऋषि हुए हैं। हमारे इतिहास में एक ऐसा भी समय आया, जब दूध देनेवाले गो आदि पशुओं की बलि यज्ञों में की जाने लगी थी। ऐसे समय में भरद्वाज ऋषि ने ही गोवध की प्रथा का आर्य्यजाति से पुनः उन्मूलन किया। तब से आजतक आर्य्यजाति में गोवध घृणित और निन्दनीय माना जाता है। गोरक्षक होने के कारण इस भरद्वाज को 'गवेषक' भी कहा जाता है (गाय को प्यार करनेवाला)। ऋग्वेद के ऋषि भरद्वाज और रामायण के भरद्वाज में कोई एकता है या नहीं, यह कहना कठिन है। चरक में एक अन्य कुमारशिरा भरद्वाज का भी उल्लेख है। यह आयुर्वेद के प्रवर्त्तक भरद्वाज से भिन्न है।

आत्रेय पुनर्वसु—हम कह चुके हैं कि आत्रेय पुनर्वसु चिकित्साशास्त्र के अनेक अंगों का इतना महान् आविष्कारक है कि इसे बाद को काय-चिकित्सा का एकमात्र प्रवर्त्तक माना जाने लगा।[२] चरकसंहिता के तो प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में ये शब्द आते हैं—इति ह स्माह भगवानात्रेयः—'भगवान् आत्रेय ने ऐसा कहा'। आत्रेय पुनर्वसु काय-चिकित्सा का विशेषज्ञ है। यह अपनेको धन्वन्तरियों (शल्य-चिकित्सकों) से भिन्न समझता है, और जहाँ कहीं शल्यकर्म का प्रश्न आता है, यह इस बात को स्पष्ट स्वीकार करता है।[३] जो जिसका क्षेत्र नहीं और जिसका जो अधिकारी नहीं, उसे उस स्थान पर या उस विषय में दखल न देना चाहिए। इस विशेषज्ञता का उल्लेख इस प्रसिद्ध श्लोक में भी है।—

"निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थाने तु वाग्भटः।
शरीरे सुश्रुतः प्रोक्तः चरकस्तु चिकित्सिते।"

अर्थात् निदान (diagnosis) में माधव, ओषधि के सामान्य ज्ञान में वाग्भट, शल्य (surgery) में सुश्रुत और चिकित्सा (therapeutics) में चरक श्रेष्ठ हैं।

आत्रेय के नाम आत्रेय पुनर्वसु, चान्द्रभाग और कृष्णात्रेय भी थे। इन तीनों नामों का प्रयोग चरकसंहिता के सूत्रस्थान में हुआ है।[४] पुनर्वसु की परम्परा में चिकित्सा करनेवालों का नाम **पौनर्वसव** पड़ा जैसे धन्वतरि द्वारा चलाए गए शल्यकर्म के अनुगामियों (surgeons) को धान्वन्तरीय कहा गया। आत्रेय को जीवक का गुरु भी मानते हैं। तिब्बतीय उपकथाओं में आता है कि तक्षशिला का आत्रेय जीवक का गुरु था। पर ब्रह्मदेश की कथाओं में यह लिखा है कि जीवक काशी पढ़ने आया,

(२) गान्धर्वं नारदो वेदं भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्॥ महाभारत शा० प० अ० २१०॥

(३) तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ।
वैद्यानां कृतयोग्यानां व्यधशोधन रोपणे। चरक, चि० ५।४४॥
तेषामभिव्यक्तिरभिप्रदिष्टा शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितं च।
पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः॥
चरक, चि० २६।१३१॥

(४) सू० १२।१२; १३।१००; ११।६५

न कि तक्षशिला। संभवतः जीवक ने दिशाप्रमुख, माणकाचार्य्य और कपिलाक्ष गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की, न कि आत्रेय से। अतः यह संदिग्ध ही है कि चिकित्साशास्त्र का विशेषज्ञ आत्रेय जीवक का गुरु था या नहीं। चरकसंहिता में काम्पिल्य और पञ्चाल का उल्लेख है। ये प्रदेश ब्राह्मण और उपनिषद्काल में भी प्रसिद्ध थे, और बहुत सम्भव है कि पुनर्वसु आत्रेय ब्राह्मण या उपनिषद्काल का ही कोई प्रसिद्ध चिकित्सक हो। बहुतों का विचार यह है कि आत्रेय अथर्ववेद के काल के बाद 'शतपथ' के प्रारम्भिक काल में हुए।

चरकसंहिता में कई ऐसे विचार-विमर्शों (symposia) का उल्लेख आता है, जो आत्रेय के सभापतित्व या नेतृत्व में हुए। 'सूत्रस्थान' के बारहवें अध्याय में कुश सांकृत्यायन, कुमारशिरा भरद्वाज, काङ्कायन बाह्लीक, बडिश, वार्योविद, मरीचि, काप्य और आत्रेय के बीच में एक ऐसा ही विचार-विमर्श हुआ जिसमें सबने अपनी-अपनी सम्मतियाँ दीं। इसी प्रकार का दूसरा विचार-विमर्श 'सूत्रस्थान' के २५वें अध्याय में पाया जाता है जिसमें काशीपति वामक, पारिक्षि मौद्गल्य, शरलोमा, वार्योविद, हिरण्याक्ष (कुशिक), शौनक, भद्रकाप्य, भरद्वाज, काङ्कायन और भिक्षु आत्रेय ने भाग लिया। सभी व्यक्ति अपने-अपने मत पर दृढ़ थे; पर अन्त में आत्रेय पुनर्वसु ने सबके विचारों को सुनकर समीचीन निश्चय किया। सूत्रस्थान के २६वें अध्याय में रस-संबंधी इसी प्रकार का एक मनोरञ्जक विचार-विमर्श है।

आत्रेय पुनर्वसु ने विचारस्वातन्त्र्य और विचारविनिमय पर बड़ा बल दिया है। 'चरकसंहिता' के विमानस्थान के आठवें अध्याय में वादप्रतिवाद या विचार-विनिमय (जिन्हें संभाषा कहते हैं) के विस्तृत नियम दिए हैं। 'भिषक् भिषजासह संभाषेत'[५] अर्थात् वैद्य वैद्य के साथ सम्भाषण करे। क्योंकि तद्विद्यसंभाषा ज्ञाननैपुण्य और स्पर्धा करनेवाली होती है, एवं निर्मलता भी लाती है। यह वचनशक्ति को उत्पन्न करती है और यश को बढ़ाती है। यह शास्त्र-संदेह को दूर करती है और दृढ़ निश्चय प्राप्त कराती है। तद्विद्यसंभाषा के दो भेद बताए गए हैं—(१) सन्धाय संभाषा (friendly discussion) और (२) विगृह्य संभाषा (hostile discussion)। चरक का संभाषास्थल गम्भीरता से पढ़ने की चीज है, और 'न्यायदर्शन' के तर्क के नियमों के आधार पर यह लिखा गया प्रतीत होता है।

अग्निवेश—आत्रेय पुनर्वसु को तो श्रेय है ही; पर हम अग्निवेश की महत्ता को नहीं भूल सकते। यदि आत्रेय का शिष्य 'अग्निवेश' न होता तो हमारे पास आत्रेय का 'चिकित्साशास्त्र' न आया होता। जो सम्बन्ध 'सुकरात' और 'प्लेटो' में है, वही 'आत्रेय' और 'अग्निवेश' में। आत्रेय पुनर्वसु के आविष्कारों और उपदेशों को अग्निवेश ने विस्तार से लिखा और फिर उन्हें क्रमबद्ध किया। 'अग्निवेश' ने जो रूप दिया, वही आज 'चरकसंहिता' के नाम से प्रसिद्ध है। 'आत्रेय' के सभी शिष्यों में 'अग्निवेश' अधिक प्रतिभाशाली था। आज 'चरकसंहिता' संसार के चिकित्सा

(५) वि० ८।१५

और आयुर्वेदग्रन्थों में सबसे पुराना तन्त्र माना जाता है; और इसके लिए अग्निवेश के प्रति जितना अनुराग और कृतज्ञता प्रकट की जाय, वह कम ही है। अग्निवेश के अन्य प्रसिद्ध नाम 'हुताशु', 'हुताशवेश', 'वह्निवेश' आदि प्रसिद्ध हैं जो अग्निवेश के ही पर्य्याय हैं। भाष्यकार 'चक्रपाणि' ने "हुताशवेशचरकप्रभृतिभ्यो नमो नमः" कह कर इसका अभिवादन किया है। अग्निवेश की संहिता में १२००० श्लोक थे जैसा कि चरकसंहिता में स्वयं उल्लेख है—"यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता।" (सि० १२।५२) पर यह मूल संहिता तो अब प्राप्त नहीं है।

चिकित्सा-स्थान में (३०।२८९, २९०), दो श्लोक इस प्रकार हैं—

अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते॥
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत्।
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम्॥

अर्थात् "चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेश के इस तन्त्र में सत्रह अध्याय, कल्प-स्थान, सिद्धिस्थान प्राप्त नहीं होते। इनकी पूर्ति कापिलबली के पुत्र दृढबल ने की।" यह सब वाक्य सन्देह उत्पन्न करते हैं कि 'चरकसंहिता' का वर्तमान रूप 'अग्नि-वेश' के मौलिक तन्त्र से अवश्य भिन्न होगा। इसके बहुत से अंश लुप्त हो गए, जिनमें से कुछ की पूर्ति करने का प्रयत्न 'दृढबल' ने किया। 'पुनर्वसु आत्रेय', 'दृढबल' और 'अग्निवेश' सभी समसामयिक भी थे, यह कहना भी कठिन है। कुछ विचारकों का कहना है कि अग्निवेश का तन्त्र १२वीं–१३वीं शताब्दी तक प्राप्त था। 'वाग्भट' इसका अपने ग्रन्थ में उल्लेख करता है। वाग्भट के शिष्य 'जेज्जट' ने 'अग्निवेश-तन्त्र' के श्लोक उद्धृत किए हैं। वाग्भट के पुत्र 'तीसट' ने भी अपने 'चिकित्सा-कलिका' में 'अग्निवेश' का उल्लेख किया है। चरकसंहिता के टीकाकार 'चक्रपाणि' ने जो १२वीं शताब्दी में हुआ, कुछ ऐसे योगों का वर्णन दिया है जो 'चरकसंहिता' में नहीं पाए जाते, और इससे यह सन्देह होता है कि उसने ये योग अग्निवेश के मूलतंत्र से लिए होंगे। यदि ऐसा माना जाय तो चक्रपाणि के समय में अग्निवेशतंत्र का पाया जाना संभव है। 'शोढल' भी १२वीं शताब्दी में हुआ और उसने 'वासाद्यघृतम्' के संबंध में अग्निवेशतन्त्र से कुछ श्लोक दिये हैं। यों तो १३वीं शताब्दी के 'कण्ठदत्त' ने (जिसने वृन्दसिद्धयोग की टीका लिखी), और १५वीं शताब्दी के 'शिवदास सेन' ने 'तत्त्वचन्द्रिका' में अग्निवेश के नाम पर इस प्रकार के उद्धरण दिए हैं, मानों उन्हें अग्निवेशतन्त्र प्राप्त रहा हो।

कहा जाता है कि अग्निवेश ने 'अञ्जननिदान' नामक एक ग्रन्थ भी लिखा जिसमें नेत्र के रोगों का वर्णन दिया गया है।[६] और एक ग्रन्थ निदान-स्थान भी इसका लिखा माना जाता है।

चरक—'चरकसंहिता' हमारे आर्य्यसाहित्य का अति प्राचीन वैद्यक ग्रन्थ है।

(६) गिरीन्द्रनाथ, ३।५२५

प्राचीन अरब देश के लेखक भी इसका उल्लेख करते हैं। सम्पूर्ण 'चरकसंहिता' का अरबी में अनुवाद भी हुआ, जैसा कि अलबेरूनी के प्रमाण से स्पष्ट है। तिब्बत और चीनी भाषाओं के आयुर्वेद-साहित्य पर भी इस ग्रन्थ का प्रभाव पड़ा। इसकी कई टीकाएँ तो बहुत पुरानी हैं जैसे 'हरिचन्द्र भट्टार' की 'चरकन्यास' (यह ५वीं शताब्दी की है) और जेज्जट की निरन्तरपद (६वीं शताब्दी की), और चक्रपाणि की 'आयुर्वेददीपिका' या 'चरकतात्पर्य्य' तो ११वीं शताब्दी की है। वाणभट्ट ने अपनी 'कादम्बरी' में भी चरक का उल्लेख किया है। अलबेरूनी ने लिखा है कि "हिन्दुओं की एक पुस्तक है जो लेखक के नाम पर 'चरक' प्रसिद्ध है और जो औषधविज्ञान की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मानी जाती है। किंवदन्ती यह है कि चरक ऋषि गत द्वापर युग में हुए और उनका नाम अग्निवेश था; पर बाद को 'बुद्धिमान' होने के कारण चरक कहलाए"। 'शान्तिरक्षिता' और 'जयन्तभट्ट' की 'न्याय-मंजरी' नामक तर्क-ग्रन्थों में चरक का उल्लेख पाया जाता है। सुश्रुत की टीका 'भानुमती' में, जो चक्रपाणि की टीका की समकालीन है, चरक का उल्लेख है। तात्पर्य्य यह है कि चरक की अक्षुण्ण प्रतिष्ठा गत ९०० वर्षों से इस देश में रही है।

चरकसंहिता से ही पता चलता है कि चरक के समय चीन, शूलीक, यवन और शक इस देश में आने-जाने लगे थे—"बाह्लीकाः पह्लवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः" (चरक चि० ३०।३१६); और चरक को इन व्यक्तियों के आहार-विहार और स्वभाव का पता था।

कुछ लोग चरक को पतञ्जलि (महाभाष्यकार और योगदर्शन के रचयिता) मानते हैं।[७] पर यह सब बातें विश्वसनीय नहीं प्रतीत होतीं। सिलवन लेवी ने चरक का नाम चीनी त्रिपिटक में पाया और उसने यह कल्पना प्रस्तुत की कि चरक कनिष्क का राजवैद्य था अर्थात् द्वितीय शताब्दी का था। सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने चरक को बौद्धकाल से पूर्व का माना है। कनिष्क के समय के ही नागार्जुन, अश्वघोष और वसुमित्र माने जाते हैं। नागार्जुन के समय पारे की ओषधियाँ प्रचलित हो गई थीं, जिनका चरक में कहीं उल्लेख नहीं है। अतः चरक नागार्जुन से बहुत पहले का है। बहुत सम्भव है कि चरक ईसा से दो शताब्दी पूर्व के कोई आचार्य हों।

दृढबल— चरकसंहिता के पूरक के रूप में 'दृढबल' का नाम उल्लेखनीय है। हमने पहले दो श्लोक दिए हैं (अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः—चरक चि० ३०।२८९-२९०) जिनसे स्पष्ट है कि सत्रह अध्याय और कल्पस्थान और सिद्धिस्थान 'अग्निवेश' के तंत्र के लुप्त हो गए, और उनकी पूर्ति 'कपिलबलि' के पुत्र 'दृढबल' ने की। एक श्लोक में यह भी लिखा है—

अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे।
कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषोञ्छशिलोच्चयम् ॥ सि० १२।३९ ॥

खण्डित प्रति की पूर्ति के लिए दृढबल 'पंचनदपुर' में उत्पन्न हुआ। कुछ लोगों

---

(७) **पातञ्जलमहाभाष्य चरकप्रतिसंस्कृतैः (चक्रपाणि)।**

का कहना है कि आजकल का 'पञ्जनोर' ही 'पंचनदपुर' है। यह कश्मीर में त्रिगाम, वितस्ता (जिल्हम), सिन्धु, क्षीर भवानी, और आञ्चार इन पाँच नदियों के संगम पर बसा हुआ है। दृढबल तीसरी शताब्दी के अन्त या चौथी शताब्दी के प्रारम्भ का कोई आचार्य प्रतीत होता है। 'अग्निवेशतन्त्र' के निम्नलिखित भाग दृढबल के समय अप्राप्त थे—कल्पस्थान के सम्पूर्ण १२ अध्याय, सिद्धिस्थान के सम्पूर्ण १२ अध्याय, और चिकित्सास्थान के १७ अध्याय। इनकी पूर्त्ति तो दृढबल ने की ही। सम्भव है, अन्य स्थानों के अध्यायों में भी उसने कुछ संशोधन या परिवर्द्धन किया हो। चरकसंहिता के ७९ अध्यायों के अन्त में ये वाक्य आते हैं—'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते।' शेष ४१ अध्यायों के अन्त में वाक्य इस प्रकार हैं—'अप्राप्ते दृढबलपूरिते' अथवा 'अप्राप्ते दृढबलसंपूरिते'। इनमें से चिकित्सास्थान के २५वें अध्याय में ये शब्द हैं—'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते दृढबलसंपूरिते'।

अग्निवेशतन्त्र के प्रतिसंस्कार का अर्थ दृढबल ने इस प्रकार दिया है—

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिप्त्यति विस्तरम्।
संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥

अर्थात् संस्कर्त्ता उन भागों को जो संक्षेप में हों, आवश्यकता समझने पर विस्तार दे सकता है और आवश्यकता से अधिक विस्तृत भागों को संक्षेप कर सकता है। इस प्रकार यह पुराने तन्त्र को फिर नया बना देता है।

भेलसंहिता—आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य जिस प्रकार अग्निवेश थे, उसी प्रकार 'भेल' भी। इनकी संहिता भी पाई जाती है। यह संहिता 'चरकसंहिता' से बिलकुल मिलती-जुलती है। इसमें भी चरकसंहिता के समान सूत्र, निदान, विमान, शारीर, इन्द्रिय, चिकित्सा, सिद्धि और कल्पस्थान हैं। 'चरकसंहिता' और 'भेलसंहिता' में विमान, इन्द्रिय और सिद्धि शब्द विशेष पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, किसी अन्य आयुर्वेद ग्रन्थ में इन अर्थों में ये शब्द नहीं आए। 'भेलसंहिता' के प्रत्येक स्थान में अध्यायों की संख्या भी वही है जो चरकसंहिता में अर्थात् चरकसंहिता और भेलसंहिता एक ही आयोजना पर लिखी गई हैं। कहीं-कहीं तो दोनों में एक-से ही शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। दोनों ग्रन्थों में बड़ी समानता है; पर विस्तार में अन्तर भी है (जैसे स्वेदाध्याय में भेल ने आठ प्रकार के स्वेदन दिए हैं, पर चरक ने तेरह)। भेलसंहिता चरकसंहिता की अपेक्षा छोटी है, और इसमें गद्य अधिक है।

चरक के टीकाकार—चरक के टीकाकारों में भट्टार हरिचन्द्र, स्वामिकुमार, शिवदास सेन, जेज्जट और चक्रपाणि बहुत प्रसिद्ध हैं। वैसे तो पुरानी ४३ के लगभग टीकाएँ पाई जाती हैं, और प्रत्येक शताब्दी में इसकी कुछ-न-कुछ टीकाएँ गत ५०० वर्षों से होती रही हैं।

भट्टार हरिचन्द्र व्युत्पन्न बुद्धि का अति प्रतिभाशाली व्यक्ति था। बाण के 'हर्षचरित' में इसका उल्लेख है—"भट्टार हरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते" (१।१२) अर्थात् भट्टार हरिचन्द्र गद्यलेखकों में शिरोमणि माना जाता था। इसके गद्यसौष्ठव

का उल्लेख वाक्पति के प्राकृत ग्रन्थ 'गौडवह' में भी है—"भासेज्वलनमित्रे कुन्तिदेवे च यस्य रघुकारो सौबन्धवे च बन्धे हारीचन्द्रे च आनन्दः।" पर हरिचन्द्र भट्टार का कोई साहित्यिक गद्यग्रन्थ इस समय नहीं पाया जाता। चरकसंहिता का यह सबसे पुराना टीकाकार है। इसकी टीका 'चरक-न्यास' कहलाती है, और आगे के सभी टीकाकारों ने इसका उल्लेख किया है। इन्दु, तीसट और महेश्वर नामक टीकाकारों ने इसकी टीका को अति महत्त्व का माना है।

भट्टार हरिचन्द्र 'साहसाङ्कनृपति' का राजवैद्य था।[८] यह साहसाङ्क सन् ३७५–४१३ ई० का राजा था। वाग्भट और उसके पुत्र तीसट और पौत्र 'चन्द्रट' इन सबने अपनी-अपनी टीकाएँ लिखी हैं। तीसट ने भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है। वाग्भट के शिष्य जेज्जट ने भी इस टीकाकार का उल्लेख किया है—"आचार्य्य-प्रणीतश्चायमध्यायो भट्टारहरिचन्द्रेण सुविवृतः॥"[९] भट्टार हरिचन्द्र ने 'खरनाद-संहिता' पर भी एक टीका लिखी, जिसका प्रतिसंस्कार इन्दु ने किया। हरिचन्द्र की चरकसंहिता की टीका का कुछ अंश ही (सूत्रस्थान के अध्याय १, २, ३ और ५) इस समय प्राप्य है।

शिवदास सेन की टीका का नाम तत्त्वचन्द्रिका है, और इसका खण्डित भाग (सूत्र १–२७) ही उपलब्ध है। यह बंगाल मालञ्चिका ग्राम में १५वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे और अनन्तसेन के पुत्र थे। उस समय गौड बंगाल का नरेश बार्बकशाह था। इसके अन्य ग्रन्थ द्रव्यगुणसंग्रहव्याख्या, तत्त्वप्रदीपिका और अष्टांगहृदय-तत्त्वबोध व्याख्या हैं।

जेज्जट भी टीकाकारों में प्रसिद्ध है। यह वाग्भट का शिष्य था—"इति वाग्भट-शिष्यस्य जेज्जटस्य कृतौ निरन्तरपदव्याख्यायाम्।" यह नवीं शताब्दी का है। इसने सुश्रुत पर भी टीका लिखी जो सुश्रुत की टीकाओं में सबसे प्राचीन है। यह टीका 'डल्हण' और 'वाग्भट' के पौत्र 'चन्द्रट' के समय अवश्य रही होगी; क्योंकि इन लोगों के लेखों में इसका उल्लेख है। मद्रास गवर्नमेंट ओरिएंटल लाइब्रेरी में इसकी एक प्रति है जिसे हरिदत्त ने संशोधित करके प्रकाशित भी किया है। जेज्जट की चरकसंहिता पर जो टीका है वह 'निरन्तरपदव्याख्या' नाम से प्रसिद्ध है। इसके कुछ अध्याय ही आजकल मिलते हैं (चिकित्सा ५।७१ से २३।१६० तक, कल्प १-५, सिद्धि २, फिर सिद्धि ७।३२ से अन्त तक)। जेज्जट काश्मीरी या सिन्धी था।

चरकसंहिता का सबसे प्रसिद्ध टीकाकार 'चक्रपाणि' है। इसकी सम्पूर्ण टीका उपलब्ध है और इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इसके पिता का नाम 'नारायण' और बड़े भाई का नाम 'भानुदत्त' था। यह 'नरदत्त' का शिष्य था। यह सपरिवार गौडनृपति 'नयपाल' के यहाँ नौकर था। यह बंगाल की वीरभूमि जिले का था। इसके द्वारा स्थापित चक्रपाणीश्वर का मन्दिर भी पाया जाता है। 'नयपाल' का शासनकाल १०४०–१०७० ई० माना जाता है।

---

(८) विश्वप्रकाशकोष प्रथमः कान्तः वर्गः ५।

(९) मदात्ययचिकित्सा जेज्जट-टीका।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण की नामावली—भारत के प्रत्येक प्रदेश में प्रत्येक युग में आयुर्वेद की परम्परा का सातत्य रहा। न जाने कितने ग्रन्थ एकांगी या सर्वांगी लिखे गए, कितने ही ग्रन्थों की टीकाएँ की गईं और इनमें से बहुत से ग्रन्थ क्षणजीवी ही रहे। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में आयुर्वेद के ग्रन्थों की एक नामावली है, जिसका उल्लेख अन्य आयुर्वेदग्रन्थों में भी यत्र-तत्र आता है; पर ये ग्रन्थ अब पाए नहीं जाते। सूची निम्नांकित है—

अश्विनीसुतौ—चिकित्सासारतन्त्रम् भ्रमघ्नम्
करथ —सर्वधरम्
काशिराज —चिकित्साकौमुदी
कुम्भ-सम्भव —द्वैधनिर्णयतन्त्रम्
चन्द्रसुत —सर्वसारम्
च्यवन —जीवदानम्
जनक —वैद्यसन्देहभंजनम्
जाजलि —वेदांगसारम्
जाबाल —तन्त्रसारकम्
दिवोदास —चिकित्सादर्शनम्
धन्वन्तरि —चिकित्सातत्वविज्ञानम्
नकुल —वैद्यकसर्वस्वम्
पैल —निदानम्
यमराज —ज्ञानार्णवम्
सहदेव —व्याधिसिन्धुविमर्दनम्

विभिन्न तन्त्रों का वर्गीकरण

यों तो कायचिकित्सा और शल्यतन्त्र (surgery) दोनों का प्रादुर्भाव अथर्ववेद की प्रेरणा से हुआ, फिर भी कायचिकित्सा का प्रवर्त्तक 'चरक' (आत्रेय पुनर्वसु, अग्निवेश, दृढबल और चरक) और इसी प्रकार शल्यतंत्र का प्रवर्त्तक 'सुश्रुत' रहा। चरकसंहिता, सुश्रुत, भेलसंहिता आदि ग्रन्थों और उनकी टीकाओं में अनेक तन्त्रों का उल्लेख यत्र-तत्र आता है, जिनका हम निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकरण कर सकते हैं—

कायचिकित्सातन्त्र—अग्निवेशसंहिता, भेलसंहिता, जतुकर्णसंहिता, पराशरसंहिता, क्षारपाणिसंहिता, हारीतसंहिता, खरनादसंहिता, विश्वामित्रसंहिता, अगस्त्यसंहिता और अत्रिसंहिता।

शल्यतन्त्र—औपधेनवतन्त्र, औरभ्रतन्त्र, सौश्रुततन्त्र, पौष्कलावततन्त्र, वैतरणतन्त्र, भोजतन्त्र, करवीर्यतन्त्र, गोपुररक्षिततन्त्र, भाळुकीयतन्त्र, कपिलतन्त्र और गौतमतन्त्र।

शालाक्यतन्त्र—विदेहतन्त्र, निमितन्त्र, काङ्कायनतन्त्र, गार्ग्यतन्त्र, गालवतन्त्र, सात्यकितन्त्र, शौनकतन्त्र, करालतन्त्र, चक्षुष्यतन्त्र और कृष्णात्रेयतन्त्र ।

अगदतन्त्र—काश्यपसंहिता, अलम्बायनसंहिता, उशनःसंहिता, सनकसंहिता और लाट्यायनसंहिता ।

भूतविद्यातन्त्र—सुश्रुत में अमानुषप्रतिषेधाध्याय, चरक में उन्माद-चिकित्सित अध्याय और वाग्भट में भूतविज्ञानीय और भूतप्रतिशेषाख्य अध्याय ।

रसतन्त्र—पातञ्जलतन्त्र, व्याडितन्त्र, वसिष्ठतन्त्र, माण्डव्यतन्त्र, नागार्जुनतन्त्र, कक्षपुरतन्त्र और आरोग्यमञ्जरी ।

कौमारभृत्यतन्त्र—जीवकतन्त्र, पार्वतकतन्त्र, बन्धकतन्त्र, हिरण्याक्षतन्त्र,काश्यप-संहिता ।

पशुचिकित्सा सम्बन्धी तन्त्र—शालिहोत्रसंहिता (अश्वायुर्वेद), गौतमसंहिता (गवायुर्वेद) और पालक्यसंहिता (गजायुर्वेद) ।

शल्यतन्त्र और सुश्रुत एवं वाग्भट

सुश्रुत—कायचिकित्सा की परम्परा में जो कार्य्य चरकसंहिता ने किया, वही कार्य्य शल्यतन्त्र की परम्परा में सुश्रुत ने किया । चरक के समान सुश्रुत भी अति प्राचीन है, यद्यपि चरक की परम्परा आत्रेय पुनर्वसु और भरद्वाज तक पहुँचती है । सुश्रुत की भी अपनी ऐसी ही पुरानी परम्परा होगी; पर उसका हम उतनी निश्चयता से उल्लेख नहीं कर सकते जितनी कि चरक की परम्परा का । महाभारत में सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र बताया गया है ।[१०] यह भी कहा जाता है कि नागार्जुन ने इस ग्रन्थ का बाद को सम्पादन भी किया ।[११] चरक के समान सुश्रुत की कीर्ति भारत की सीमा के बाहर तक पहुँच गई । ९वीं और १०वीं शताब्दी के पूर्व में कम्बोडिया तक और पश्चिम में अरब तक इसका नाम पहुँच चुका था । ११वीं शताब्दी में चक्रपाणि दत्त ने 'भानुमतीव्याख्या' नाम से इसकी टीका की और सुश्रुत का जो रूप हमें इस समय प्राप्त है, वह इस टीका के समय का ही है । जेज्जट (या जेय्यट) और गयदास ने भी सम्भवतः बहुत पहले इस पर टीकाएँ की थीं । डल्हण (या डल्लन) ने १२वीं शताब्दी में इसकी टीका की । जेज्जट की टीका के आधार पर चन्द्रट ने सुश्रुत के पाठ का संशोधन भी किया ।

'सुश्रुतसंहिता' में पहला सूत्रस्थान है, जिसमें लिखा है कि काशीनरेश दिवोदास (जो धन्वन्तरि का अवतार था) सुश्रुत का गुरु था । निदानस्थान (pathology) में रोगों का निदान है । आगे के स्थान ये हैं—शरीरस्थान, चिकित्सास्थान, कल्पस्थान और उत्तरतन्त्र । हॉर्न्ले (Hoernle) ने तो यहाँ तक कहा है कि 'सुश्रुत' उतना

(१०) कीथ—History of Sanskrit Literature, १९४१,४०,५०७ । महाभारत xiii. 4. 55.

(११) Cordier,—Recentes Decouvertes, p. 12.

ही पुराना ग्रन्थ है, जितना कि 'चरकसंहिता' या 'भेलसंहिता'। पर कीथ (Keith) इस बात से सहमत नहीं है। चरकसंहिता की अपेक्षा सुश्रुतसंहिता नवीन है।

सुश्रुत ने आयुर्वेद के जाननेवाले के लिए यह कहा है कि उसे न केवल शास्त्रज्ञ (theoretical) होना चाहिए, बल्कि उसे कर्मकुशल (practical) भी होना चाहिए। इन दोनों में से जो केवल एक को जानता है, वह एक पंखवाले पक्षी के समान है। उसे केवल आधा ज्ञान है।[१२]

वाग्भट—चरक और सुश्रुत के अनन्तर तीसरा नाम जो भारतीय आयुर्वेद में अति उल्लेखनीय है, वह वाग्भट है। वैसे तो दो वाग्भटों का पता चलता है, एक तो 'अष्टांग-संग्रह' का रचयिता और दूसरा 'अष्टांग-हृदय-संहिता' का। इन दोनों ने अपने ग्रन्थों में अपने पिता का एक ही नाम दिया, इसलिए दोनों के नामों में गड़बड़ी हो जाती है। इनमें से जो ज्येष्ठ वाग्भट है, अर्थात् वृद्ध वाग्भट वह 'सिंहगुप्त' का पुत्र है, और उसके बाबा का नाम भी वाग्भट था। वृद्ध वाग्भट प्रसिद्ध बौद्ध 'अवलोकित' का शिष्य था। इस वाग्भट ने गद्य-पद्य-मिश्रित अपना ग्रन्थ 'अष्टांगसंग्रह' लिखा। प्राकृत साहित्य में यह वाग्भट 'बाहट' नाम से प्रख्यात है, और इसका गुरु 'संघगुप्त' है। कनिष्ठ वाग्भट भी वृद्ध वाग्भट की सन्तति में से कोई है। यह भी बौद्ध परम्परा का मालूम होता है। इसने वृद्ध वाग्भट के ग्रन्थ को देखकर अपना ग्रन्थ 'अष्टांगहृदयसंहिता' बनाया। इस ग्रन्थ का तिब्बती भाषा में भी अनुवाद हुआ। इसके ग्रन्थ पद्य में हैं। दोनों वाग्भटों के बीच में ८०–१०० वर्ष का अधिक-से-अधिक अन्तर रहा होगा। चरक और सुश्रुत (उत्तरतन्त्र सहित) से दोनों ग्रन्थों में उद्धरण लिए गए हैं। 'इत्सिंग' ने वृद्ध वाग्भट का अपने लेख में उल्लेख किया है। (उसने ऐसे व्यक्ति का उल्लेख किया है, जिसने अभी कुछ समय पहले आयुर्वेद के अष्टांगों का संकलन किया है)। गरुड़-पुराण में 'अष्टांगहृदय' और 'अष्टांगसंहिता' के निदानस्थान के श्लोकों के उद्धरण हैं।

वाग्भट संभवतः सिन्ध का था और ७वीं शताब्दी में यह रहा होगा। उसने कई नई ओषधियों का आविष्कार किया और शल्यकर्म में भी नई विधियाँ प्रचलित कीं। कनिष्ठ वाग्भट के अष्टांगहृदय में आठ खंडों में १२० अध्याय और ७४४४ श्लोक हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि वाग्भट के समय कुछ रूढिवादिता आरम्भ हो गई थी। लोग पुराने ग्रन्थों में आस्था रखते थे और नवीन ग्रन्थरचना के विरोधी थे। कनिष्ठ वाग्भट को यह बात असह्य थी। उसने आवेश में आकर यह शब्द लिखे—

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्मात् ग्राह्यं सुभाषितम्॥
(अष्टांगहृदय उ० ४०-४४)

---

(१२) यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्॥४८॥
यस्तु कर्मसु निष्णातो धार्ष्ट्याच्छास्त्रबहिष्कृतः।
स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चर्च्छति राजतः॥४९॥
उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि।
अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ ॥५०॥ (सुश्रुत सू० ३, ४८-५०)

अर्थात् अगर पुराने ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में ही राग है तो चरक और सुश्रुत को भी छोड़ दो और केवल भेड आदि के ग्रन्थों को पढ़ो ! वस्तुतः जहाँ कहीं भी ठीक कहा गया हो, उसे ग्रहण करना चाहिए।

दूसरे स्थान पर कनिष्ठ वाग्भट ने कहा है—"एतद् ब्रह्मा भाषतां ब्रह्मजो वा का निर्मन्त्रे वक्तृभेदोक्तिशक्तिः"—अष्टांगहृदय, उ० ४०।८६, अर्थात् चाहे ब्रह्मा ने कहा हो या ब्रह्मा के बनाए गए किसी मनुष्य ने, इससे अन्तर क्या पड़ेगा। परिणाम तो एक ही होगा।

अस्तु 'अष्टांगसंग्रह' और 'अष्टांगहृदय' में पुराने सभी तन्त्रों की उपयोगी बातें ली गई हैं, और अनुभव के आधार पर नवीन आविष्कारों को भी सम्मिलित किया गया है।

सुश्रुत में शल्यकर्म—सुश्रुत की विशेषता शल्यकर्म में है। सुश्रुत में कहा है[13] कि जब शिष्य सर्वशास्त्रों में पारंगत हो जाय, तो उसे स्नेहकर्म (oleation) और छेद्यकर्म (amputation) का उपदेश देना चाहिए।

"**छेद्यकर्म** सिखाने के लिए पुष्पफल, अलाबू, कालिन्दक, त्रपुस या एर्वारुक (कुम्हड़ा, लौकी, तरबूज, पेटा, फूट, ककड़ी आदि के समान फलों) का आश्रय लेना चाहिए। इनमें छेद्यकर्म का अभ्यास कराना चाहिए। इन फलों में उत्कर्तन (ऊपर काटना) और अपकर्तन (नीचे काटना) सिखाना चाहिए। मशक या चमड़े आदि के किसी थैले में पानी या कीचड़ भर कर **भेद्यकर्म** (incisions) सिखाना चाहिए। खुरचने का कार्य्य किसी तने हुए चमड़े पर जिसमें बाल भी हों सिखाना

(१३) अधिगत सर्वशास्त्रार्थमपि शिष्यं योग्यां कारयेत्। स्नेहादिषु छेद्यादिषु च कर्मपथमुपदिशेत्। सुबहुश्रुतोऽप्यकृतयोग्यः कर्मस्वयोग्यो भवति ॥

तत्र पुष्पफलालाबूकालिन्दकत्रपुसै(सो)र्वारुककर्कारुक प्रभृतिषु छेद्यविशेषान् दर्शयेत्; उत्कर्तनापकर्तनानि चोपदिशेत्; दृतिबस्तिप्रसेवकप्रभृतिषूदकपंकपूर्णेषु भेद्ययोग्याम्; सरोम्णि चर्मण्याततॆ लेख्यस्य; मृतपशुसिरासूत्पलनालेषु च वेध्यस्य; घुणोपहत काष्ठवेणुनलनालीशुष्कालाबूमुखेष्वेष्यस्य; पनसबिम्बीबिल्वफलमज्जमृतपशुदन्तेष्वाहार्यस्य; मधुच्छिष्टोपलिप्ते शाल्मलीफलके विस्राव्यस्य; सूक्ष्मघनवस्त्रान्तयोर्मृदुचर्मान्तयोश्च सीव्यस्य; पुस्तमय पुरुषाङ्ग प्रत्यङ्गविशेषेषु बन्धनयोग्याम्, मृदुषु मांसखण्डेष्वग्निक्षारयोग्यां, मृदुचर्ममांसपेशीषूत्पलनालेषु च कर्णसन्धिबद्धबन्धयोग्याम्, उदकपूर्णघटपार्श्वस्रोतस्यलाबूमुखादिषु च नेत्रप्रणिधानबस्तिव्रणबस्तिपीडनयोग्यामिति ॥

भवतश्चात्र—

एवमादिषु मेधावी योग्यार्हेषु यथाविधि।
द्रव्येषु योग्यां कुर्वाणो न प्रमुह्यति कर्मसु ॥
तस्मात् कौशलमन्विच्छन् शस्त्रक्षाराग्निकर्मसु।
यस्य यत्रेह साधर्म्यं तत्र योग्यां समाचरेत् ॥ (सुश्रुत सू० ९।३–६)

चाहिए (**लेख्यकर्म**) । **वेध्यकर्म** (venesection or perforation) किसी मृतपशु की सिरा (vein) लेकर या उत्पलनाल (कमलनाल) लेकर सिखाना चाहिए। **एष्यकर्म** (probing) किसी घुन खाई लकड़ी या बाँस की नल-नाल या शुष्क अलाबू (bottle gourd) पर सिखाना चाहिए । **आहार्य्यकर्म** (extraction) पनस, बिम्बी या बिल्वफल की मज्जा में से बीज निकलवा कर सिखाना चाहिए अथवा मृत पशु के दाँत निकलवा कर । **विस्राव्यकर्म** (draining or evacuation) शाल्मली के तख्ते पर मोम लगाकर सिखाना चाहिए । **सीव्यकर्म** (stitching or sewing or saturing) पतले-मोटे कपड़ों या मृदुचर्म पर सिखाना चाहिए । **बन्धनकर्म** (bandaging or ligaturing) किसी पुरुष के अंगों पर या किसी पुस्तमय पुरुष (dummy or model of a man) के अंगों पर पट्टियाँ बाँध कर सिखाना चाहिए । **कर्णसन्धिबन्धकर्म** (plastic surgery of ear) मृदुचर्म या मांसपेशी पर या उत्पल नाल पर सिखाना चाहिए । **अग्नि-क्षारकर्म** (cauterizing, or causticizing) मृदुमांसखंड पर सिखाना चाहिए । **नेत्रप्रणिधानवस्तिकर्म** (inserting catheter into the bladder) या **व्रणवस्तिपीडनकर्म** (inserting tube into an ulcerated channel) उदकपूर्ण घट के पार्श्व में, मुख में, या अलाबू के मुख में कराके सिखाना चाहिए ।

"जो व्यक्ति इस प्रकार के कर्मों में यथाविधि दक्षता प्राप्त कर लेता है, वह शल्य-कर्म में गलतियाँ नहीं करता । अतः शस्त्रकर्म और क्षाराग्निकर्म में कुशलता प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को ये सब क्रियाएँ उचित साधर्म्यवाली वस्तुओं पर कर लेनी चाहिए ।"

सुश्रुत के इस विस्तृत उद्धरण से शल्यकर्म की रूपरेखा का अनुमान लगाया जा सकता है । शल्यकर्म के इतने अंगों का यह वर्णन है—छेद्य, भेद्य, लेख्य, एष्य, आहार्य, विस्राव्य, सीव्य, बन्धन, कर्णसन्धिबन्ध, अग्निक्षारकर्म और नेत्रप्रणिधान ।[14] इन क्रियाओं को जिसने उचित विधि से नहीं सीखा और जो शस्त्र, क्षाराग्नि और ओषधियों का अनुचित प्रयोग करता है, उससे ऐसे बचे रहें जैसे विषैले साँप से बचते हैं—

---

(१४) **चरक में शस्त्रप्रणिधान** (operation) **के निम्नलिखित अंग बताये गये हैं—**

शस्त्रप्रणिधानं पुनश्छेदनभेदनव्यधनदारणलेखनोत्पाटनप्रच्छनसीवनैषणक्षारजलौकसश्चेति ॥सू० ११।५५॥

अर्थात् छेदन (excision), **भेदन** (incision), **व्यधन** (puncturing), **व्यधन** (rupturing), **दारण** (erasion), **लेखन** (eradication), **उत्पाटन** (plastic operation), **प्रच्छन**, **सीवन** (saturing), **एषण**, **क्षारप्रयोग और जलौक** (leach) **प्रयोग ।**

तं शस्त्रक्षाराग्निभिरौषधैश्च भूयोऽभियुञ्जानमयुक्तियुक्तम्।
जिजीविषुर्दूरत एव वैद्यम् विवर्जयेदुग्रविषाहितुल्यम् ॥
(सुश्रुत, सू० २५।३२)

सिरावेधन (venesection) में कोई भी व्यक्ति बहुत पारंगत नहीं हो सकता; क्योंकि ये सिरा और धमनियाँ मछली के समान चलायमान रहती हैं। अतः इन्हें यत्न से (सावधानी से) वेधना चाहिए—

सिरासु शिक्षितो नास्ति चलाह्येताः स्वभावतः।
मत्स्यवत् परिवर्त्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत् ॥
(सुश्रुत, शा० ८।२०)

सैनिक व्यवस्था और शल्यकर्म—शल्यकर्मविशारद (surgeon) को धान्वन्तरीय कहा गया है। शल्यकर्म के देवता धन्वन्तरि हैं। (धनुः शल्यशास्त्रं, तस्य अन्तं पारं, इयर्ति गच्छतीति)। धनु का अर्थ धनुर्विद्या और शल्यशास्त्र दोनों है; क्योंकि शल्यकर्म का विशेष उपयोग युद्ध में आहत सैनिक के लिए आरम्भ हुआ। प्रत्येक राजा अपने पास काय-चिकित्सक और शल्यकर्मनिपुण वैद्य रखता था। सुश्रुत में एक पूरा अध्याय 'युक्तसेनीय' नाम का है जिसमें सेना के सम्बन्ध से शल्यकर्म का विधान है।

"राजा जब शत्रु पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से सेना लेकर चले तो भिषक् या राजवैद्य उसकी कैसे रक्षा करे, इसका यहाँ वर्णन है। शत्रु लोग सड़कों को, पानी को, छाया को, भोजन को, अन्न को और ईंधन को दूषित कर देते हैं, अतः भिषक् का कर्त्तव्य है कि वह इन दूषणों का पता लगाए और शोधन करे। रसमन्त्रविशारद वैद्य और पुरोहित दोनों का कर्त्तव्य है कि वे राजा की आगन्तुज दोष और मृत्यु से रक्षा करें।[१५]"

स्कन्धावार (encampment) में राजा के शिविर के बाद ही सर्वोपकरणों से सम्पन्न होकर राजवैद्य एक तम्बू में रहे। उसके तम्बू पर एक झंडा लटकता हो; जिससे कि विष, शल्य और रोग से पीड़ित व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के वहाँ आ सकें।[१६]

शल्यकर्म के लिए जो परिचारक (nurses) हों, उन्हें स्निग्ध (मीठे वचन कहने

(१५) नृपतेर्युक्तसेनस्य परानभिजिगीषतः। भिषजा रक्षणं कार्य्यं यथा तदुपदेक्ष्यते ॥ पन्थानमुदकंछायां भक्तं यवसमिन्धनम्। दूषयन्त्यरयस्तच्च जानीयाच्छोधयेत्तथा॥ दोषागन्तुज मृत्युभ्यो रसमंत्रविशारदौ। रक्षेतां नृपतिं नित्यंयत्तौ वैद्यपुरोहितौ॥ (सुश्रुत सू० ३४।३, ५, ७)

(१६) स्कन्धवारे च महति राजगेहादनन्तरम्। भवेत्सन्निहितोवैद्यः सर्वोपकरणान्वितः॥ तत्रस्थमेनं ध्वजवद्यशःख्यातिसमुच्छ्रितम्। उपसर्पन्त्यमोहेन विष शल्यामयार्दिताः॥ (सुश्रुत सू० ३४।१२, १३)



चित्र ८—सिन्ध के पुराने बने मिट्टी के घट, जिनपर लुक फिरा है और चित्रकारी की हुई है। (पृष्ठ २१३)

वाला), अजुगुप्सु, बलवान और बीमार की रक्षा में निपुण होना चाहिए तथा वैद्य-वाक्यकृत् (अर्थात् वैद्य की बताई बातों के अनुसार चलनेवाला) होना चाहिए।[17]

शल्यागार—जिस व्यक्ति को घाव लगा हो, उसे पहले शल्यागार (surgical ward) में ले जाना चाहिए। वह आगार वास्तुकला के आदर्श नियमों के अनुसार बना होना चाहिए। इसे प्रशस्त (बड़ा), स्वच्छ और धूप एवं हवा से सुरक्षित होना चाहिए। ऐसे स्थान पर रोगी मानसिक, आगन्तुक और शारीरिक रोगों से मुक्त रह सकेगा।

व्रणितस्य प्रथममेवागारमन्विच्छेत्; तच्चागारं प्रशस्तवास्त्वादिकं कार्यम्। प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातपवर्जिते। निवाते न च रोगाः स्युः शारीरागन्तुमानसाः॥ (सुश्रुत सू० १९।३-४)।

इस शल्यागार में शल्यकर्म के समय क्या सामग्री रहनी चाहिए, इसका अनुमान निम्नलिखित उदाहरण से लग सकता है--

अतोऽन्यतमं कर्म चिकीर्षता वैद्येन पूर्वमेवोपकल्पयितव्यानि भवन्ति तद्यथा— यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निशलाकाशृंगजलौकालाबूजाम्बवौष्ठपिचुप्रोतसूत्र-पत्रपट्टमधुघृतवसापयस्तैलतर्पणकषायालेपनकल्कव्यजनशीतोष्णोदककटाहादीनि, परिकर्मिणश्च स्निग्धाः स्थिरा बलवन्तः॥ (सुश्रुत सू० १९।५-६)

"शल्यकर्म को करनेवाले वैद्य को पहले से ही इतनी चीजों की व्यवस्था कर लेनी चाहिए—यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका (probes), शृंग, जलौका (जौंक), आलाबू (sucking gourd), जाम्बवौष्ठ, पिचु (रुई कापोया, swab), प्रोत, सूत्र (सीनेका धागा), पत्र, पट्ट (bandages), मधु, घृत, वसा, दूध, तैल, तर्पण, कषाय (ठंढे lotion), आलेपन (ointment), कल्क (paste), व्यजन (पंखे), गरम और ठंढा पानी, कटाह (basins) आदि और ऐसे परिचारक जो मृदुभाषी, स्थिर और हट्टे-कट्टे हों।"

शल्यकर्म के यन्त्र—सुश्रुत आदि ग्रन्थों में शल्यकर्म के लिए अनेक यंत्रों के प्रयोगों का निर्देश है। आज के शल्य-यंत्रों की दृष्टि से तो ये भोंडे प्रतीत होंगे; पर वस्तुतः यह महत्त्व की बात है कि आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व इन यंत्रों की परम्परा आरंभ हो गई थी, और सिद्धान्तरूप से यंत्र-प्रयोग आज भी वही हैं जो पहले थे; केवल उन यंत्रों की सूक्ष्मता आज बढ़ गई है। हम इन यंत्रों की एक संक्षिप्त सूची यहाँ देंगे—

---

(१७) स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे। वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः॥ (सुश्रुत सू० ३४।२४)
सुश्रुत में धाइयों का उल्लेख है—"अशंकनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्तितनखाः परिचरेयुः" (शा० १०।८) अर्थात् चार धाइयाँ बच्चा जनते समय हों, जिनके सम्बन्ध में कोई शंका न हो, और जो प्रौढ़ उमर की हों, प्रजननकुशल हों और जिनके हाथों के नख कटे हों।

स्वस्तिकयन्त्र—ये २४ प्रकार के होते थे। इनमें ९ तो बनैले जानवरों की मुखाकृति के—१. सिंहमुख, २. व्याघ्रमुख, ३. वृकमुख, ४. तरक्षुमुख, ५. ऋक्षमुख, ६. द्वीपिमुख, ७. मार्जारमुख, ८. शृगालमुख, ९. मृगैर्वारुकमुख। १५ पक्षियों की मुखाकृति के—काकमुख, कंकुमुख, कुररमुख, चासमुख, भासमुख, शशघातीमुख, उलूकमुख, चिल्लिमुख, श्येनमुख, गृध्रमुख, क्रौञ्चमुख, भृङ्गराजमुख, अञ्जलिकर्णमुख, अवभञ्जनमुख, और नन्दीमुखमुख। इनसे हड्डी निकालते थे।

संदंशयन्त्र (संडासी, forceps)—ये १६ अंगुल माप के त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु आदि खींचकर निकालने के लिए होते थे। ये दो प्रकार के थे—संनिग्रह और अनिग्रह।

तालयन्त्र—ये १२ अंगुल के कान, नाक की हड्डी के आहार्य्य (extraction) के लिए होते थे। ये मत्स्यताल के समान एकतालक और द्वितालक दो प्रकार के होते थे।

नाडीयन्त्र—ये अनेक प्रकार के अनेक प्रयोजनों के लिए होते थे जिनमें से किन्हीं के एक ओर मुख (एकतोमुख) और किन्हीं के दोनों ओर (उभयतोमुख) होता था। इनके कुछ प्रयोग ये थे—रोगदर्शनार्थ, आचूषणार्थ, क्रियासौकर्यार्थ। भगन्दर, अर्श, व्रण, वस्ति, मूत्रवृद्धि आदि में इनका प्रयोग होता था।

शलाकायन्त्र—२८ प्रकार की सलाइयाँ काम में आती थीं। गण्डूपद, सर्पफण, शरपुङ्ख, बडिशमुख, जाम्बुववदन, अंकुशवदन आदि अनेक प्रकार की।

सुश्रुत के शस्त्रावचारणीय अध्याय में शस्त्रों का उल्लेख इस प्रकार है (सूत्र ८।३)–शस्त्र बीस हैं–१. मण्डलाग्र (circular or round knife), २. करपत्र (saw), ३. वृद्धिपत्र (अंचिताग्र—scalpel; प्रयताग्र—abcess knife), ४. नखशस्त्र (nail pairs), ५. मुद्रिका (finger knife), ६. उत्पलपत्र (lancel), ७. अर्धधार (single edged knife), ८. सूची (needle), ९. कुशपत्र (bistoury), १०. आटीमुख, ११. शरारिमुख, १२. अन्तर्मुख (curved bistoury), १३. त्रिकूर्चक (तीन छोटी छोटी छुरियोंवाला), १४. कुठारिका (हथौड़ी), १५. व्रीहिमुख (trocer), १६. आरापत्र (owl like knife), १७. वेतसपत्र (narrow bladed knife), १८. बडिश (hooks), १९. दंतशंकु (tooth pilk) और २०. एषणी (sharp probes)।[१८]

इन शस्त्रों के ८ उपयोग हैं[१९]—

(१८) विंशतिः शस्त्राणि, तद्यथा—मण्डलाग्रकरपत्रवृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्धधारसूचिकुशपत्राटीमुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चककुठारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्रकबडिशदन्तशङ्क्वेषण्य इति ॥ (सुश्रुत, सूत्र० ८।३)

(१९) तत्र मण्डलाग्रकरपत्रे स्यातां छेदने लेखने च; वृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्धधाराणि छेदने भेदने च, सूचीकुशपत्राटीमुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चकानि विस्रावणे, कुठारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्रकाणि व्यधने सूची च, बडिशं दन्तशंकुश्चाहरणे एषण्येषणे आनुलोम्ये च, सूच्यः सीवने, इत्यष्टविधे कर्मण्युपयोगः शस्त्राणां व्याख्यातः ॥ (सुश्रुत सूत्र० ८।४)

१. छेदन और २. लेखन में —मण्डलाग्र और करपत्र
३. भेदन और छेदन में —वृद्धिपत्र, नखशस्त्र, मुद्रिका, उत्पलपत्र और अर्धधार
४. विस्रावण में —सूची, कुशपत्र, आटी (आरी) मुख, शरारिमुख, अन्तर्मुख और त्रिकूर्चक
५. व्यधन में —कुठारिका, व्रीहिमुख, आरापत्र, वेतसपत्र और सूची
६. आहरण में —बडिश और दन्तशंकु
७. एषण और आनुलोम्य में —एषणी
८. सीवन में (सीने में) —सूई

सुश्रुत में इन शस्त्रों को पकड़ने की विधि भी दी है। इन शस्त्रों में नखशस्त्र और एषणी आठ अंगुल होते हैं। मुद्रिका प्रदेशिनी की नाप की होती है। शरारिमुख-शस्त्र दस अंगुल लम्बा है, उसे कर्त्तरी (कैंची) भी कहते हैं। नखशस्त्र, एषणी और सुई को छोड़कर शेष सब शस्त्र छः अंगुल हैं।[२०]

ये सब शस्त्र सुग्रह (पकड़ने में ठीक), सुलोह (अच्छी धातु के), सुधार, सुरूप, सुसमाहित मुखाग्र, अकराल (दाँतेरहित)–इन गुणोंवाले होने चाहिए। वक्र, कुंठ, खंड, खरधार, अतिस्थूल, अतिअल्प, अतिदीर्घ, अतिह्रस्व—ये शस्त्रों के आठ दोष हैं।[२१]

उपयन्त्र—ये सहायक उपकरण हैं—रज्जु, वेणिका, पट्ट, चर्मान्त, वल्कल, लता, वस्त्र, अष्ठीलाश्म, मुद्गर, पाणितल, पादतल, अंगुलि, जिह्वा, दन्त, नख, मुख, बाल, अश्वकटक, शाखा, ष्ठीवन, प्रवाहण, हर्ष, अयस्कान्तमय, क्षार और अग्नि-भेषजयन्त्र।

जिस रोगी की शल्यक्रिया होती थी, उसकी शय्या 'असंबाध' (अर्थात् जिससे कोई कष्ट न हों) होनी चाहिए, मनोज्ञ और स्वास्तीर्ण (अच्छे सुखदायी बिछौने से युक्त) होनी चाहिए। रोगी का शिर पूर्व की ओर होना चाहिए—

तस्मिन् शयनमसंबाधं स्वास्तीर्णं मनोज्ञं प्राक्शिरस्कं सशस्त्रं च कुर्वीत ॥ (सुश्रुत सू० १९।५)।

व्रणों की सिलाई (Stitching)—सुश्रुत ने व्रणों को सीने के लिए निम्न धागे या सूत्र बताए हैं—सूक्ष्म सूत्र, वल्क, अश्मन्तक, शणज-सूत्र (सन), क्षौमसूत्र (रेशम), स्नायु (cat-cut) बाल, अथवा मूर्व, एवं गिलोय की बेल के धागों से—

(२०) तत्र नखशस्त्रैषण्यावष्टाङ्गुले सूच्यो वक्ष्यन्ते (प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रदेशप्रमाणा मुद्रिका, दशांगुला शरारिमुखी सा च कर्त्तरीति कथ्यते)। शेषाणि तु षडंगुलानि ॥ (सुश्रुत, सूत्र० ८।७)

(२१) तानि सुग्रहाणि, सुलोहानि, सुधाराणि, सुरूपाणि, सुसमाहितमुखाग्राणि, अकरालानि, चेति शस्त्रसंपत् ॥ (सुश्रुत, सूत्र० ८।८)
तत्र वक्रं, कुण्ठं, खण्डं, खरधारमतिस्थूलमत्यल्पमतिदीर्घमतिह्रस्वमित्यष्टौ शस्त्रदोषाः ॥ (सुश्रुत, सूत्र० ८।९)

ततो व्रणं समुन्नम्य स्थापयित्वा यथास्थितम् ।
सीव्येत् सूक्ष्मेण सूत्रेण वल्केनाश्मन्तकस्य वा ॥
शणजक्षौमसूत्राभ्यां स्नाय्वा बालेन वा पुनः ।
मूर्वागुडूचीतानैर्वा सीव्येद् वेल्लितकं शनैः ॥

(सुश्रुत, सूत्र० २५।२०–२१)

सीना चार प्रकार का है–वेल्लित, गोफणिका, तुन्नसेवनी और ऋजुग्रंथि (२५।२२)। सुइयाँ भी तीन प्रकार की बताई गई हैं—

(१) अल्पमांसवाले प्रदेश में और सन्धियों में सीने के लिए सुई गोल, दो अंगुल लम्बी होनी चाहिए (**देशेऽल्पमांसेसन्धौ च सूची वृत्ताङ्गुलद्वयम्**)।

(२) मांसल स्थानों के लिए तिकोनी, तीन अंगुल लम्बी होनी चाहिए (**आयता त्र्यंगुला त्र्यस्रा मांसले चाऽपि पूजिता**)।

(३) मर्मस्थान, फलकोश (अंडकोष) और उदर पर सिलाई के लिए धनुष के समान वक्राकार होनी चाहिए (**धनुर्वक्राहिता मर्मफलकोशोदरोपरि**) (२५।२३–२४)।

सिलाई करने के बाद रेशम के वस्त्र और रुई से व्रण को ढाँक देना चाहिए (**अथ क्षौमपिचुच्छन्नं सुस्यूतं प्रतिसारयेत्**) (२५।२७)।

बन्ध और व्रणबन्धन (Bandage and Bandaging)—चोट और घावों पर पट्टियाँ बाँधने की परम्परा हमारे देश में बहुत पुरानी है। सुश्रुत में स्पष्ट लिखा है कि व्रणों पर पट्टी के न बाँधने से दंश (डाँस, वनमक्षिका), मशक (मच्छर), तिनका, लकड़ी, पत्थर और धूल इनके पड़ने के कारण एवं शीत, हवा, धूप आदि के कारण व्रणों के दूषित हो जाने की आशंका रहेगी, अनेक प्रकार की वेदनाएँ और उपद्रव रहेंगे, और यही नहीं, व्रणों पर लगे आलेप सूख जायँगे।[२२]

बन्धन द्वारा ये व्रण शीघ्र भरते हैं—चूर्णित, मथित, भग्न, विश्लिष्ट (सन्धिच्युत), अतिपातित (स्थान से लटकते हुए), अस्थिच्छिन्न, स्नायुछिन्न और सिराच्छिन्न। बन्धन ठीक से हो जाने पर व्रणी मनुष्य सुख से सोता है, सुखपूर्वक चलता-बैठता है, शय्या और आसन पर बैठने में भी उसे कष्ट नहीं होता।[२३]

इस व्रण-बन्धन (पट्टियाँ बाँधने में) निम्नलिखित पदार्थ काम में लाए जाते थे—क्षौम(सन), कर्पास (कपास), आविक (ऊन), दुकूल (साधारण पट्ट-वस्त्र), कौशेय

---

(२२) अवध्यमानो दंशमशकतृणकाष्ठोपलपांशुशीतवातातपप्रभृतिभिर्विशेषैरभिहन्यते व्रणः, विविधवेदनोपद्रवैश्च दुष्टतामुपैति, आलेपनादीनि चास्य विशोषमुपयान्ति॥ (सू० १८।२९)

(२३) चूर्णितं मथितं भग्नं विश्लिष्टमतिपातितम् ।
अस्थिस्नायुसिराच्छिन्नमाशु बन्धेन रोहति ॥
सुखमेवं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति ।
सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः ॥ (सू० १८।३०–३१)

(रेशम), पत्रोर्ण (टसर या श्वेत रेशम), चीनपट्ट (चीन देश का कपड़ा), चर्म, अन्तर्वल्कल (भूर्जपत्र या छाल आदि), अलाबू-शकल (तुम्बीफल का टुकड़ा), लता, बिदल (बाँस की खपच्चट आदि), रज्जु (रस्सी या डोरी), तूलफल, सन्तानिका, धातुएँ (लौह) । व्याधि और काल के अनुसार इनका प्रयोग करना चाहिए ।[२४]

सुश्रुत में १४ प्रकार के व्रणबन्धन (bandaging) बताए हैं—कोश (कोशाकाकृति), दाम (दामाकृति), स्वस्तिक, अनुवेल्लित, उत्तोली, मण्डल, स्थगिका, यमक, खट्वा, चीन, विबन्ध, वितान, गोफण और पञ्चांगी । इनके नाम से ही इनकी आकृतियाँ स्पष्ट हैं ।[२५]

कौन पट्टी कहाँ बँधे, इसका विवरण सुश्रुत में इस प्रकार है—

१. कोश—अंगुली और अंगूठे के पर्वों में(**कोशमंगुष्ठांगुलिपर्वसु विदध्यात्**)।

२. दाम—अंग के समीपवाले प्रदेश में जहाँ दूसरा बन्ध न आ सके, जैसे अक्षकास्थि में (**दामसंबाधेऽङ्गे**) ।

३. स्वस्तिक—सन्धि, कूर्चक, भ्रू, स्तन और हाथ पैर के तलुओं में (**सन्धिकूर्चकभ्रूस्तनान्तरतलकर्णेषु स्वस्तिकम्**) ।

४. अनुवेल्लित—हाथ-पाँव में (**अनुवेल्लितं शाखासु**) ।

५. उत्तोली या प्रतोली—ग्रीवा और शिश्न में (**ग्रीवामेढ्योः प्रतोलीम्**) ।

६. मण्डल—गोल अंगों में जैसे उदर, ऊरु आदि (**वृत्तेऽङ्गे मण्डलम्**) ।

७. स्थगिका—अंगुष्ठ, अंगुलि और शिश्न के अग्रभाग में (**अंगुष्ठांगुलिमेढाग्रेषु स्थगिकाम्**) ।

८. यमक—संयुक्त व्रणों में (**यमलव्रणयोर्यमकम्**) ।

९. खट्वा—हनु, शंखप्रदेश और गण्डस्थल में (**हनुशंखगण्डेषु खट्वाम्**) ।

१०. चीन—नेत्रप्रान्तों में (**अपाङ्गयोश्चीनम्**) ।

११. निबन्ध—पृष्ठ, उदर और उर में (**पृष्ठोदरोरःसु विबन्धम्**) ।

१२. वितान—मूर्धा में (**मूर्धनि वितानम्**) ।

१३. गोफण—चिबुक, नासिका, ओष्ठ, अंस और वस्ति में (**चिबुकनासौष्ठांसबस्तिषु गोफणाम्**) ।

१४. पंचांगी—जत्रु अर्थात् अंस और वक्ष प्रदेश की सन्धि के ऊपर (**जत्रुण ऊर्ध्वं पञ्चांगीम्**) (**सू० १८।१८**) ।

इन पट्टियों के बाँधने के अन्य विस्तार भी सुश्रुत के इसी अध्याय में दिए गए हैं ।

---

(२४) अत ऊर्ध्वं व्रणबन्धनद्रव्याण्युपदेश्यामः । तद्यथा—क्षौमकार्पासाविकदुकूलकौशेयपत्रोर्णचीनपट्टचर्मान्तर्वल्कलालाबूशकललताविदलरज्जुतूलफलसन्तानिकालौहानीति; तेषां व्याधिं कालं चावेक्ष्योपयोगः । (सू० १८।१६)

(२५) तत्र कोशदामस्वस्तिकानुवेल्लितमुत्तोलीमण्डलस्थगिकायमकखट्वाचीनविबन्धवितानगोफणाः पञ्चाङ्गी चेति चतुर्दशबन्धविशेषाः । तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः । (सू० १८।१७)

विकेशिका—यह वस्त्र या धागे से बनाई उस बत्ती का नाम है जिसमें घी और मधु लगाया जाता है, और जो सड़े व्रणों में भरी जाती है। यह विकेशिका न अधिक स्निग्ध और न अधिक रुक्ष होनी चाहिए। घाव में न यह बहुत ढीली रक्खी जाय और न बहुत कसी। यदि यह अति स्निग्ध होगी, तो इसके कारण क्लेद होगा, और यदि यह अति रुक्ष होगी तो छेदन और बुरी तरह डालने पर व्रणमुख का अवघर्षण होगा।[२६]

आलेप (ointments) **और आलेपन**—आलेपन इस देश की बड़ी पुरानी परम्परागत प्रथा है। चरक ने कुष्ठ रोग के निवारण के लिए जहाँ सर्पिप्रयोग (घी देना), वमन (vomition) कराना, विरेचन, रक्तमोक्ष[२७], प्रच्छन (incision in the skin), सिराव्यधन (venesection),[२८] आस्थापन बस्ति (corrective enema)[२९], अनुवासन (unctuous enema)[३०], नस्य (nasal medication)[३१], वैरेचनिक धूम्रप्रयोग (errhine smoke)[३२], प्रस्तरस्वेद (sweating by hot beds), नाड़ीस्वेद (steam-kettle sweating), कूर्चयन्त्र से घर्षण करके रक्त के उत्क्लेश का निवारण[३३], अथवा तीक्ष्ण शस्त्र से उभरे हुए कुष्ठ का विलेखन (scraping)[३४], रक्तस्राव के लिए शृङ्ग या अलाबू का प्रयोग, या जौंकों (leeches) का प्रयोग[३५], और क्षार (caustics) का प्रयोग[३६], और इसी प्रकार से अन्य प्रयोग बताए हैं, वहीं इसकी चिकित्सा के लिए अनेक प्रकार के लेपों का भी निर्देश किया है। इन लेपों में घी से बने लेप मुख्य

(२६) न च विकेशिकौषधे अतिस्निग्धे अतिरूक्षे विषमे वा कुर्वीत, यस्मादतिस्नेहात् क्लेदो रौक्ष्याच्छेदो दुर्न्यासाद् व्रणवर्त्मावघर्षणमिति ॥ (सू० १८।२१)

(२७) वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु ।
पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे ॥
शीतरसः पञ्चरसो मधूनि मधुकं च वमनानि ।
कुष्ठेषु त्रिवृता दन्ती त्रिफला च विरेचने शस्ता ॥ चरक, चिकित्सा, ७।३९,४४॥

(२८) प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शस्तं सिराव्यधनम् ॥ वही, ७।४०॥

(२९) सस्नेहैरास्थाप्यः कुष्ठी ॥ वही, ७।४६॥

(३०) वातोल्वणं विरिक्तं निरूढमनुवासनार्हमालक्ष्य ॥ वही, ७।४७ ॥

(३१) नस्यं स्यात् सविडङ्गं क्रिमिकुष्ठकफप्रकोपघ्नम् ॥ वही, ७।४८ ॥

(३२) वैरेचनिकैर्धूमैः श्लोकस्थानेरितैः प्रशाम्यन्ति ॥ वही, ७।४९ ॥

(३३) स्थिरकठिनमण्डलानां स्विन्नानां प्रस्तरप्रणाडीभिः ।
कूर्चैर्विघट्टितानां रक्तोत्क्लेशोऽपनेतव्यः ॥ वही, ७।५० ॥

(३४) स्विन्नोत्सन्नं विलिखेत् कुष्ठं तीक्ष्णेन शस्त्रेण ॥ वही, ७।५१ ॥

(३५) रुधिरागमार्थमथवा शृंगालाबूनि योजयेत् कुष्ठे ।
प्रच्छितमल्पं कुष्ठं विरचयेद्वा जलौकोभिः ॥ वही, ७।५२ ॥

(३६) तेषु निपात्यः क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्य ॥ वही, ७।५४ ॥

हैं। इलायची, सौंफ, चित्रक, वायविडंग, रसाञ्जन, पलाश-क्षार, गोमूत्र, जटामांसी, मिर्च, लवण, हलदी, गृहधूम (घर की कज्जल), त्रपु, वंग, सीस और लोहे के चूर्ण, आटे की पिट्ठी (पिष्ट) और किण्व का प्रयोग इन लेपों में होता था।[३७]

विसर्प चिकित्सा में भी चरक ने अनेक प्रकार के प्रदेह और प्रलेपों का वर्णन दिया है (चरक, चिकित्सा १९।७१–१०७) जिनका विस्तारभय से हम उल्लेख नहीं करना चाहते। यह भी लिखा है कि ये लेप एक तिहाई अँगूठे के बराबर मोटे होने चाहिए; पर ये न तो अति-स्निग्ध हों न रुक्ष, और न अधिक गाढ़े या ठोस (पिण्ड) और न बहुत पतले या द्रव। बासी या पुराने लेप के ऊपर ही दूसरा लेप न करना चाहिए।[३८] एक ही लेप से दुबारा लेपन नहीं करना चाहिए। पट्टी या कपड़े के ऊपर किया हुआ लेप गरमी रुक जाने के कारण क्लेद, विसर्प और शूल उत्पन्न करता है, और इससे पिडक (फुन्सियाँ) (pimples) और खुजली उत्पन्न हो जाती है। एक लेप के ऊपर दूसरा लेप करने से भी यही दोष उत्पन्न होते हैं। यदि लेप अतिस्निग्ध और अतिद्रव होंगे तो ये त्वचा से ठीक से चिपकेंगे नहीं, और दोष का शमन न होगा। पतले लेप शीघ्र सूख जावेंगे, और सूखने पर फट जावेंगे अतः वे और अधिक कष्ट देंगे। (२१।१०२-१०६)

सुश्रुत ने चरक की परम्परा में व्रणलेपनका अच्छा वर्णन दिया है।[३९] इसे सब उपायों में शीघ्र पीड़ाहर माना है। शुष्क आलेप पीड़ा देते हैं, अतः उनको सुश्रुत

(३७) एला कुष्ठं दार्वी शतपुष्पा चित्रको विडङ्गश्च।
कुष्ठालेपनमिष्टं रसाञ्जनं चाभया चैव ॥ वही, ७।८४ ॥
मांसी मरिचं लवणं रजनी तगरं सुधागृहाद्धूमः।
मूत्रं पित्तं क्षारः पालाशः कुष्ठहा लेपः ॥
त्रपुसीसमयश्चूर्णं मण्डलनुत् फल्गुचित्रकौ बृहती।
गोधारसः सलवणो दारु च मूत्रं च मण्डलनुत् ॥
कदलीपलाशपाटलिनिचुलक्षाराम्भसा प्रसन्नेन।
मांसेषु तोय कार्यं च पिष्टे च किण्वे च ॥ वही, ७।८७–८९ ॥

(३८) त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रः स्यात् प्रलेपः कल्कपेषितः ॥ वही, २१।१०० ॥
नातिस्निग्धो न रूक्षश्च न पिण्डो न द्रवः समः।
न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत् ॥ वही, २१।१०१ ॥

(३९) आलेप आद्य उपक्रमः। एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च; तं च प्रतिरोगं वक्ष्यामः; ततो बन्धः प्रधानं, तेन शुद्धिर्व्रणरोपणमस्थिसन्धिस्थैर्यं च ॥ ३ ॥
तत्र प्रतिलोममालिम्पेत्। प्रतिलोमे हि सम्यगौषधमवतिष्ठतेऽनुप्रविशति च रोमकूपान् स्वेदवाहिभिश्च सिरामुखैर्वीर्यं प्राप्नोति ॥ ४ ॥
न च शुष्यमाणमुपेक्षेत, अन्यत्र पीडयितव्यात्, शुष्को ह्यपार्थको रुक्करश्च ॥५॥
स त्रिविधः—प्रलेपः प्रदेह आलेपश्च, प्रलेप प्रदेहयोरन्तरं—तत्र प्रलेपः शीतस्तनुरविशोषी विशोषी वा, प्रदेहस्तूष्णः शीतो वा बहलोऽबहुरविशोषी च, मध्यमोऽत्रालेपः ॥………यस्तु क्षतेषूपयुज्यते स भूयः कल्क इति संज्ञां

ने अच्छा नहीं समझा। ये आलेप रोमों के अभिमुख (प्रतिलोम) लगाने चाहिए। यदि ये प्रतिलोम लगाए जाएँगे तभी ओषधि भली प्रकार स्थिर होगी और अन्दर प्रविष्ट हो सकेगी। सुश्रुत ने आलेप तीन प्रकार के माने हैं—प्रलेप, प्रदेह और आलेप। (१) प्रलेप शीतल, पतले और अपीडितव्य व्रण में अविशोषि (न सूखनेवाले) और पीडितव्य व्रण में विशोषि (सूखनेवाले) होते हैं। (२) प्रदेह उष्ण (वात-कफ-बहुल व्रण में), और शीत (पित्त-रक्त-प्रधान व्रण में), बहल (स्थूल), और बहुत न सूखनेवाला होता है। (३) आलेप प्रलेप और प्रदेह के बीच का है।

सुश्रुत के अनुसार जो आलेप क्षतजन्य व्रणों में प्रयुक्त होता है उसको 'कल्क' और 'निरुद्धालेपन' भी कहते हैं; क्योंकि इस आलेप से रक्तस्राव रुक जाता है, व्रणों में कोमलता आती है, सड़ा मांस दूर हो जाता है, और पूय बाहर आ जाता है, और इस प्रकार व्रण का शोधन होता है।

आलेप कितना मोटा हो, इस सम्बन्ध में सुश्रुत ने कहा है, कि भैंस के गीले चमड़े की मोटाई के बराबर मोटा आलेप हो। सुश्रुत ने यह भी कहा है कि आलेप रात में नहीं लगाना चाहिए; क्योंकि रात में आलेप की शीतलता से उष्मा भीतर ही रुक जायगी। शेष अन्य विस्तारों में सुश्रुत ने चरक के भावों का समर्थन किया है।

चरक ने आलेप में प्रयुक्त होनेवाले घी को बार-बार धोने का आदेश दिया है। कभी-कभी तो इस घी को १०० बार धोना पड़ता था।[४०] कुष्ठ के रोगी के लिए यह भी बताया है कि वह आलेप लगाकर धूप में बैठे।[४१] सूर्य्य-चिकित्सा का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

उपकल्पनीय संभार—यों तो सुश्रुत में रोगी के कमरे में अस्पताल की सामग्री होनी चाहिए, इसका विस्तृत विवरण है। चरक ने भी अस्पताल की सामग्री (संभार) का अच्छा वर्णन दिया है, जिसका संक्षेप में यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। हम इस सामग्री की तुलना आज के अस्पतालों की सामग्री से कर सकते हैं।

"वास्तुविद्याकुशल पुरुष को चाहिए कि इस प्रकार का दृढ मकान बनावे जिसमें केवल एक ओर से हवा आवे, और सब ओर से निवात हो; जिसमें सुखपूर्वक आना-जाना हो सके, जिसके चारों ओर ऊँची दीवारें न हों, जिसमें धूप, धुआँ,

---

लभते, निरुद्धालेपनसंज्ञः, तेनास्रावसन्निरोधोमृदुतापूतिमांसापकर्षणमनन्तर्दोषता व्रणशुद्धिश्च भवति ॥ ६ ॥

तस्य प्रमाणं महिषार्द्रचर्मोत्सेधमुपविशन्ति ॥११॥

न चालेपं रात्रौ प्रयुञ्जीत मा भूच्छैत्यविहतोष्मणस्तदनिर्गमाद्विकारप्रवृत्तिरिति ॥१२॥ (सुश्रुत, सू० १८।२-१२)

(४०) शतावरीविदार्योश्च कन्दौ धौतघृताप्लुतौ ॥८४॥
घृतेन शतधौतेन प्रदिह्यात् केवलेन वा ॥९३॥ (चरक, चिकित्सा, २१)

(४१) तेनालिप्तं सिध्मं सप्ताहाद्व्येति तिष्ठतो घर्मे ॥११८॥
तं पीत्वा सुस्निग्धो यथाबलं सूर्यपादसंतापम्।
संसेवेत विरिक्तस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत् पेयाम् ॥१६३॥ (चरक, चिकित्सा, ७)

जल, धूल आदि न आवें और जहाँ अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध भी न हो। इसमें एक कमरा पानी के भंडारे का, एक खलमूसल का (कूटने-पीसने का), एक वर्चस्थान (पाखाना), एक स्नानागार और एक महानस (रसोईघर) हो।

इस औषधालय में शुद्ध, शीलवान, आचारवान, स्नेह करनेवाले, कुशल सूपौदन-पाचक (दालभात पकानेवाले), स्नापक (स्नान करानेवाले), संवाहक (अङ्ग दबानेवाले), उत्थापक (शय्या से उठानेवाले), संवेशक (सुलानेवाले) और औषधपेषक (दवा पीसनेवाले) परिचारक हों।

इस औषधालय में गीतवादित्रोल्लापक (गाने, बजाने और स्तोत्र पढ़नेवाले) तथा गाथाख्यायिकेतिहासपुराणकुशल व्यक्ति भी हों।

औषधालय में लाव, कपिञ्जल, शश, हरिण, एण, कालपुच्छक, मृगमातृका, उरभ्र और अच्छे बछड़ेवाली गायें हों और इनके रहने और चरने के लिए स्थान तथा पीने के लिए पानी का प्रबन्ध हो।

इसके अतिरिक्त पात्री, आचमनी, उदकोष्ठ (जल भरने का कण्डाल), मणिक (मटका), घट (घड़ा), पिठर (थाली), पर्योग (कढ़ाई), कुम्भी, कुम्भ, कुण्ड, शराव (saucer), दर्वी (कड़छी), कट (चटाई), उदञ्चन (ढकना), परिपचन (पकाने का पात्र), मन्थान (मथनी), चर्म, चेल (वस्त्र), सूत्र, कार्पास, ऊर्ण (ऊन) आदि हों।

शय्या के निकट भृंगार (गंगासागर) और प्रतिग्रह (पीकदान), शय्या पर सुव्यवस्थित आस्तरण (बिछौना), उत्तर प्रच्छद (ओढ़ना) और उपधान (तकिया) हों। संवेशन (लेटने), उपवेशन (बैठने), स्नेहन (तेल लगाने), स्वेदन, अभ्यंग, प्रदेह, परिषेक, अनुलेपन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन, मूत्र, उच्चार (मलत्याग) आदि कर्मों के लिए उचित शय्या और आसन होने चाहिए।

अच्छी तरह प्रक्षालित उपधान और दृषद (सिल-बट्टा) और खरमध्यम (खुरदरी) शिलाएँ होनी चाहिए। धूमनेत्र (धूमनली), वस्तिनेत्र (बस्तिनली—enema tube), उत्तर बस्तिक, कुशहस्तक (बुहारनी), तुला (तराजू) और मानभाण्ड (नापने के पात्र) होने चाहिए।

घृत, तैल, वसा, मज्जा, मधु, फाणित (राब), लवण, इन्धन, उदक (पानी), मधु (मीठे पदार्थ या मधुसेवनी शराब), सीधु (शराबविशेष), सुरा, सौवीरक शराब, तुषोदक, मैरेय, मेदक (शराबें), दधि, दधिमंड (दही का मांड), उदश्वित (दही का घोल), धान्याम्ल (sour gruel) और गाय आदि का मूत्र होना चाहिए।

शालि और षष्टिक चावल, मूँग, उड़द, जौ, तिल, कुलथी, बेर, मृद्वीका (मुनक्का), काश्मर्य (गम्भारी के फल), परूषक (फालसा), अभया (हरड़), आँवला, विभीतक (बहेड़ा) आदि पदार्थों का संग्रह होना चाहिए।" (चरक, सू० १५।६-७)

यह विस्तार इस बात का प्रमाण है कि रोगी की परिचर्या के लिए जितनी भी सामग्री की आवश्यकता होती है, सभी को पहले से ही सुव्यवस्थित कर लेना चाहिए।

ऐसी सुव्यवस्था की परम्परा हमारे देश में कितनी पुरानी है, यह हमारे लिए गौरव की बात है।

यूनानियों का आयुर्वेद पर प्रभाव

भारतीय आयुर्वेद-पद्धति और यूनानी आयुर्वेद-पद्धति में बड़ी समानता है। जौली (Jolly) ने अपने ग्रन्थ 'Medicine' (पृ० ७७९) में भारतीय आयुर्वेद का सम्बन्ध न केवल यूनान से, प्रत्युत अरब, चीन और फारस से भी स्थापित किया है। वात-कफ-पित्त का त्रिदोष-सिद्धान्त (doctrine of humours) दोनों देशों के आयुर्वेद में पाया जाता है। वात-कफ-पित्त के समन्वय में न रहने से ही रोग उत्पन्न होते हैं, ऐसी कल्पना दोनों देशों में थी। अन्य समानताएँ इस प्रकार की गिनाई जाती हैं—(१) ज्वर और अन्य व्याधियों की तीन स्थितियाँ जो यूनानी त्रिक् ग्रीक शब्द (apesia, pesis and krisis) से सूचित होती है; चरक में भी ज्वर का पूर्वरूप, ज्वर का अधिष्ठान और ज्वर का प्रत्यात्मिक लिंग ये तीन ही हैं। (२) रोग का शमन जिन विधियों से होता है, उन्हें भारतीय और यूनानी दोनों तन्त्रों में शीत-उष्ण (cold and hot) और शुष्क-स्निग्ध (dry and oily) इन विभागों में विभक्त किया है। (३) विरोधी प्रवृत्तियोंवाले उपायों से रोगों का शमन होता है, ऐसा दोनों मानते हैं। (४) हिप्पोक्रेटीज और भारतीय दोनों के रोगलक्षण परीक्षण (prognosis) की विधि एक-सी है। (५) वैद्यों और चिकित्सकों को जो शपथ लेनी होती है, और उनके लिए जो आचार-नियम हैं, वे दोनों में एक-से हैं। (६) स्वास्थ्य पर ऋतुओं का प्रभाव पड़ता है, इसका महत्त्व दोनों मानते हैं, (७) अन्येद्युष्क (quotidian), तृतीयक (tertiary), चतुर्थक (quartan) ज्वरों का दोनों में एक-सा उल्लेख है। (८) दोनों तन्त्रों में क्षयरोग या यक्ष्मा का एक-सा उल्लेख है और बहुत महत्त्व दिया है, यद्यपि हृदयरोग का विशेष उल्लेख नहीं है। (९) गर्भ-स्थिति के भी दोनों तन्त्रों में एक-से वर्णन हैं, दोनों में जुड़वा बच्चे होने और समागम की एक-सी ही विधियों के उल्लेख हैं। दोनों यह मानते हैं कि आठवें महीने गर्भ में ओज आता है (viability), न कि सातवें। मृत भ्रूण के निकालने में भी समानता है। (१०) शल्यकर्म भी दोनों के एक-से हैं। भेदन, छेदन और जोंक के प्रयोग दोनों में एक-से हैं। शल्ययंत्रों में भी समानता है।

इतना होते हुए भी यह कहना कठिन है कि किससे किसने कितना लिया। हो सकता है कि दोनों देशों में स्वतन्त्र रूप से ही एक-सा विकास हुआ हो, बहुतों का विचार है कि त्रिदोष का सिद्धान्त आयुर्वेद में ग्रीस से आया। कीथ का इस संबंध में यह विचार है—"The doctrine of three humours, which at first sight might be held to be definitely Greek, is in close connexion with the Samkhya system of the three Gunas or constituents; moreover, one of the humours, wind, is already known in the Atharvaveda and the Kaucika Sutra is alleged by the comment, perhaps with

justification, to have recognized the doctrine of three, wind, bile and phlegm." इस प्रकार कीथ के अनुसार त्रिदोषवाद का सिद्धान्त सांख्य के सत्व, रजस् और तमस् इन त्रिगुणों के समान भारत में ही हुआ (अथर्व में वात पर पूरा सूक्त है)। कीथ का यह विचार है कि चरक के समय मानवशरीर की शल्य-क्रिया नहीं होती थी, और इसीलिए उसकी संहिता में इस संबंध में कोई स्वतन्त्र अध्याय नहीं है। पर यूनान में ईसा से तीसरी शताब्दी पूर्व हीरोफिलोस (Herophilos)और इरेसिस्ट्रेटोस (Erasistratos) के लेखों में शल्यकर्म का निश्चित विधान है।[४२] अस्थियों का जितना अच्छा और सूक्ष्म विवरण ईसा से पूर्व १-२ शताब्दी सेलसस (Celsus) आदि के ग्रन्थों में है, उतना इस देश के उस समय के ग्रन्थों में नहीं। यूनानियों ने इस देश की अनेक ओषधियों को अपनी चिकित्सा में अपनाया; पर उनका अस्थिज्ञान और शल्यज्ञान इस देश के ज्ञान से अधिक विस्तृत था, ऐसा कुछ लोगों का विचार है।

गन्धक और पारद—नये युग के प्रवर्त्तक—चरकसंहिता में ओषधियों और वनस्पतियों की विस्तृत संख्या है; पर रस और भस्मों का प्रयोग उस समय अधिक प्रचलित न था, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। कुछ प्राकृतिक पार्थिव द्रव्यों (खनिज आदि) का प्रयोग अवश्य होता था; पर रसायन तैयार करने की प्रथा प्रख्यात नहीं हुई थी। चरक में निम्नलिखित पार्थिव द्रव्यों का उल्लेख है—

अगारधूम, अग्र्यलवण, अञ्जन, अद्रिजतु, अमृतासंग, अमृतासंज्ञ, अयस् (अयस्गुड, अयस्चूर्ण, अयस्मल, अयस्रज), अयस्कृति, अर्क (मणिविशेष), अल, अश्मन्, अश्मकासीस, अश्मघन, अश्मजतु, अश्ममयीशिला, आनूप (लवण), आयस (शिलाजतु), आल, इष्टका, ऊषर, औद्भिद, कनक, कर्केतन, काच, काञ्चन, काञ्चनगैरिक, काललवण, काललोह, काललोहरजस्, कालायस, कालोत्थलवण, कासीस, कांक्षी, कांस्य, कूप्य, कृष्णामृत्, कृष्णमृत्तिका, कृष्णसिकता, कृष्णायस, गजमौक्तिक, गन्ध, गन्धक, गरमणि, गिरिज, गृहधूम, गैरिक, जतु, ताप्य, ताम्र, ताम्रशिलाजतु, ताम्ररजस्, तीक्ष्णायस, तुत्थ, त्रपु, धूम, पक्वलोष्ठ, पांक्य, पाटेयक, पाषाण, पांशु, पांशुज, पिचुक, पुष्करिणीमृत, पौष्पाञ्जन, प्रवाल, भस्म, मणि, मण्डूर, मनःशिला, मरकत, माक्षिक, मुक्ता, मृत्तिका, मौक्तिक, मौलक, रजस्, रजत, रत्न, रस, रसोत्तम, रीति, रुक्म, रूप्य, रूप्यशिलाजतु, रोमक, रोमश, लवण, लेलीतक, लोमश, लोष्ट, लोह, लोहितमृत, वज्र, वराटक, वल्मीकमृत्तिका, वालुक, वालुका, विड, विद्रुम, विषमूषिका, वेश्मधूम, वैदूर्य, शंख, शंखनाभि, शर, शर्करा, शिला, शिलाजतु, शिलातल, शिलाह्वय, शिलो-

(४२) Whatever was the case with Hippokrates, there is no doubt of the prevalence of dissection of the human body in the Alexadrian schools of Herophilos and Erasistratos in the third century B. C., while in India, we have no original passage in Charaka, which admits of this, though Sushruta has two chapters on surgical instruments and one on the mode of operation. (Keith : History of Sanskrit Literature, p. 514).

द्भेद, शुक्ति, सर्पमणि, सर्वलोह, ससार, सामुद्रक, सामुद्र, सार, सिकता, सीसक, सुधा, सुवर्ण, सुवर्णमाक्षिक, सूर्यकान्त, सैन्धव, सौगन्धिक, सौराष्ट्री, सौवर्चल, सौवीराञ्जन, स्फटिक, हरिताल, हिरण्य, हेम।

इस सूची में पारद का कहीं उल्लेख नहीं है। गन्धक शब्द एक बार ही निम्न-लिखित स्थल पर प्रयुक्त हुआ। पारे का पर्य्याय 'रस' का दो स्थलों पर प्रयोग है—

गन्धकयोगादथवा सुवर्णमाक्षिकयोगाद्वा।
सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम्॥
चरक, चिकि० ७।७१॥

अर्थात् कुष्ठ का रोगी रस (पारद), गन्धक और स्वर्णमाक्षिक (लोहमाक्षिक) से बने द्रव्य का सेवन करे।

इससे पहलेवाले श्लोक (७।७०) में 'लेलीतक' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ भी संभवतः गन्धक है—"लेलीतकप्रयोगो रसेन जात्याः समाक्षिकः परमः।" इस स्थल को छोड़कर 'लेलीतक' शब्द भी अन्यत्र चरक में कहीं नहीं है।

कालीयक न ताम्रास्थिहेमकालरसोत्तमैः।
लेपः सगोमयरसैः सवर्णीकरणः परः॥ चरक, चिकि० २५।११५॥

इस श्लोक में 'रसोत्तम' शब्द पारे के लिए आया है। सम्पूर्ण चरक में केवल एक बार गन्धक शब्द और पारे के अर्थ में दो बार 'रस' शब्द का प्रयोग होना आश्चर्य की बात है। मेरे विचार से ये दो श्लोक भी बाद के क्षेपक या संशोधन में कहीं से आ गए प्रतीत होते हैं। स्वर्ण, रूप्य (चाँदी), ताम्र, त्रपु (टिन, रांगा), सीसक (सीसा), लोह (अयस्) ये धातुएँ और कांस्य तथा पीतल ये मिश्र धातुएँ प्रयोग में आती थीं। गन्धक और पारे का प्रयोग रसायन में कब से आरम्भ हुआ, यह कहना कठिन है। पर यह निश्चित है कि 'चरक' और 'सुश्रुत' के बाद ही के काल में इसका प्रयोग अधिकता से होने लगा।

वनस्पति-विज्ञान

अंकुरोद्भेद—बीज में से अंकुर निकलने का नाम अंकुरोद्भेद है। 'सुश्रुत' (शारीरस्थान २।३३) में ये शब्द आते हैं—"ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादंकुरो यथा।" अर्थात् बीजांकुरण के लिए अनुकूल ऋतु, क्षेत्र, पानी और बीज इन चार चीजों की आवश्यकता है। 'षड्दर्शनसमुच्चय' पर गुणरत्न की जो टीका है, उसमें लिखा है कि "वटपिप्पलनिम्बादीनां प्रावृड्जलधरनिनादशिशिरवायुसंस्पर्शादंकुरो-द्भेदः।" (श्लोक ४९)। अर्थात् वट, पिप्पल, निम्ब आदि के बीज वर्षाऋतु में ओस और वायु के संस्पर्श में अंकुरित होते हैं।

पौधों का विवरण—अथर्ववेद (८।७।४) के एक मंत्र में पौधों का विवरण इस प्रकार है—

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि ।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः
पुरुषजीवनीः ॥

"प्रस्तृणती (फैली हुई), स्तम्बिनी (झाड़ीदार-bushy), एकशुंगा (one-spathed), प्रतन्वती (extending), ओषधियों के प्रति कहता हूँ, जो अंशुमती (rich in shoots), काण्डिनी (reed like या jointed.) और विशाखा हैं, उन्हें मैं बुलाता हूँ । ये उग्र हैं, वैश्वदेव हैं और पुरुष को जीवन देनेवाली हैं ।"

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव ।
मधुमत्पर्णं मधुमत्पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य
भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥ (अथर्व० ८।७।१२)

वृक्ष के मूल, अग्र (tips), मध्य, पर्ण (पत्ता), पुष्प इतने भागों में अतिशय मधु (मिठास) के प्रति संकेत है । आगे के एक मंत्र में "पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत" (२७) इस प्रकार के शब्द हैं । पुष्पवती (plants with flowers), प्रसूमती (plants with buds), फलिनी (plants with fruits) और अफला (plants without fruits) ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में—"एषां वैभूतानां पृथिवीरसः पृथिव्याआपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥ (६।४।१)—पंचभूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस जल, जल का ओषधियाँ, ओषधियों का पुष्प, पुष्पों का फल, फल का पुरुष और पुरुष का वीर्य है ।

विष्णुपुराण (७।३७-३९) में धान के पौधे के सम्बन्ध में अंकुर, मूल, नाल, पत्र, पुष्प, क्षीर, तुष, कोष, बीजकोश, तण्डुल और कण इतने अंगों का उल्लेख है । साधारणतया पौधे के दो अंग माने गए हैं—मूल या पाद और विस्तार । मूल या पाद के द्वारा वृक्ष भूमि से रस ग्रहण करते हैं, अतः उन्हें पादप कहा गया है । शाखाओं से लटकनेवाली जड़ों का पुराना नाम शाखा-शिफा है । सूत्र के समान लटकनेवाली जड़ें शिफा या जटा भी कहलाती हैं । इनके लटकने को अवरोह भी कहते हैं ।

पेड़ के प्रधान धड़ (stem or trunk) का नाम प्रकाण्ड है । मुख्य जड़ से लेकर उस स्थल तक का भाग जहाँ से शाखाएँ निकलना आरम्भ होती हैं, प्रकाण्ड कहलाता है । इसे स्कन्ध भो कहते हैं; क्योंकि इसके ऊपर ही शाखाओं का छत्र होता है । जिन पौधों के प्रकाण्ड अति दृढ़ होते हैं, उन्हें वनस्पति या वानस्पत्य कहते हैं । वल्ली, व्रतति या लता स्वयं नहीं खड़ी रह सकती । वल्ली नाम इसलिए है कि यह वृक्ष का वेष्टन करती है (वल्ली वेष्टयते वृक्षम्—शान्तिपर्व) । प्रतानिन भी एक प्रकार की वल्ली है । प्रकाण्डों में पर्व या ग्रन्थियाँ भी हो सकती हैं । प्रकाण्डरहित पौधे भी होते हैं जिन्हें अप्रकाण्ड या स्तम्ब कहते हैं । जिन पौधों की जड़ें और शाखाएँ छोटी होती हैं, उन्हें क्षुप कहते हैं (क्षुपः ह्रस्वशाखा शिफः) । मुख्य शाखा (primary) को स्कन्ध शाखा और अन्य गौण (secondary and tertiary) को प्रशाखा,

प्रतिशाखा या अनुशाखा कहते हैं (विष्णुपुराण ३।४।२५)। शाखाविहीन धड़ या तना को स्थाणु या शंकु कहते हैं, वृक्ष की चोटी को शिरस्, अग्र या शिखर कहते हैं।

दूसरे पौधों के ऊपर उगनेवाले पौधों को (वृक्षोपरि वृक्ष) 'परगाछा' कहते हैं। परोपजीवी पौधों (parasites) को वृक्षादनी (cascuta) कहते हैं। वृक्षों में से जो दूसरे पौधे अंकुरित हों (epiphytes), उन्हें 'वृक्षरुहा' कहते हैं। ये पौधे अपना भोजन मुख्य पौधे से नहीं ग्रहण करते, केवल ये उसके आश्रित रहते हैं (जैसे गुडुचि), इन्हें छिन्नरुहा भी कहते हैं।

भारतीय वनस्पतिज्ञों ने निम्नस्तर की वनस्पतियों (जैसे जलनीली या शैवाल—mosses and algae) का अधिक विवरण नहीं दिया। कुकुरमुत्ता (mushroom) का नाम छत्रा या छत्रक दिया है। यह वेणु, पलाल, गन्ने, या गोबर (करीष) पर उगता है—

उद्भिदानि पलालेक्षुकरीषवेणुक्षितिजानि (सुश्रुत, सूत्र० ४६।२९३)।

पृथ्वी के नीचे रहनेवाले तनों और मूलों को 'कन्द' कहते हैं। ये जड़ के समान हैं, न कि स्वयं जड़ (यन्मूलमेव बीजं स कन्दः)। इनके सुश्रुत में उदाहरण ये दिए हैं—विदारिकन्द, शतावरी, बिस, मृणाल (कमलनाल), शृङ्गाटक (सिंघाड़ा), कशेरुक (कसेरू), छः प्रकार के आलू (पिण्डालुक, मध्वालुक, हस्त्यालुक, काष्ठालुक, शंखालुक और रक्तालुक), इन्दीवर (नीलकमल), उत्पल (श्वेत या लालकमल)। स्थूलकन्द, सूरणकन्द, माणककन्द, वाराहकन्द आदि का भी सुश्रुत में उल्लेख है (सूत्र० ४६।२९८–३११)।

पत्ते शीघ्र गिर जाते हैं, इसीलिए संस्कृत में इनका नाम 'पत्र' है। इनका रंग हरा होता है, अतः ये पर्ण भी कहलाते हैं। पत्ते के डंठल (stalk) का नाम वृन्द है। नये पत्तों को पल्लव या किसलय कहते हैं। पल्लववाली शाखाओं को 'विस्तार' कहते हैं (विस्तार—branches with new shoots)। पत्ते अनेक प्रकार के हो सकते हैं—एकपत्र, द्विपत्र, त्रिपत्र, सप्तपर्ण आदि। आकार की दृष्टि से भी पत्तों को संज्ञाएँ हैं, जैसे अश्वकर्णक, मूषिकपर्णी, कीशपर्णी (कीश—बन्दर) आदि।

फूल से सम्बन्ध रखनेवाले शब्द अनेक भावनाओं को प्रकट करते हैं—सुमन, प्रसून आदि। कलिका, मुकुल, विकच, स्फुट आदि कली और पूरी तरह खिले फूलों की विभिन्न अवस्थाओं के नाम हैं। फूलों के गुच्छों का नाम स्तबक या गुच्छक है। पुष्प से सम्बन्ध रखनेवाली प्रचलित शब्दावली में वल्लरी, मञ्जरी, श्रीहस्तिनी (sunflower), प्रसवबन्धन (flower stalks), पुष्पदल, शतदल, सहस्रदल, केसर, किञ्जल्क, केशररेणु, पराग, शस्यमंजरी आदि संज्ञाएँ विभिन्न भावों की द्योतक हैं।

फल शब्द का अर्थ स्पष्ट है। हरे या कच्चे फलों को 'शलाटु' कहते हैं। सूखे मेवे का नाम 'वान' (dry fruits) है। फलों के नाम वृक्षों के नाम पर बहुधा

रक्खे गए—जैसे इंगुदी का फल ऐंगुद, प्लक्ष का फल प्लाक्ष, वेणु का फल वैणव, न्यग्रोध का फल नैयग्रोध।

पुरुष और वनस्पति—बृहदारण्यक उपनिषद् में वृक्ष और पुरुष के शरीर की तुलना में ये श्लोक दिए हैं जो वृक्षों के जीवन पर कुछ प्रकाश डालते हैं—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः॥१॥
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः।
तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात्॥२॥
मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम्।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता॥३॥
यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति॥ (३।९।२८)

अर्थात् वृक्ष-वनस्पति के समान ही पुरुष हैं, वृक्ष के पर्ण, वैसे ही पुरुष के लोम हैं, दोनों की एक-सी त्वचा है, त्वचा के कटने से जैसे रुधिर निकलता है, उसी प्रकार वृक्ष की त्वचा से रस निकलता है। वृक्ष में शकर (खंड), वैसे ही शरीर में मांस; जैसे हड्डी वैसी ही लकड़ियाँ, जैसी मज्जा वैसा ही गूदा होता है। जैसे काटा हुआ वृक्ष मूल से फिर उगता है, उसी प्रकार मृत्यु से मारा मनुष्य फिर किस मूल से उगता है?

'षड्दर्शनसमुच्चय' पर गुणरत्न (सन् १३५०) की जो टीका है, उसमें मनुष्य-जीवन और वनस्पति-जीवन का सादृश्य इस प्रकार दिखाया है—

तथा, यथा मनुष्यशरीरं स्तनक्षीरव्यञ्जनोदनाद्याहाराभ्यवहारादाहारकमेवं वनस्पतिशरीरमपि भूजलाद्याहाराभ्यवहारादाहारकम्। तथा, यथा मनुष्यशरीरमिष्टानिष्टाहारादि प्राप्ता वृद्धिहान्यात्मकं तथा वनस्पतिशरीरमपि।

अर्थात् जैसे मनुष्य-शरीर का पोषण मा के दूध, भोजन, ओदन आदि से होता है, इसी प्रकार वनस्पतियों का शरीर भी भूमि के जल, आहार आदि से पोषण प्राप्त करता है। एवं, जिस प्रकार उचित और अनुचित आहार से मनुष्य-शरीर की क्रमशः वृद्धि और हानि होती है, उसी प्रकार वनस्पति-शरीर की भी।

वनस्पतियों की अपेक्षा से ही पृथ्वी को उर्वरा और ऊषर कहा जाता है (सर्वशस्याढ्या होने से उर्वरा और ऊषरे न प्ररोहन्ति बीजांकुराः कथञ्चन—मत्स्यपुराण १८७।४३)। महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय १८४) में विस्तार से दिया हुआ है कि पौधे भूमि से कैसे भोजन ग्रहण करते, उसे शरीर के विभिन्न भागों में कैसे पहुँचाते और उसका पाचन कैसे करते हैं। उसमें लिखा है कि जैसे कमलनाल को मुख में लगाकर पानी पिया जा सकता है, उसी प्रकार वायु की सहायता से पौधे (जड़ों द्वारा) पानी पीते हैं—

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्द्ध्वं जलमाददेत् ।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥

भारतीय आचार्य्य कुछ ऐसे हैं जो स्थावरों (वृक्षादिकों) में जीव का अस्तित्व मानते हैं और कुछ इनमें जीव का होना नहीं स्वीकार करते हैं। महाभारत में वृक्षों के अचैतन्य न होने के सम्बन्ध में अनेक तर्क दिए हैं—गरमी से इनके पत्तों का झुलसना आदि त्वक् शक्ति बताता है; वायु, अग्नि और विद्युत् के घोष (शब्द) का इन पर प्रभाव इनकी श्रवणशक्ति का सूचक है; गन्ध, धूप द्वारा इनके रोगों का हरा जाना और फिर से पुष्पित हो उठना, इनमें घ्राणशक्ति का होना बताता है; मूलों द्वारा रस का पान करना, रसनाशक्ति का द्योतक है। काटे जाने पर और विरोहण पर सुख-दुःख भी इनमें होता है। लता वृक्ष के शरीर को लपेटती चलती हैं; अतः नेत्र की भी इनमें शक्ति है—

उष्मतो म्लायते पर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च ।
म्लायते शीर्य्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्य्यते ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥
वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्व्वतश्चैव गच्छति ।
नह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात्पश्यन्ति पादपाः ॥
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि ।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ।
पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनाञ्चापि दर्शनात् ।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥
सुखदुःखयोश्च ग्रहणात् छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥

महाभारत का यह वर्णन काव्योचित तो अवश्य है; पर शास्त्रोचित नहीं। फिर भी वनस्पतिजीवन-सम्बन्धी अध्ययन का द्योतक अवश्य है। लज्जावती (छुई मुई) के लज्जालु होने का उल्लेख गुणरत्न ने इस प्रकार दिया है—"लज्जालुप्रभृतीनां हस्तादि-संसर्गात् पत्र-संकोचादिका परिस्फुटक्रिया उपलभ्यते।" 'गुणरत्न' ने ऐसे पौधों की सूची भी दी है जो सोते और जागते हैं—"शमीप्रपुन्नाटसिद्धेसरकासुन्दकबप्पूलाग-स्त्यामलकीकडिप्रभृतीनां स्वापविबोधतः।" (जैनमत प्रकरण)

वृक्षों में रस का अभिसर्पण (circulation) होता है, इसकी ओर वैशेषिक दर्शन के सूत्र "वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकान्तिम्" (५।२।७) में संकेत है। यह अभि-सर्पण अदृष्ट के कारण होता है। पानी का वृक्षों में नीचे से ऊपर को जाना भागवत पुराण के इन शब्दों में लिखा हुआ है—"उत्स्रोतसस्तमः प्राया अन्तस्पर्शा विशेषिणः" (३।१०।२०)।

पौधों का लगाना—पौधों का लगाना इस देश की बड़ी पुरानी परम्परा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सीताध्यक्ष के कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन है—'सीताध्यक्षः कृषितन्त्रगुल्मवृक्षायुर्वेदज्ञः' (२।२४।१)। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' के वृक्षायुर्वेदाध्याय (अ० ५४) में लिखा है कि घर और बगीचों में अरिष्ट, अशोक, पुन्नाग, शिरीष और प्रियंगु का लगाना मंगलकारी है। काश्यप ने देवालय, उद्यान, गृह और उपवन में चम्पक, उदुम्बर और पारिजातक का लगाया जाना भी बताया है। अग्निपुराण में उत्तर की ओर प्लक्ष, पूर्व की ओर वट, दक्षिण की ओर आम और पश्चिम की ओर अश्वत्थ लगाने की सम्मति दी है और कण्टकद्रुम मकान के दक्षिण की ओर लगाना अच्छा बताया है। अन्य वृक्ष जो लगाने के लिए बताए हैं, ये हैं—अरिष्टाशोक, पुन्नाग, शिरीष, प्रियंगु, अशोक, कदली, जम्बु, बकुल और दाडिम।

ये वृक्ष कब लगाए जाएँ, इसकी ओर बृहत्संहिता और अग्निपुराण दोनों में निर्देश है। उत्तरा, रोहिणी, अनुराधा, चित्रा, मृगशिरा, रेवती, मूल, विशाखा, तिश्य, श्रवण, अश्विनी और हस्त नक्षत्रों में लगाए गए वृक्ष ठीक से उगते हैं, ऐसा बृहत्संहिता में लिखा है। अजातशाख और अजातलताङ्कुर वृक्ष माघ और फाल्गुन में लगाना अच्छा है। अग्रहायण और पौष में जातशाख वृक्ष लगाने चाहिए। सुस्कन्ध-वृक्षों को श्रावण और भाद्र में वर्षागम पर लगाना चाहिए। इसी प्रकार का ऋत्वनुसार उल्लेख काश्यप ने भी किया है।

डाली काटकर लगाने का नाम 'काण्डरोपण' है। बृहत्संहिता के अनुसार अशोक, कदली, कान्थाल, जम्बु, लकुच, दाडिम, द्राक्ष्य, पालिवट, मातुलंग और अतिमुक्तक, इनको डालियाँ काटकर गोबर से मढ़कर लगाना चाहिए—"एते द्रुमाः काण्डरोप्याः गोमयेन प्रलेपिताः।"

डाली काटकर लगाने (काण्डरोपण) की अपेक्षा कलम लगाना और भी अच्छा है। कलम दो प्रकार से लग सकती है—(१) एक पौधे की कटी डाली दूसरे पौधे की जड़ में आरोपण करके, अथवा (२) यह कटी डाली दूसरे पौधे के स्कन्ध (stem) में आरोपित करके (मूलोच्छेदेऽथवा स्कन्धे रोपणीयाः परं ततः)। रोपण के कार्य्य के लिए अन्य देश से लाए गए पौधों को जड़ से लेकर स्कन्ध तक घी, तिल के तेल, मधु-विशेष, विडङ्ग, दूध और गोबर से लिप्त करना चाहिए।

बृहत्संहिता में यह भी लिखा है कि ऐसी नरम जमीन, जिसमें तिल बोया गया हो और तिल के फूलने पर ही जो जोत डाली गई हो, आरोपण के कार्य्य के लिए अच्छी होती है। काश्यप ने अच्छी जमीन के सम्बन्ध में यह लिखा है—

दूर्वावीरणसंयुक्ताः सानूपा मृदुमृत्तिकाः।
तत्र वाप्यः शुभावृक्षाः सुगन्धिफलशाखिनः॥

काश्यप ने यह भी लिखा है कि वृक्ष २० हाथ से १२ हाथ तक की दूरी पर लगाने चाहिए। अधिक पास में लगे वृक्ष ठीक से नहीं फलते। अग्निपुराण में भी यही विधान है (मिश्रैर्मूलैश्च न फलं सम्यग्यच्छन्ति पीडिताः)।

खाद—खाद के लिए कोई उपयुक्त प्राचीन संस्कृत शब्द प्रतीत नहीं होता, यद्यपि यह बात सबको विदित थी कि पौधे अपना आहार भूमि से प्राप्त करते हैं। कहा जाता है कि खाद सम्बन्धी प्रथम प्रेरणा अथर्ववेद के निम्न मन्त्र से मिली[४३]—

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥अथर्व० २।८।३॥

बृहत्संहिता (अध्याय ५४) और अग्निपुराण (अध्याय २८१) में वृक्षायुर्वेद नाम से एक पूरा अध्याय है, जिसमें खाद का विस्तृत वर्णन है। वल्ली, गुल्म, लता, फल और फूलों के लिए बृहत्संहिता में खाद यह बताई है—एक आढ़क तिल, दो आढ़क बकरी या भेड़ की विष्ठा, एक प्रस्थ जौ का आटा, एक तुला गोमांस—इन्हें एक द्रोण पानी के साथ मिलाकर सात दिन रख छोड़े, और फिर इस मिश्रण को पेड़ों की जड़ों में दे। अथर्ववेद के उक्त मन्त्र में जौ के पलाल (भूसा), और तिलपिञ्जा (oilcake) के मिश्रण द्वारा पेड़ों को नीरोग करने की ओर संकेत है।

अग्निपुराण में भी "गोमांसमुदकञ्चैव सप्तरात्रं निधापयेत्" इस प्रकार के शब्दों द्वारा बृहत्संहिता से मिलता-जुलता वर्णन दिया है। यदि फल-फूलों की वृद्धि करनी हो तो घी, ठंढे दूध, तिल, बकरी और भेड़ की विष्ठा, यवचूर्ण, गोमांस—इनके मिश्रण को सात रात सड़ाकर पौधे में देना चाहिए। वराहमिहिर ने वल्लरियों के ठीक से प्रौढ़ होने के लिए पिसा धान, माष, तिल और जौ, सड़ा मांस और हरिद्रा के मिश्रण का प्रयोग बताया है। तितिण्डि (इमली), कपित्थ, ताल, आस्फोट, आमलकी, धव, वासिक, वेतुल, सूर्य्यवल्ली, श्याम और अतिमुक्तक के संबंध में उक्त मिश्रण का किस प्रकार प्रयोग किया जाय, इसका विस्तृत वर्णन दिया है। मछली के धोवन के पानी का प्रयोग भी बताया है। इन सबके प्रयोग से पौधों में पत्ते अच्छे निकलेंगे। आम के लिए अग्निपुराण में मछली का ठंढा पानी श्रेयस्कर बताया गया है—"मत्स्योदकेन शीतेन आम्राणां सेक इष्यते।" यह प्रथा आम के सम्बन्ध में बंगाल के बागों में अब भी बरती जाती है। अग्निपुराण में दूसरे स्थल पर सभी पौधों के लिए मछली का पानी अच्छा बताया गया है—"मत्स्याम्भसा तु सेकेन वृद्धिर्भवति शाखिनः"। चक्रदत्त ने अपने 'चिकित्सासंग्रह' के वात-व्याधि-चिकित्सा नामक खंड में एक ऐसे तेल के बनाने की विस्तृत विधि दी है, जिसे यदि सूखे वृक्ष की जड़ में छिड़क दें, तो उस वृक्ष में शीघ्र ही अच्छे फल-फूल निकल आयेंगे।

...... **......सूतेऽमुना भूरुहाः।**
सिक्ताः शोषमुपागताश्च फलिनः स्निग्धा भवन्ति स्थिराः ॥८६॥

आगे के एक श्लोक में भी इसी भाव का उल्लेख है—

(४३) With straw of barley tawny-brown in colour with its silvery ears, with stalk and stem of sesamum—so let the plague-destroying plant remove inherited disease.—Griffith.
(**तिलपिंज**—barren sesamum **अथवा** oilcake)

अनेनैव च तैलेन शुष्यमाना महाद्रुमाः।
सिक्ताः पुनः प्ररोहन्ति भवन्ति फलशालिनः॥

शाङ्र्गधर पद्धति के उपवन विनोद (वृक्षायुर्वेद) प्रकरण में **'कुणपजल'** नामक एक द्रवखाद (liquid compost) का वर्णन है जो पेड़ों के लिए सामान्यतः पुष्टिकारक होता है—

कुरंगकिटि मत्स्यानां मेषच्छागल खड्गिनाम्।
मांसं ग्राह्यं यथालाभं मेदो मज्जावसास्तथा॥
तान्सर्वानेकतः कृत्वा वह्नौ नीरेण पाचयेत्।
संपक्कं हि क्षिपेद्भाण्डे तत्र दुग्धं च निक्षिपेत्॥
चूर्णीकृत्य खलिर्द्देया तिलानां माक्षिकं तथा।
स्विन्नांश्च सरसान्माषांस्तत्र दद्यात् घृतं तथा॥
उष्णं जलं क्षिपेत्तत्र मात्रा नास्तीह कस्यचित्।
पक्षैकं स्थापिते भाण्डे कोष्णस्थाने मनीषिणा॥
कुणपस्तु भवेदेव तरुणां पुष्टिकारकः॥ १७१–१७४॥

अर्थात् हरिण, सूअर, मछली, भेड़, बकरी और गेंडा या भैंसा (खड्गि) का मांस, चर्बी, मज्जा और वसा को मिट्टी के बर्तन में अच्छी तरह उबालना चाहिए और फिर इसमें दूध, तिल की खली, शहद, माष और अन्य दालों का रसा, घी और गरम पानी यथेच्छ मात्रा में मिलाना चाहिए। पन्द्रह दिन तक फिर शुष्क स्थान में रख छोड़ना चाहिए। इस प्रकार कुणप तैयार हो जायगा।

वृक्षायुर्वेद के अन्तर्गत अग्निपुराण और बृहत्संहिता दोनों में वृक्षों के रोगों की चिकित्सा उसी प्रकार दी है, जैसे मनुष्य के रोगों की। शंकर मिश्र ने वैशेषिक की उपास्कर टीका में पौधों के सम्बन्ध में 'भेषजप्रयोग' का उल्लेख किया है (४।२।५)। वराहमिहिर ने पौधों के रोगों के कारणों की भी मीमांसा की है।

पौधों में लिंगभेद—हारीतसंहिता (शरीरस्थान, अ० १) में पौधों के लिंग-भेद और स्त्री-पुरुष-समागम की अनिवार्य्यता की ओर स्पष्ट संकेत है।[४४] वृक्षों के

(४४) हारीत उवाच—संयोगेन विना प्राज्ञ कथं गर्भो न जायते।
संयोगेन विना पुष्पं फलं वा न कथं भवेत्॥
वृक्षवन्न कथं स्त्रीणां फलोत्पत्तिः प्रदृश्यते।
आत्रेय उवाच—विरुद्धानाञ्च वल्लीनां स्थावराणाञ्च पुत्रक।
तत्र धातुसमं बीजं सहयोगेन वर्त्तते॥
न भिन्नदृष्टि तस्येव दृश्यते शृणु पुत्रक।
स्थावराणाञ्च सर्वेषां शिवशक्तिमयं विदुः॥
निश्चलोऽपि शिवो ज्ञेयो व्याप्तिशक्तिर्महामते।
तत्र स्त्री-पुरुष-गुणा वर्त्तन्ते समयोगतः।
आम्रपुष्पं फलं तद्वद् बीजं शुक्रमयं विदुः॥

निश्चल (static) भाग को शिव और व्याप्तिशक्ति को शक्ति या पार्वती माना गया है। चरक के 'कल्पस्थान' में वत्सक पौधे के सम्बन्ध में स्त्री-पुरुष का भेद दिया गया है—

बृहत्फलः श्वेतपुष्पः स्निग्धपत्रः पुमान् भवेत्।
श्यामा चारुणपुष्पा स्त्री फलवृन्तैस्तथाऽणुभिः ॥५।५॥

अर्थात् जिस वत्सक के फल बड़े हों, फूल सफेद हों, पत्ते चिकने हों, वह नर-वत्सक है और जिसके फूल श्याम या अरुण हों, और जिसके फल और डंठल छोटे हों, वह नारी-वत्सक है। केतकी के सम्बन्ध में सितकेतकी को नर और स्वर्णकेतकी को नारी माना गया है। राजनिघण्टु में लिखा है कि सितकेतकी 'विफला' है अर्थात् इसमें फल नहीं लगते, पर यह धूलिपुष्पिका (with pollens) है। धन्वन्तरि-निघण्टु में स्वर्णकेतकी को कनकप्रसवा और सुगन्धिनी बताया है।

बुद्धघोष ने 'दीघनिकाय' की सुमंगलविलासिनी टीका में पौधों के वंशविस्तार की पाँच विधियाँ दी हैं—

मूलबीजम् (root seeds)—हलिदिम (हलदी), सिंगिवेरम्, वचम्, अतिविषम्, कटुकरोहिणी, उशीरम् आदि।

खण्डबीजम् (cuttings)—अस्सत्थो (अश्वत्थ), कचको, निग्रोध, पिलक्खो, उदुम्बरो, कपित्थनो आदि।

फलुबीजम् (joints)—सैंटा, नरकुल आदि।

अग्गबीजम् (buddings)—समीरण, अज्जुकम्, हिरिवेरम् आदि।

बीजबीजम् (seeds)—पुब्बण्णम् (७ धान्य), अप्परण्णम् (दाल आदि) आदि।

पौधों के प्राकृतिक स्थान (ecology)—चरक के कल्पस्थान के मदनकल्प सम्बन्धी प्रथम अध्याय में लिखा है कि पौधों का औषधप्रभाव देश-काल आदि पर निर्भर है। देश तीन प्रकार के बताए हैं—त्रिविधः खलु देशः—जाङ्गलः, आनूपः, साधारणश्चेति, अर्थात् जांगल भूमि अर्थात् शुष्क भूमि, अनूप भूमि अर्थात् तर जमीन और साधारण भूमि। जांगल भूमि, पर्याकाश भूयिष्ठ (विस्तृत खुले आकाशवाली) बताई गई है और इसमें कदर (सफेद खैर), खदिर, असन, अश्वकर्ण, धव, तिनिश, शल्लकी, साल, सोमवल्क, बदरी, तिन्दुक, अश्वत्थ, वट, आमलकी आदि के घने जंगल होते हैं और शमी, ककुभ, शिंशप (सीसम) आदि भी बहुत होते हैं।

अनूप भूमि में हिन्ताल, तमाल, नारिकेल, कदली आदि के गहन वन होंगे। यहाँ शिशिर पवन की प्रधानता होगी और सरिताओं तथा सागरों के समीप ये होंगे। हंस, चक्रवाक, बलाका, नन्दीमुख, पुंडरीक, कादम्ब, मद्गु, भृंगराज, शतपत्र, कोकिल आदि पक्षियों की गुंजन इन देशों में होगी।

साधारण भूमि में जंगल और अनूप दोनों भूमियों के वृक्ष, वीरुध् और वनस्पति पाए जाएँगे। दोनों ही स्थलों के पशुपक्षी भी यहाँ होंगे। (कल्प १।८)

'सुश्रुत' और 'वराहमिहिर' ने भी इसी प्रकार का स्थलवर्गीकरण दिया है।

पौधों का नामकरण—(taxonomy)—भारतीय साहित्य में पौधों और वनस्पतियों के नाम बहुधा आदर्श शास्त्रीय पद्धति पर रक्खे गए हैं। इस सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स के ये शब्द महत्त्व के होंगे—

"I am very solicitous to give Indian plants their true Indian apellations, because I am fully persuaded that Linnaeus himself would have adopted them, had he known the learned ancient language of this country." आजकल पाश्चात्य जगत् में लिनियस की पद्धति पर पौधों का नामकरण होता है।

भारतीय नामकरण का आधार निम्नलिखित बातें प्रतीत होती हैं—

१. विशेष सम्बन्ध से—जैसे 'वटवृक्ष' को बोधिद्रुम कहना, क्योंकि बुद्ध ने यहाँ प्रकाश प्राप्त किया। इसी प्रकार सीता के शोक के निवारण करनेवाले वृक्ष का नाम 'अशोक' अथवा धतूरे का नाम 'शिवशेखर'।

२. विशेष गुणों के आधार पर—दद्रुघ्न, अर्शोघ्न, शोथघ्न, अव्यथा, कुष्ठनाशिनी, लोध्र आदि नाम (औषध गुणवाले वृक्ष)। वानीर (बेंत), दन्तधावन (कत्था या बबूल के लिए), कार्पास (कपास से), धनुद्रुम, लेखन, अग्निमन्थ आदि विभिन्न उपयोगों के कारण।

३. विशेषधर्मों या लक्षणों के कारण—फेनिल (soap berry), क्योंकि यह पानी के साथ फेन देता है, बहूपाद (ficus bengalensis) (क्योंकि इसमें बहुत-सी जड़ें हैं), सितिसार (काली लकड़ी के कारण), चर्मिन (भोजपत्र) आदि।

४. पत्तों, फूलों, जड़ों आदि की विशेषता के कारण—द्विपत्र (bauhinia), त्रिपत्र (woodapple), सप्तपर्ण, दीर्घपत्रक, मूषिकपर्णी, अश्वपर्णक आदि। इसी प्रकार वक्रपुष्प, हेमपुष्प, शतमूली, शतपर्विका, त्वक्सार, द्रुमोत्पल आदि।

५. देशभेद के आधार पर—जैसे सौवीर, चाम्पेय, मागधी, ओड्रपुष्प, वैदेही, द्राविडक आदि।

६. परिस्थिति-भेद के आधार पर—जैसे नदी सर्ज्ज, जलज, वानप्रस्थ, पंकेरुह आदि।

पौधों का वर्गीकरण—ऋग्वेद में जो ओषधिसूक्त (१०।९७) है, उसमें १५वें मंत्र में फलिनी, अफला, अपुष्पा और पुष्पिणी इस प्रकार के ओषधियों के चार भेद दिए हैं।

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पति प्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ (१०।९७।१५)

मनु ने ओषधि, वनस्पति, वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, तृण, प्रतान और वल्ली इस प्रकार के आठ भेद दिए हैं (१।४६-४८)। चरक ने (सूत्रस्थान १।३६-३७) में वनस्पति, वानस्पत्य, ओषधि और वीरुध् इस प्रकार चार भेद दिए हैं। चक्रपाणि ने चरक की टीका में वीरुध् के दो उपभेद, लता और गुल्म दिए हैं। सुश्रुत (सूत्र० १।२३) ने भी इसी

प्रकार के भेद किए हैं। वैशेषिक दर्शन के भाष्यकार 'प्रशस्तपाद' ने तृण, ओषधि, वृक्ष, लता, अवतान और वनस्पति इस प्रकार के भेद दिए हैं। किरणावली में 'उदयनाचार्य' ने इन सब भेदों के उदाहरण भी दिए हैं। भागवत पुराण (३।१०।१९) में वनस्पति, ओषधि, लता, त्वक्सार, वीरुध् और द्रुम इस प्रकार भेद दिए हैं— 'वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारावीरुधोद्रुमाः।'

चरक ने ओषधियों के दो विभाग किए हैं—(१) विरेचन (purgatives) और (२) कषाय (astringent)। सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में ६०० प्रकार के विरेचनों और ५०० कषायों का उल्लेख है।

विरेचन—मैनफल से प्राप्त विरेचन	१३३
जीमूतक से	३९
इक्ष्वाकु से	४५
धामार्गव वाले	६०
कुटज	१८
कृतवेधन वाले	६०
श्यामा त्रिवृत् के	१००
अन्य	१०
चतुरंगुल से	१२
लोध्र से	१६
महावृक्ष	२०
सप्तला और शंखिन्य	३९
दन्ती और द्रवन्ती	४८
	६००

५०० कषायों को १० वर्गों (एवं ५० उपवर्गों) में विभक्त किया गया है।

प्रथम वर्ग—जीवनीय, बृंहणीय, लेखनीय, भेदनीय, सन्धानीय और दीपनीय।

द्वितीय वर्ग—बल्य, वर्ण्य, कण्ठ्य और हृद्य।

तृतीय वर्ग—तृप्तिघ्न, अर्शोघ्न, कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न, क्रिमिघ्न और विषघ्न।

चतुर्थ वर्ग—स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, शुक्रजनन और शुक्रशोधन।

पंचम वर्ग—स्नेहोपग, स्वेदोपग, वमनोपग, विरेचनोपग, आस्थापनोपग, अनुवासनोपग और शिरोविरेचनोपग।

षष्ठ वर्ग—छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण और हिक्कानिग्रहण।

सप्तम वर्ग—पुरीषसंग्रहणीय, पुरीषविरजनीय, मूत्रसंग्रहणीय, मूत्रविरजनीय और मूत्रविरेचनीय।

अष्टम वर्ग—कासहर, श्वासहर, शोथहर, ज्वरहर और श्रमहर।

नवम वर्ग—दाहप्रशमन, शीतप्रशमन, उदर्दप्रशमन, अंगमर्दप्रशमन और शूलप्रशमन।

दशम वर्ग—शोणितास्थापन, वेदनास्थापन, संज्ञास्थापन, प्रजास्थापन और वयःस्थापन।

इन ५० उपवर्गों में लगभग ५०० ओषधियों और वनस्पतियों को विभक्त कर दिया गया है। सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में यह विस्तृत विवरण दिया हुआ है।

सुश्रुत के सूत्रस्थान के ३८वें अध्याय में वनस्पतियों और ओषधियों का विस्तृत वर्गीकरण दिया है। प्रत्येक वर्ग को गण कहा गया है। ३७ गण इस प्रकार हैं—

१. विदारिगन्धादि गण, २. आरग्वधादि गण, ३. सालसारादि गण, ४. वरुणादि गण, ५. वीरतर्वादि गण, ६. लोध्रादि गण, ७. अर्कादि गण, ८. सुरसादि गण, ९. मुष्ककादि गण, १०. पिप्पल्यादि गण, ११. एलादि गण, १२. वचादि गण एवं हरिद्रादि, १३. श्यामादि गण, १४. बृहत्यादि गण, १५. पटोलादि गण, १६. काकोल्यादि गण, १७. ऊषकादि गण, १८. सारिवादि गण, १९. अञ्जनादि गण, २०. परूषकादि गण, २१. प्रियंग्वादि गण, २२. अम्बष्ठादि गण, २३. न्यग्रोधादि गण, २४. गुडूच्यादि गण, २५. उत्पलादि गण, २६. मुस्तादि गण, २७. त्रिफलादि गण, २८. त्रिकटुकादि गण, २९. आमलक्यादि, ३०. त्रप्वादि गण, ३१. लाक्षादि गण, ३२. कनीयपंचमूलक, ३३. महापंचमूलक, ३४. दशमूल, ३५. वल्लीपंचमूल, ३६. कंटकपंचमूल और ३७. पंचतृण।

चरक ने भोजन की दृष्टि से सूत्रस्थान के २७वें अध्याय में बारह भेद किए हैं—

शूकधान्यशमीधान्यमांसशाकफलाश्रयान्।
वर्गान् हरितमद्याम्बु गोरसेक्षुविकारिकान् ॥६॥
दशद्वौ चापरौ वर्गौ कृतान्नाहारयोगिनाम्।
रसवीर्यविपाकैश्च प्रभावैश्च प्रचक्ष्महे ॥७॥

(१) शूकधान्यवर्ग में रक्तशालि (लाल चावल), महाशालि (बड़ा चावल), श्यामाक (साँवाँ), नीवार, यव, वेणुयव, गेहूँ आदि की गणना है। (२) शमीधान्य में माष (उड़द), राजमाष, कुलत्थ, मकुष्ठक (मोठ), चना, मसूर, तिल, सेम, अरहर आदि की गणना है। (३) मांसवर्ग में विविध प्रकार के प्राणियों के मांस गिनाए गए हैं। (४) शाकवर्ग में पाठा, शुषा, शटी, वास्तुक (बथुआ), उपोदिका (पोई), तण्डुलीयक (चौलाई), कौलक (करेला) आदि अनेक शाक गिनाए हैं। छत्रजाति के (mushroom) शाक भी इसी वर्ग में आते हैं। (५) फलवर्ग में मृद्वीक (मुनक्का), खर्जूर, फल्गु (अंजीर), आम्रातक, नारिकेल (नारियल), परूषक (फालसा), आरुक (आड़ू), द्राक्ष, पारावत (अमरूद), भव्य (कमरख), तूद (सहतूत), टंक (नासपाती), बिल्व, आम्र, जाम्बव (जामुन), बदर (बेर), इंगुदी, दाडिम आदि अनेक फलों का इस वर्ग में उल्लेख है। (६) हरितवर्ग में मूलक (मूली), जम्बीर, यवानी (अजवाइन), गण्डीन, भूस्तृण (रुषा घास), गृञ्जनक (गाजर), पलाण्डु (प्याज), लशुन (लहसुन) आदि का समावेश है। (७) मद्यवर्ग में मदिरा, अरिष्ट, शार्कर (sugar wine), पक्करस, गौड (गुड़ से

बनी शराब), सुरा, मध्वासव, सौवीरक, तुषोदक, अम्लकाञ्जिक आदि मादक पेयों का उल्लेख है। (८) जलवर्ग में आकाश से गिरनेवाले दिव्य जल से लेकर वापी-कूप-तड़ागादि के जलों का वर्णन है। (९) गोरसवर्ग में दुग्ध (गाय, भैंस, ऊँट, छाग, भेड़, मानुष का), दधि, तक्र (मट्ठा), नवनीत (मक्खन), घृत, पीयूष, मोरट, किलाट और तक्रपिण्ड का वर्णन है। (१०) इक्षुवर्ग में ईख, गुड़, मत्स्यण्डिका और खण्ड-शर्करा एवं गुड़शर्करा, यासशर्करा, मधुशर्करा और मधु (माक्षिक, भ्रामर, क्षौद्र और पौत्तिक चार प्रकार का शहद) का वर्णन है। (११) कृतान्न (पके भोजन) वर्ग में विलेप्य (thick gruel), मण्ड (मांड़), लाजपेया, लाजमण्ड, लाजसक्तु (लावा का सत्तू), ओदन (पका भात), यूष-रस-सूप, यवसक्तु, यवापूप (जौ के पुए), गोधूम-पैष्टिक (गेहूँ की पिट्ठी से बना), धान, पर्पट, पूप, यावचिपिटक (जौ का चिवड़ा), द्राक्ष-खर्जूर-कोल, परूषक (फालसा) से बने पानक (beverages) इत्यादि का वर्णन है। (१२) आहारयोगिवर्ग में एरण्ड, सर्षप, प्रियाल, अतसी, कुसुम्भ आदि के तेल, वसा, मज्जा एवं मसाले जैसे सोंठ, पिप्पली, मरिच, हिंगु (हींग), सैन्धव, सोवर्चल बिड, औद्भिद लवण, सर्जिकादि क्षार का वर्णन है।

भावप्रकाश ने चरक और सुश्रुत दोनों के वर्गों का समन्वय किया है।

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

सहायक ग्रन्थ

A. B. Keith—A History of Sanskrit Literature, 1941.

W. C. Dampier—A History of Science, 1948.

B. N. Seal—The Positive Sciences of the Ancient Hindus, 1915.

ऋग्वेद संहिता—सायणभाष्य—वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १९४६।

Wilson—Rigveda Samhita (Ashtekar and Co., Poona), 1927.

ऋग्वेद संहिता—स्वाध्याय मण्डल, औंध, १९४०।

यजुर्वेद संहिता—स्वाध्याय मण्डल, औंध, १९२७।

अथर्ववेद संहिता—स्वाध्याय मण्डल, औंध, १९४३।

Griffith—The White Yajurveda, 1899.

Griffith—The Hymns of the Atharva-veda, 1917.

Griffith—The Hymns of the Rigveda.

दयानन्द—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।

शतपथब्राह्मण—अच्युत ग्रन्थमाला कार्य्यालय, काशी, १९९४ वि०।

J. Eggeling—The Satapath Brahmana, 1882.

लगध—ज्योतिषम् (वेदांगज्योतिष, निर्णयसागर प्रेस, बंबई)।

महावीराचार्य्य—गणितसारसंग्रह—रंगाचार्य्यकृत अंग्रेजी अनुवादसहित, गवर्नमेंट प्रेस, मद्रास, १९१२।

आपस्तम्ब शुल्बसूत्र (कपर्दिभाष्येण करविन्द-सुन्दरराज-व्याख्याभ्यां च सहितम्), गवर्नमेंट ब्रांच प्रेस, मैसूर १९३१।

भास्कराचार्य—बीजगणितम् (दुर्गाप्रसाद द्विवेदीकृत संस्कृत-हिन्दी व्याख्या), नवल-किशोर प्रेस, लखनऊ, १९१७।

भास्कराचार्य—लीलावती (मुरलीधर शर्माकृत नवीनवासनासहित), हरिकृष्ण निबन्ध भवन, काशी, १९३८।

आर्यभट—आर्यभटीयम्—गणितपाद (गार्ग्यकेरल नीलकण्ठ सोमसुत्वविरचित भाष्योपेतम्, साम्बशिवशास्त्रिणा संशोधितं), गवर्नमेंट प्रेस, ट्रिवेण्ड्रम्, १९३०।

आर्यभट—आर्यभटीयम्—कालक्रियापाद—१९३१।

आर्यभट—आर्यभटीयम्—गीतिका पाद, शास्त्रप्रकाश कार्य्यालय, मधुरापुर, मुजफ्फरपुर १९०६।

श्रीपति—गणिततिलक (सिंह तिलक सूरि के भाष्य के सहित, H. R. Kapadia द्वारा सम्पादित), बड़ौदा ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, १९३७।

नेमिचन्द्र—त्रिलोकसार (टोडरमल्लकृत भाषावचनिकासहित, मनोहरलाल शास्त्री सम्पादित), हिन्दी जैन साहित्य-प्रसारक कार्य्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई, १९१८ ।

सम्राट् जगन्नाथ—रेखागणितम् (The Rekhaganita) (हरिलाल हर्षदराय ध्रुव-संपादित, कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी-संशोधित), गवर्नमेंट सेण्ट्रल बुकडिपो, बम्बई, १९०१ ।

B. Datta and A. N. Singh—History of Hindu Mathemetics, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर (Parts I & II), १९३५

Bakhshali Manuscript—Parts I, II and III, edited by G. R. Kaye, Calcutta, 1927, 1933.

Baudhayana Sulba Sutra edited by G. Thibaut in the Pandit (Old Series IX and X, 1874–5; New Series I, 1877).

ब्रह्मगुप्त—ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त (सुधाकर द्विवेदी, सम्पादित, काशी १९०२)—इसके १२वें और १३वें अध्याय के अंग्रेजी अनुवाद (बीजगणित और पाटीगणित सम्बन्धी) कोलब्रुक ने किए हैं ।

वराहमिहिर—बृहत्संहिता—(H. Kern द्वारा सम्पादित) कलकत्ता, १८६५; (सुधाकर द्विवेदीसंपादित काशी, १८९५) ।

कात्यायन—शुल्बसूत्र (विद्याधर शर्मा सम्पादित), काशी, १९२८ ।

मनु—मानवशुल्बसूत्र (English translation by N. K. Mazumdar, in the Journal of Dept. of Letters, कलकत्ता विश्वविद्यालय-VIII-१९२२) ।

महावीरप्रसाद श्रीवास्तव—सूर्य्यसिद्धान्त (विज्ञान भाष्य), विज्ञान परिषद्, प्रयाग ।

गोरखप्रसाद—सरलविज्ञानसागर (भारतीय ज्योतिष पर लिखा महावीरप्रसाद श्रीवास्तव का लेख), विज्ञान परिषद्, प्रयाग, १९४६ ।

चाणक्य—कौटिलीय अर्थशास्त्र (गंगाप्रसाद शास्त्री के अनुवादसहित), महाभारत कार्य्यालय, मालीवाड़ा, दिल्ली, १९९७ वि० ।

Shamsastry—कौटलीय अर्थशास्त्र का अंग्रेजी अनुवाद ।

गणपति शास्त्री—अर्थशास्त्रम् (Arthashastra of Kautilya)—Trivandrum Sanskrit Series, गवर्नमेंट प्रेस, ट्रिवेण्ड्रम ।

P. C. Ray—A History of Hindu Chemistry, Vol I (Calcutta), 1902.

P. C. Ray—A History of Hindu Chemistry, Vol. II (Calcutta), 1909.

G. C. A. M. Birdwood—The Industrial Arts of India (see the second part—the Master Handicrafts of India), Chapman and Hall, 1880.

चरक—चरकसंहिता (६ जिल्दें), गुलाबकुँवरबा आयुर्वेदिक सोसायटी द्वारा सम्पादित और प्रकाशित, जामनगर, १९४९ ।

सुश्रुत—सुश्रुतसंहिता (अत्रिदेव गुप्त के अनुवादसहित), मोतीलाल बनारसीदास, बनारस ।

A. F. R. Hoernle—Studies in the Medicine of Ancient India (Part I—Osteology)—Clarendan Press, Oxford, 1907.

Girindra Nath Mukhopadhyaya—History of Indian Medicine, Vol. I, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२३ ।

G. P. Majumdar—Vanaspati, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२७ ।

G. P. Majumdar—Upavana Vinoda, Indian Research Institute, 55, Upper Chitpore Road, Calcutta, १९३५ (शार्ङ्गधरपद्धति का एक अंश) ।

वेंकटरमणार्य—सनातन विज्ञान समुदयः, बंगलोर, १९४६ ।